ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला – षोडश पुष्प

# वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
( केन्द्रीयविश्वविद्यालयः )
नवदेहली-110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–षोडश पुष्प

# वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका
(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केयर लिस्ट में सम्मिलित)

प्रधान सम्पादक
**प्रो. मुरलीमनोहर पाठक**
कुलपति

सम्पादक
**प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी**
आचार्य एवं अध्यक्ष

वास्तुशास्त्र विभाग
**श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय**
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
नइ दिल्ली–110016

प्रकाशक-

**वास्तुशास्त्र विभाग**

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

**ISSN :- 0976-4321**

© प्रकाशक

संस्करण - 2023

मुद्रण वर्ष - 2024

मूल्य- ₹ 200/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है। शोधलेखों में लेखकों के स्वयं के विचार हैं। शोधलेख में किसी भी प्रकार का विवाद होने पर शोधलेखक स्वयं उत्तरदायी होगा।

मुद्रकः

**गणेश प्रिंटिग प्रेस**

दिल्ली-110016

फोन :9811663391/93

# पुरोवाक्

वेद विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध ज्ञानराशि है।भारतीय ज्ञान परम्परा में वेदों को ही समस्त विद्याओं का मूल माना जाता है । वेदों में अध्यात्म के साथ-साथ विविध भौतिक विद्याओं के बीज भी निहित हैं । कालान्तर में बीज रूप में निहित विद्या विविध शास्त्रों के रूप में दृष्टिगोचर हुई । ये सभी शास्त्र और विद्याएं वैदिक पृष्ठभूमि पर ही पुष्पित और पल्लिवित हुई हैं ।जिनमें से आयुर्वेद- ज्योतिष- अर्थ- विमान- वास्तु- वनस्पति- खगोल- धर्म- मीमांसा- राजनीति- चित्र- साङ्ख्य-सङ्गीत- काव्य- तर्क- नाट्य- काम आदि शास्त्र तथा मापन-शब्द-वृक्षायुर्वेद- योग- आभूषण- सैन्य- मुद्राविनिमय-भाषाविज्ञान आदि प्रमुख वैज्ञानिक विद्याएं हैं, इन सभी का आधार वैदिक पृष्ठभूमि ही है। भारतीय ज्ञान परम्परा के इन समस्त शास्त्रों में से वास्तुशास्त्र का एक अन्यतम स्थान है क्योंकि इसका सम्बन्ध निवास से जुड़ा है, जो किसी भी प्राणी की मूलभूत आवश्यकता है । मानव रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए आरम्भ से ही संघर्षवान् रहा है। इन तीनों की पूर्ति प्रकृति पर ही आश्रित है । शनैः शनैः विकास क्रम में मानव ने विस्तृत चिन्तन के पश्चात् निवास हेतु भवन निर्माण की एक अनुशासित प्रविधि का निर्माण किया । यहीं भवन-निर्माण के सिद्धान्त वास्तुशास्त्र के रूप में प्रख्यापित हुए । यह शास्त्र मूल रूप में अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद के रूप में उद्भूत हुआ।[1]

ज्योतिष के संहितास्कन्ध तथा कल्प के शुल्वसूत्रों से भी वास्तुशास्त्र का गहरा सम्बन्ध है।ज्योतिष तथा कल्प वेदाङ्ग के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र का समायोजन दिखाई देता है। वस्तुतः शुल्ब शब्द का अर्थ ही है रज्जु- जिसका प्रयोग यज्ञवेदी के मापनादि में किया जाता था । इन यज्ञवेदियों के निर्माण में वास्तुशास्त्र के जिन मापनादि सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया,वही भव्य मन्दिरों के निर्माण में भी सहायक हुए। वास्तुशास्त्र भारतीय ज्ञान परम्परा में विकसित एक ऐसा शास्त्र है , जिसने स्थापत्य, शिल्प एवं चित्र शास्त्र के सिद्धान्तों को विकसित कर सम्पूर्ण मानव मात्र को उपकृत किया है।

वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्यों से आरम्भ हुई इस आचार्य परम्परा को कालान्तर में अनेक आचार्यों ने अपनी साधना और श्रम से ओर सुदृढ किया। वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्यों की संख्या के विषय में मतैक्यता नहीं दिखाई देती। मत्स्यपुराण में आचार्यों की संख्या 18 कही गई है।[2] जबकि अग्निपुराण[3] में २५, बृहत्संहिता[4] में 07, मानसार[5] में 32, हिन्दू साइन्स ऑफ आर्किटेक्चर[6] में 11 तथा विश्वकर्मवास्तुशास्त्र[7] में 15 वास्तुविदों (आचार्यों)

1. ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः । ---------- क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥ श्रीमद्भागवत.- 03/12/38-39
2. भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च ---------- तथा शुक्र बृहस्पतिः॥ मत्स्यपुराण,252/-4
3. अग्निपुराण, 39/2-5
4. बृहत्संहिता , अध्याय 53 और 57
5. मानसार, 68/ 5-9
6. वास्तुशास्त्र, भाग 1, हिन्दू साइन्स ऑफ आर्किटेक्चर, पृष्ठ 64
7. विश्वकर्मावास्तुशास्त्र, 18/ 1-3

का उल्लेख प्राप्त होता है । वास्तुशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों में दस ऐसे प्रमुख आचार्य है, जिनके द्वारा विरचित ग्रन्थ वास्तुशास्त्र के सर्वमान्य ग्रन्थ माने जाते है। तद्यथा[1] -अगस्त्य(अगस्त्य सकलाधिकार, अगस्त्य प्रोक्त सर्वाधिकार), कश्यप (काश्यपशिल्प), नारद (नारदसंहिता,नारदशिल्प),नग्नजित् (चित्रलक्षण), पिशुन(वास्तुविद्या), पराशर (वास्तुशास्त्र), विश्वकर्मा (विश्वकर्मशिल्प, विश्वकर्मपद्धति, विश्वकर्मप्रकाश, विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, विश्वकर्मपुराण, विश्वकर्मसंहिता), सनत्कुमार (सनत्कुमार-वास्तु), सिद्धार्थ (सिद्धार्थपृच्छा, सिद्धार्थसंहिता), मय (मयमतम्, मयशिल्पशतिका, मयशिल्पशास्त्र-विधान, मयवास्तु, मयशिल्प) आदि ।

वास्तुशास्त्र के ये विविध आचार्य न केवल वास्तुशास्त्र में अपितु अन्य शास्त्रों के भी निष्णात विद्वान थे। इनके अनेक अन्य शास्त्रीय ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं । इनमें से अधिकांश ग्रन्थ पूर्वमध्यकालीन अथवा इससे पूर्ववर्ती माने जाते हैं।[2] आज जब राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में भारतीय ज्ञान परम्परा तथा उसमें निहित विविध शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनके उपयोग पर अत्यधिक बल दिया गया है । सम्प्रति आवश्यक है कि वास्तुशास्त्र जैसे लोकोपयोगी शास्त्र के विविध पक्षों पर अनुसंधान कर समाज के समक्ष विषयों को उपस्थापित किया जाए। इससे इस शास्त्र में निहित निर्माण से सम्बन्धित विविध सिद्धान्त न केवल समाज के समक्ष आ सकेंगे अपितु प्रयोगात्मक दृष्टि से भी यह शास्त्र वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भव्यता और दिव्यता पाकर उपकारक सिद्ध हो सकेगा। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के वास्तुशास्त्र विभाग द्वारा वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का अध्ययन- अध्यापन अत्यन्त मनोयोग से किया जा रहा है। इसी क्रम में यह विभाग शिक्षण एवं उच्च स्तरीय शोध सम्बन्धी गतिविधियों को करने में निरन्तर संलग्न है। इसी सातत्य में विभाग द्वारा वास्तुशास्त्रविमर्श नामक शोधपत्रिका का प्रकाशन विगत कई वर्षों से होता आ रहा है, जिनमें विद्वानों के गवेषणात्मक शोध आलेखों का प्रकाशन किया जाता है । एतदर्थ वास्तुशास्त्र के विभागाध्यक्ष प्रो.देवीप्रसाद त्रिपाठी एवं इस कार्य में लगे सभी आचार्यों को साधुवाद प्रदान करता हूं। सम्प्रति वास्तुशास्त्र विमर्श के इस षोडश पुष्प को विद्वज्जनों के करकमलों में समर्पित करते हुए मैं अत्यन्त हर्षित हो रहा हूँ । शमिति।

मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, वि.सं. 2080
दिनांक 26 दिसम्बर 2023 ई.

**प्रो. मुरली मनोहर पाठक**
कुलपति

1. Contribution to a bibliography of Indian art and aesthetics ( haridas ), page 54-73 , उद्धृत (रूपमण्डन भूमिका पृष्ठ ३-४ से )
2. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृ. ६०४

# सम्पादकीय

**माता भूमि पुत्रोऽहं प्रथिव्याः** ( अथर्ववेद भूमिसूक्त 12) भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। भूमि के प्रादुर्भाव के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन कहते हैं कि **तमः प्रधान विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचेतन्यादाकाश आकाशद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते** (वेदान्त सार 2.57) अर्थात् तम प्रधान विक्षेप शक्ति मद ज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई और प्रलयावस्था में पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में लय होते जाएँगे । पृथिवी के उद्भव के पश्चात् पृथिवी पर रहने के लिए पौराणिक अवधारणा के अनुसार राजा पृथु ने सर्व प्रथम पृथिवी को समतल करके सुव्यवस्थित आवास की परिकल्पना सृष्टि कर्ता ब्रह्मा के समक्ष प्रस्तुत की। इस प्रस्तुतिकरण में राजा पृथु ने कहा कि हे भगवन, आपके कथनानुसार मैंने पृथिवी को ग्राम नगर आदि के निर्माण हेतु समतल कर दिया है अब आप मुझे आगे कार्य करने के लिए आदेश करें।

इसके अनन्तर ब्रह्मा जी ने निर्माणादि कार्य को पूर्ण करने की दृष्टि से अपने पूर्व मुख विश्वभू से विश्वकर्मा की, दक्षिणमुख विश्वविद् से मय की, पश्चिम मुख विश्वस्रष्टा से मनु की तथा उत्तर मुख विश्वस्थ से त्वष्टा को उपस्थापित किया । इसके पश्चात् ब्रह्मा जी ने अपने मानस पुत्रों को आदेश दिया कि आप लोग पृथ्वी पर जाकर राजा पृथु की अभिलाषा के अनुसार नगर, ग्राम एवं पुरों की पृथक पृथक रचना करें । विश्वकर्मा ने जगत्स्रष्टा ब्राह्मा को कहां कि मैं पृथ्वी पर जाकर अपनी बुद्धि से सुर, असुर, उरम एवं नागों के साथ ही पृथु और मनुष्यों के निवास के लिए सुन्दर पुर, नगर एवं ग्रामादि का निर्माण करूँगा ।

इस उद्देश्य की पूर्ति में विश्वकर्मा ने स्थपति की, मय ने सूत्रग्राही की, मनु ने तक्षक की तथा त्वष्टा ने बार्द्धकी को उत्पन्न किया अर्थात् इन लोगों ने अपने एक एक सहायक स्थपति, सुत्रग्राही, तक्षक एवं बार्धकी को क्रमशः नियुक्त किया जिससे कार्य सुगम हो और सभी प्रमुख कार्यों के विशेषज्ञ मिल जांय । जैसे पाषाण विशेषज्ञ, काष्ठविशेषज्ञ, धातु विशेषज्ञ, निर्माण विशेषज्ञ आदि। इन सभी के संयुक्त प्रयास से ही कोई निर्माण कार्य पूर्ण हो सकता है।

सृष्टि पञ्चभूतात्मक है ठीक इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) का ही सम्मिश्रण है। पृथ्वी पर किया जाने वाला कोई भी कार्य पाँच तत्त्वों पर ही आधारित होता है, पृथ्वी पर सूर्य की रश्मियों का प्रभाव, पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र, हवाओं की दिशा व उसका प्रभाव आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनका वास्तु शास्त्र की दृष्टि से विचार आवश्यक है। प्रातःकालीन सूर्य रश्मियाँ स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती हैं । चुम्बकीय क्षेत्र का परिज्ञान होने पर ही हमारे आचार्यों ने उत्तरदिशा की ओर सिर करके सोने के लिए निषिद्ध कहा क्योंकि चुम्बकीय क्षेत्र हमारे शरीर को सर्वाधिक प्रभावित करता है। वस्तुतः वास्तुपुरुष पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति और विभिन्न बलधाराओं का उठता स्वरूप है जिसे सन्तुलित करने में ग्रहों, नक्षत्रों, वायु, जल, ताप आदि प्राकृतिक शक्तियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई परन्तु यह चेतना का स्वरूप है जो बुद्धि से नहीं भावना से देखा

जाता है। पृथ्वी सतह की चेतना को हमारे पूर्वजों ने चैतन्य वास्तु पुरुष के रूप में देखा, समझा, पूजा और तदनुकूल भवन, नगर आदि रचनायें की ।

भौतिकविद् इस विश्व को अविलगित ऊर्जा प्रतिकृतियों का गतिशील जाल (Dynamic web of inseparable energy patterns) मानते हैं । इस समग्र पृथ्वी पर वास्तुपुरुष का एक रूप और प्रत्येक व्यष्टि रूप वास्तु में वास्तु पुरुष का एक अन्य रूप, इस प्रकार के बृहद् से बृहद् एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वास्तु रूपों के वर्णन से यह द्योतित होता है कि जैसे हमारा सम्पूर्ण शरीर एक सजीव इकाई है परन्तु उसे बनाने वाली सूक्ष्म कोशिकायें भी अपने में एक चैतन्य इकाईयां हैं। उनकी प्रतिक्रियायें समग्र शरीर की प्रतिक्रिया होती है। यही एकात्मता का भाव वास्तु में भी प्रधान है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आदि सभी के ऊर्जा प्रभाव के कारण वास्तुरचना अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम देती है इसीलिए वास्तुशास्त्र ने जीवन में इन सभी बलधाराओं और ऊर्जा प्रभावों को देवताओं के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों से देखा, समझा और पूजा है ।

भारतीय चिन्तन धारा में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के अंतर्गत जहाँ ग्रह, नक्षत्र, तारे, आकाशगंगाएँ, उल्काएँ, धूमकेतु, देव, दैत्य, मानव, आदि समस्त जीव एवं भूर्भुवादि चतुर्दश लोक समन्वित भाव से होते हैं इसे ब्रह्माण्ड या विकल्प से सृष्टि कहा गया है। ब्रह्माण्ड (सृष्टि) का उद्भव वास्तु की आदि घटना है जिसे शिव एवं अन्धकासुर के संग्राम के रूप में पुराणों में वर्णन मिलता है । आदिकाल से ही मनुष्यों के पास विश्वोत्पत्ति के रहस्य को जानने की मुख्यतः दो प्रविधियाँ उपलब्ध थीं। जिसमें पहली अध्यात्म विज्ञान तथा दूसरी भौतिक विज्ञान । आध्यात्मिक विज्ञान में योग एवं दिव्य दृष्टि के द्वारा समस्त ज्ञान प्राप्त होता था। समग्र ज्ञान के लिए आध्यात्मिक विधि सर्वाधिक उपयुक्त एवं समीचीन है क्योंकि आधि-भौतिकविधि (फिजिकल टेक्नोलाजी) के द्वारा तो केवल पंचज्ञानेन्द्रिय गम्य ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। इसके इतर विषयों का ज्ञान इस प्रविधि के द्वारा सम्भव नहीं है। यह ध्रुव सत्य है क्योंकि इस प्रविधि का अधिकतर ज्ञान परीक्षण शालाओं में मिलता है जहाँ परीक्षणशालाओं (प्रयोगशालाओं) की सीमा समाप्त हो जाती है वहीं से प्रारम्भ होती है अध्यात्म विज्ञान की सीमा । इसलिए यह अध्यात्मक विज्ञान सामान्य के लिए अगम्य हो जाता है। अध्यात्म विज्ञान ने **"यत पिण्डे तद ब्रह्माण्डे"** के सिद्धान्त के द्वारा ही इस जगत के रहस्य को समझा और समझाने का भी प्रयत्न किया।

वैदिक साहित्य की भाषा परोक्ष, प्रतीकात्मक एवं संकेतात्मक हैं। अलंकारों एवं रूपकों से परिपूर्ण है। सामान्य भाव में इन मन्त्रों के अर्थ एवं भाव समझ में नहीं आ पाते हैं क्योंकि वेदों के अपने प्रतीक (सिम्बल) हैं। वेद की परिकल्पनाओं के प्रतिपादन में उन प्रतीकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वेद के भाव एवं अर्थ को समझने के लिए उसके प्रतीकों (सिम्बलों) को समझना आवश्यक है अन्यथा हम वेद-वर्णित परिकल्पना को नहीं समझ सकते हैं।

वेदों में निहित ज्ञान ही किसी न किसी रूप में आज भी समाज में परम्पराओं के रूप में दिखाई देता है। वेदों से ही शास्त्रों का उदय हुआ, वास्तुशास्त्र भी इन्हीं में से एक है जो कि अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद के रूप में परिगणित है । वास्तोष्पति को हमारे वैदिक ऋषियों ने वास्तुपुरुष को घर की चेतना तथा आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिरूप मानकर उसकी उपासना पर जोर दिया है । वास्तुशास्त्र प्राकृतिक प्रभावों का अध्ययन कर जीवन को

सुविधा पूर्ण. सुखमय एवं सुरक्षित बना कर समाज कल्याण की उदात्त भावना को प्रदर्शित करता है । वास्तुशास्त्र में वर्णित वास्तुपुरुष व 45 देवता विविध प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतीक हैं जो कि वास्तु को एक चैतन्य स्वरूप प्रदान करते हैं ।

वास्तुशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थों के अनुसार सामुद्रिक शास्त्र, गणित शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, छन्द शास्त्र, भूमिगत जल ज्ञान हेतु सिरा ज्ञान, शिल्पशास्त्र, यन्त्रकर्म तथा सभी प्रकार की विधियों का समावेश वास्तुशास्त्र में हो जाता है, जिनका ज्ञान स्थपति को होना चाहिए । यथा –

**सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च ।**
**सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा ॥**
**एतान्यङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान् ॥**

समरांगणसूत्रधार, 44/03-04,

भारतीय स्थापत्य विशुद्ध रूप में आर्यों एवं अनार्यों दोनों की देन है। आर्य अलंकृति विहीन सीधी सादी रचनाओं के तथा अनार्य अलंकृति से ओत प्रोत विशालकाय लक्षण एवं चित्रणादि से सुशोभित कला के प्रेमी थे। वस्तुतः भारतीय चिन्तन परम्परा की दृष्टि से स्थापत्य का मात्र भूमण्डल ही नही अपितु सम्पूर्ण विश्व का निर्माण ही एक प्रतिपाद्य विषय है। इस विश्व की कोई भी निर्मिति एक वास्तु है। वास्तु का सम्बन्ध वस्तु एवं वस्तुओं से है। वस्तुओं को वास्तु में परिणत करने के लिए ही स्थपति (विश्वकर्मा) की आवश्यकता हुई ।

राजा पृथु का गोदोहन वृतान्त सर्वविदित है। गो यहाँ पृथिवी की संज्ञा है। दोहन से राजा पृथु ने भूमि को ग्राम, पुर, नगर निवेश के उचित बनाया। यह मात्र कथा नहीं है अपितु प्राचीन भूगर्भ विज्ञान (Geology) एवं भूगोल (Geography) का वास्तविक वृत्तान्त है। पृथिवी गोल है आदि में यह उष्ण थी । यथा **आग्नेयी पृथिवी, आग्नेयोऽयं लोकः, अग्निगर्भा पृथिवी** है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इसे संवर्तक एवं आवर्तक आदि मेघों ने घनघोर वर्षा कर शीतल किया और तभी पृथ्वी पर वनस्पतियों, जन्तुओं, और मानवों का क्रमशः विकास हुआ।

यह मात्र आधुनिक ज्ञान की उपज नहीं है। अपितु हमारे प्राचीन ऋषि एवं आचार्य इस प्रकार के तथ्यों से पूर्ण परिचित थे। ऋग्वेद में सूर्य की स्तुति में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वह सब सूर्य रश्मियों की ही व्याख्या है। आज के परिप्रेक्ष में ये कहें कि सौर ऊर्जा का सर्वाधिक उपयोग करने की बात इससे पूर्व हमारे प्राचीन आचार्य स्वीकार कर चुके हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में सूर्य को **सप्तहरित, सप्ताश्व व सप्तरश्मि** कहा गया है । आज के विज्ञान ने भी सूर्य की सात रश्मियों की ही सत्ता स्वीकार की है। हरित शब्द 'हृ' धातु से निष्पन्न होता है। यास्क ने अपने निघण्टु में हरित का अर्थ आदान प्रदान करने वाला कहा है। सूर्य रश्मियाँ जैसे आदान करती हैं वैसे ही प्रदान भी करती हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य, वरुणादि तथा आगे चलकर वास्तुपद विन्यास में जिन देवों की प्रतिष्ठा हुई वे वस्तुतः देदीप्यमान् सूर्य देव की रश्मियों के ही नाम हैं और इनके वर्ण, गुणधर्म की दिग् देश काल के अनुरूप व्याख्या है।

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में सृष्टि, भूगोल एवं सौरमण्डल का वर्णन विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है । कुछ लोग

इसे नहीं समझ पाते हैं कि वास्तु के ग्रन्थों में इसे क्यों दिया गया? तथा इसकी क्या संगति है? भारतीय वास्तु का क्षेत्र बहुत व्यापक है। भारतीय मनीषियों ने वास्तु के आरम्भ में की जाने वाली वास्तुशास्त्र के पिण्डसाधन, आयादि विचार, पञ्चाङ्ग विचार एवं लग्न विचारादि प्रक्रिया को अनिवार्य माना, क्या ये विचारणीय विषय नहीं हैं ? अष्टाङ्ग वास्तु में ज्योतिष का मुख्य स्थान है। भवन निर्माण केवल एकाङ्गी कला एवं कृत्य नहीं है अपितु समन्वित एवं सर्वव्यापक प्रक्रिया है। इस उद्देश्य से उत्तरोत्तर वास्तुशास्त्र पर अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इन सभी ग्रन्थों में हर तरह के वास्तु की चर्चा ही नहीं अपितु वास्तु के उद्देश्यों एवं आवश्यकता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया।

अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वास्तुशास्त्र की नित्य उपयोगिता को ध्यान रखते हुए वास्तुशास्त्र विभाग इस शास्त्र के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों पर पठन पाठन एवं शोध में सतत क्रियाशील है। इसी दृष्टिकोण से विगत कई वर्षों से वास्तुशास्त्र विभाग विद्वान अध्येताओं व शोधच्छात्रों के शोधपूर्ण निबन्धों से सुसज्जित वास्तुशास्त्रविमर्श नामक पत्रिका का प्रकाशन करता आ रहा है । इस वास्तुशास्त्रविमर्श के षोडश पुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं संस्कृति समुपासक यशस्वी कुलपति प्रो.मुरलीमनोहर पाठक जी के प्रति सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके संरक्षकत्व में यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित हो रहा है । इसी क्रम में शोध एवं प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिनके सहयोग व परामर्श से वास्तुशास्त्रविमर्श का यह षोडश पुष्प प्रकाशित हो सका। टंकण एवं मुद्रणकार्य में संलग्न सभी सहयोगी सुहृज्जनों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ । आशा है कि अवश्य ही यह षोडश पुष्प अध्येताओं, जिज्ञासुओं एवं शोधछात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा । शमिति ।

**प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी**
अध्यक्ष,
वास्तुशास्त्र विभाग

# शोध एवं प्रकाशन समिति

| | | |
|---|---|---|
| 1. | प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष | अध्यक्ष |
| 2. | प्रो. अशोक थपलियाल | सदस्य |
| 3. | डॉ. देशबन्धु | सदस्य |
| 4. | डॉ. प्रवेश व्यास | सदस्य |
| 5. | डॉ. योगेन्द्र कुमार शर्मा | सदस्य |
| 6. | डॉ. दीपक वशिष्ठ | सदस्य |
| 7. | डॉ. नवीन पाण्डेय | सदस्य |

# शोध लेख मूल्यांकन समिति

1. **प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी** — **अध्यक्ष**
   पीठप्रमुख-वेदवेदाङ्ग एवं वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष
   श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि, नई दिल्ली
2. **डॉ. दिनेश प्रसाद सकलानी** — **सदस्य**
   निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली
3. **डॉ. गोपाल प्रसाद शर्मा** — **सदस्य**
   आचार्य, वेदविभाग, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि, नई दिल्ली
4. **डॉ. विष्णुपद महापात्रा** — **सदस्य**
   आचार्य, न्यायदर्शन विभाग, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि नई दिल्ली
5. **प्रो. अशोक थपलियाल** — **सदस्य**
   आचार्य, वास्तुशास्त्रविभाग, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि, नई दिल्ली
6. **डॉ. देशबन्धु** — **सदस्य**
   सहायकाचार्य, वास्तुशास्त्र विभाग, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि, नई दिल्ली
7. **डॉ. प्रवेश व्यास** — **सदस्य**
   सहायकाचार्य, वास्तुशास्त्र विभाग, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि, नई दिल्ली

# विषयानुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | वास्तुशास्त्रीयग्रन्थानुसारं वृक्षविषयकसमीक्षणम् | **डॉ. छबिलालन्यौपानेः**<br>सहायक-प्राचार्यः (दर्शनम्)<br>नागार्जुन-उमेश-संस्कृतमहाविद्यालयः<br>(का.सिं.द.सं.विश्वविद्यालयस्याङ्गीभूतः)<br>तरौनीग्रामः, दरभङ्गाजनपदः<br>बिहारराज्यम् – 847233 | 01 |
| 2. | वास्तुविद्या-मनुष्यालयचन्द्रिकादृशा द्वारविन्यासक्रमे दोषाः निवारणोपायाश्च | **डॉ. गणेशकृष्णभट्टः**<br>सहायकाचार्यः (अतिथिः)<br>ज्योतिषविभागः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,<br>गुरुवयूर परिसरः, त्रिशूरः, केरल प्रदेशः | 13 |
| 3. | ग्रामस्य मुख्यद्वारम् | **डॉ. अश्वनीकुमारः**<br>सहायकाचार्यः (अतिथिः)<br>राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः (आ.प्र.) | 17 |
| 4. | लङ्कादेशस्य स्थानपरिकल्पनायां भेदः वर्तमानस्थितिश्च | **अंशुलकुमारदुबे**<br>प्राध्यापकः ज्योतिषशास्त्रम्<br>रा.वरि. उपा.सं.विद्यालय,<br>बौंली (सवाईमाधोपुरम्), राजस्थानम् | 21 |
| 5. | वासगृहे आन्तरिकप्रकोष्ठविन्याससम्बद्धाः वास्तुदोषाः, तेषां निवारणोपायाश्च | **गिरीशभट्टःबि,** शोधच्छात्रः,<br>**निदेशकः - प्रो. ए. श्रीपादभट्टः,**<br>आचार्यः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः,<br>तिरुपतिः, आ.प्र. | 26 |
| 6. | भारतीयमन्दिराणां पर्यावरणेन सह सम्बन्धः | **मेघा-शर्मा,** शोधच्छात्रा,<br>**निदेशक - प्रो. बिहारीलालशर्मा**<br>ज्योतिष विभागः,<br>श्री ला.ब.शा.रा.स.वि. वि., नई दिल्ली | 32 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 7. | श्रीमद्रामायणदिशा नगरवास्तुविचारः | **ए. श्रीनिवासशर्मा,** शोधच्छात्रः,<br>**निर्देशकः- प्रो. ए.श्रीपादभट्टः,**<br>ज्यौतिष-वास्तुविभागः<br>राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः | 39 |
| 8. | वाल्मीकिरामायणानुसारं गृहकक्षाणां समीक्षा | **श्रीमती ज्योतिशर्मा,** शोधच्छात्रा,<br>**निदेशकः - प्रो. अशोकथपलियालः,**<br>आचार्यः, वास्तुशास्त्रविभागः<br>श्री ला.ब.शा.रा.स.वि. वि., नवदेहली | 45 |
| 9. | आमेरदुर्गस्थशिलादेवीमन्दिरस्य स्थापत्यकला | **प्रियाकौशिकः,** शोधच्छात्रा<br>**निदेशक- डॉ. योगेन्द्रकुमारशर्मा,**<br>सहायकाचार्यः वास्तुशास्त्रविभागः<br>श्री ला.बा.शा.रा.सं.वि.वि., नई दिल्ली | 50 |
| 10. | द्वार-मर्मस्थानयोः सम्बद्धाः वास्तुदोषाः,<br>तेषां निवारणोपायाश्च | **अनिलकुमारदेसायिः,** शोधच्छात्रः,<br>**निर्देशकः- डॉ. कृष्णकुमारभार्गवः,**<br>ज्योतिष-वास्तुविभागः,<br>राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः | 63 |
| 11. | राहुमुखविचार का दार्शनिक एवं<br>वैज्ञानिक विमर्श | **प्रो. वासुदेव शर्मा**<br>पूर्व निदेशक,<br>केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,<br>श्री रणवीर परिसर, जम्मू | 70 |
| 12. | वास्तु और पर्यावरण | **प्रो. अमित कुमार शुक्ल**<br>ज्योतिष विभागाध्यक्ष,<br>सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,<br>वाराणसी | 73 |
| 13. | अन्तरिक्ष नाड़ी का अंशानुक्रम विभाग | **विद्यावाचस्पति प्रो. सुन्दरनारायणझा**<br>आचार्य वेदविभाग,<br>श्री ला.ब.शा.रा.सं.विश्वविद्यालय,<br>नवदेहली-16 | 81 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 14. | मन्दिर निर्माण के आधारभूत सिद्धान्त | **डॉ. सुभाष पाण्डेय**<br>सहाचार्य, ज्योतिष विभाग,<br>काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी | 100 |
| 15. | श्रीमहाकालज्योतिर्लिङ्ग का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन | **डॉ. देशबन्धु**<br>सहायकाचार्य एवं निदेशक,<br>**डॉ. मन्जुला मौर्या-** शोध सहायिका<br>**डॉ. जगदीश कुमार-** शोध सहायक<br>बृहच्छोध परियोजना,<br>वास्तुशास्त्र विभाग,<br>श्री ला.ब.शा.रा.सं.वि.वि., नई दिल्ली | 106 |
| 16. | महाभारतीय वास्तुसन्दर्भविमर्श | **डॉ. शुभम् शर्मा**<br>ज्योतिर्विज्ञान विभाग<br>महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं<br>वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन | 125 |
| 17. | गृहवास्तु के शास्त्रीय पक्ष | **डॉ. ब्रह्मानन्द मिश्रा**<br>सहायकाचार्य,<br>समन्वयक ज्योतिषशास्त्र विद्याशाखा<br>केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,<br>श्रीरघुनाथ कीर्ति परिसर,<br>देवप्रयाग, उत्तराखण्ड | 133 |
| 18. | वेध विचार | **डॉ. निगम पाण्डेय**<br>सहायक प्राचार्य, ज्योतिष<br>धर्म समाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर | 142 |
| 19. | वास्तुशास्त्रीय नगरयोजना में अन्तरापण | **नवीन कुमार झा**<br>उप-प्राध्यापक<br>नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय वाल्मीकि विद्यापीठ<br>प्रदर्शनीमार्ग काठमान्डौं नेपाल | 150 |
| 20. | मयमत के परिप्रेक्ष्य में भूमि-चयन एवं परीक्षण | **डॉ. रीता गुप्ता**<br>सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग<br>इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली | 157 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 21. | वैदिक साहित्य में वास्तु विमर्श | **डॉ. कान्ता धनखड़**<br>सहायक- आचार्या, संस्कृत विभाग,<br>मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली<br>**डॉ. उमाशंकर**<br>सह-आचार्य, संस्कृत-विभाग,<br>दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली | 162 |
| 22. | भास के नाटकों में वास्तु तत्त्व | **डॉ. राजश्री दाश**<br>सहायक- आचार्या, साहित्य विभाग<br>श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, श्रीविहार, पुरी | 166 |
| 23. | गृहनिर्माण हेतु खात परीक्षण | **डॉ. रतनकुमार पाण्डेय**<br>सहायकाचार्य, ज्योतिष विभाग<br>के.सं.वि.वि, श्रीरणवीरपरिसर,जम्मू | 175 |
| 24. | Harmony of Modern Science and Ancient Wisdom: Dr. Tony Nader's Contributions to Indian Traditional Knowledge | **Dr. Rajesh Naithani**<br>Himalayiya University, Dehradun<br>**Prof. Devi Prasad Tripathi**<br>SLBSN Sanskrit University, New Delhi | 181 |

# वास्तुशास्त्रीयग्रन्थानुसारं वृक्षविषयकसमीक्षणम्

– डॉ. छबिलालन्यौपानेः

निवासाय उपयुक्तस्थानस्य चयने सहयोगो वास्तुशास्त्रस्योद्देश्यमस्ति। 'वास्तु'शब्दोऽयं निवासार्थकाद् 'वस्'धातोः 'तुण्'प्रत्यये कृते सति निष्पन्नो भवति। अथवा यस्मिन् शास्त्रे भूमेः, निवासाय भूमिचयनादीनां च नियमानां प्रतिपादनमस्ति तच्छास्त्रमेव वास्तुशास्त्रमित्युच्यते। वास्तुशब्दान्तर्गतं गृहम्, पुरम्, दुर्गम्, प्रासादः, भवनम्, क्षेत्रम्, नगरञ्चादि अनेकाः रचनाः समागच्छन्ति। विश्वस्य प्राचीनतमे ज्ञाने तथा च भारतीयाध्यात्मिकद-र्शनचिन्तनपरम्परामूलस्रोतसि वेदे भारतीयजीवनदर्शनस्य उत्कर्षं तथा सांस्कृतिकविकासस्य मणिमञ्जूषा विद्यते। वेदस्य जाज्वल्यमानकिरणप्रभावाद् भारतं जगद्गुरुः आसीत्, अस्ति च। वेदे मानवीयकार्यक्षेत्रे व्यवहृतस्य कलायाः, वास्तुविद्यायाः, स्थापत्यनिर्माणस्य च विधिरपि समुचितरूपेण विवेचितः। सुखमय-आरोग्यमय-जीवनयापनस्य शैली व्यवस्था च तत्र विशदरूपेण वर्णिता अस्ति। प्राचीनकाले वास्तुशास्त्रमिदं स्थापत्यवेदमिति नाम्ना प्रसिद्धमासीत्। तत्र निवासाय गृहनिर्माणम्, जीवनार्थम् आयुर्विज्ञानम्, मनोरञ्जनार्थं संगीत-नृत्यशास्त्रं तथा सामाजिकसंगणनार्थं तत्सम्बन्धितानामुपवेदानामपि कल्पना दरीदृश्यते। चत्वारो वेदाः सन्ति। तेषु अथर्ववेदस्य उपवेदः स्थापत्यवेदो वर्तते। अस्य स्थापत्यवेदस्याभिप्रायो निवासयोग्या स्थापनैव। वस्तुतः भारतीयवास्तुविद्यायाः उद्गमः संसारस्य प्राचीनतमग्रन्थाद् ऋग्वेदाद् भवति। तत्र वास्तोष्पतेः प्रार्थनायाम्–

**वास्तोंष्पते प्रतिं जानीह्यस्मान्त्स्वांवेशो अंनमीवो भंवा नः।**
**यत्त्वेमंहे प्रति तन्नों जुषस्व शं नों भव द्विपदे शं चतुंष्पदे॥**[1]

इति एको मन्त्रो मिलति। मन्त्रार्थश्च – हे वास्तोष्पते! त्वम् अस्मान् जानीहि। गृहं नो नीरोगं कारय। यद्धनं वयं त्वत् कामयामहे तन्नो यच्छ। द्विपदां चतुष्पदां च न कल्याणकृद् भव। **भावार्थश्च – ये मनुष्यास्सर्वतोद्वारं पुष्कलावकाशं गृहं निर्माय तत्र वसन्ति रोगरहिता भूत्वा स्वेभ्यश्चान्येभ्यश्च सुखं प्रयच्छन्ति ते सर्वेषां मङ्गलप्रदा भवन्ति।** एतदतिरिच्य अस्य वास्तुशास्त्रस्य पूर्णः तथा समुचितो विस्तारः अथर्ववेदेऽपि दृश्यते। तत्र गृहनिर्माणस्य सिद्धान्ताः विधयश्चापि विस्तृतरूपेण विवेचिताः सन्ति।

यथा शरीरावयवेषु चक्षोः स्थानं सर्वोत्कृष्टं भवति, तथैव षट्सु वेदाङ्गेषु ज्यौतिषशास्त्रस्य महत्त्वमपि वर्तते। कस्यापि मानवस्य शरीरं चेत् सर्वावयवयुक्तं किन्तु नेत्ररहितं तदा सः स्वजीवनस्य पूर्णानन्दं न प्राप्नोति। तथैव शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दसां मर्मज्ञः विद्वान् यदि ज्यौतिषशास्त्रस्य अध्ययनं न करोति तर्हि सोऽपि नेत्रविहीनः प्राणीव सर्वेषु वैदिककार्येषु सर्वदा अयोग्यः सिद्ध्यति। भास्कराचार्यैरुक्तम् –

**वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्यौतिषं मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।**

---

1. ऋग्वेदः ७.५४.१

**संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिः चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः॥**[1]

यथा - वेदपुरुषस्याङ्गरूपेण ज्यौतिषशास्त्रं स्वीक्रियते। तथैव ज्यौतिषशास्त्रस्याङ्गरूपेण स्कन्धरूपेण वा वास्तुशास्त्रं स्वीक्रियते। ज्यौतिषशास्त्रं यथा जनानां भूत-भविष्य-वर्तमानविषयाणां फलनिर्धारणे सहयोगं करोति, तथैव वास्तुशास्त्रमपि लोकानां सुखशान्त्यारोग्याभयनिवासाय भूमेः शुभाशुभत्वनिरूपणे आवासीयवास्तुनिर्माणे व्यवसायकार्यक्षेत्रस्य विधेर्निर्धारणे धार्मिककार्यक्षेत्रस्य (वापी-कूप-तडाग-वाटिका-देवमन्दिर-मठ-आश्रमादीनाम्) च निर्माणे प्रयतते। अनेन वास्तुशास्त्रमाध्यमेन धर्मार्थकामाः यशश्च सिद्ध्यति। वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तुशास्त्रसम्बद्धाः विविधाः विषयाः विवेचिताः सन्ति। तेषु ग्रन्थेषु विवेचितानां वृक्षविषयकविचाराणां समीक्षणं शोधपत्रेऽस्मिन् प्रस्तूयते।

तथा च **दिक्षु च वृक्षान् समादधेत्**[2] इत्युक्तरीत्या गृहस्य परिसरे सर्वासु दिक्षु वृक्षाः समारोपणीयाः। "कस्यां दिशि को वृक्षः समारोपणीयः" इति विषये वास्तुशास्त्रे यत्र तत्र प्रमाणानि प्राप्यन्ते। प्राधान्येन वृक्षाश्चतुर्विधा भवन्ति। अन्तस्साराः, बहिस्साराः, उभयतस्साराः, निस्साराश्चेति। तत्र पनसप्रभृतयो वृक्षाः अन्तस्साराः, ताल-नालिकेरप्रभृतयो बहिस्साराः, चिञ्चादयो वृक्षाः उभयतस्साराः, सप्तच्छदप्रभृतयः उभयतोऽपि निस्सारा भवन्ति। इत्थं चतुर्विधेषु वृक्षेषु अन्तस्सारवृक्षाः आरामस्य मध्यभागे अथवा गृहं परितः आदौ योज्याः। ततः परं बहिस्साराः तदुत्तरमुभयतस्सारा अन्ते च उभयतो निस्साराश्च वृक्षा योजनीयाः। विस्तरेण वक्तव्यं चेत् – प्राच्यां दिशि पनसः श्रेष्ठः, क्रमुको याम्ये, पश्चिमे नालिकेरः, उत्तरस्यां भूतवृक्षो नागवृक्षश्च विद्यते चेद्धन्यो भवति। एवमेव केसरवृक्षः प्राच्याम्, तिन्त्रिणी अवाच्याम्, तालवृक्षश्च प्रतीच्यां श्रेष्ठो भवति। तथैव अन्तस्सारादयः तत्तत्स्थानेषु श्रेष्ठा भवन्ति।[3]

**दिग्वशाच्छुभाशुभवृक्षविचारः** – वास्तुभूमेः शुभाशुभफलस्य विचारो वृक्षस्याधारेणापि निरूपणं भवति। यथा – पूर्वस्यां दिशि अश्वत्थवृक्षाः, दक्षिणस्यां दिशि उदुम्बरवृक्षाः, पश्चिमस्यां दिशि वटवृक्षाः, उत्तरस्यां दिशि पलाशवृक्षाश्च क्रमशः श्रेष्ठफलप्रदायकाः भवन्ति परन्तु यदि वृक्षाणां स्थितिः विपरीतदिशि क्रमतो भवेत्तर्हि एते वृक्षाः न शुभफलं प्रयच्छन्ति। यथा – पूर्वदिशि वटवृक्षाः, दक्षिणदिशि पलाशवृक्षाः, पश्चिमदिशि अश्वत्थवृक्षाः, उत्तरदिशि उदुम्बरवृक्षाश्च वर्ज्याः सन्तीति। वास्तुभूमौ चतसृषु दिक्षु वृक्षवशाच्छुभाशुभफलविचारसमये ध्यातव्यं यदि पूर्वस्यां दिशि वटवृक्षो भवेत्तदा तत्र अग्निकारणाद् भयमुत्पद्यते। एवं यदि दक्षिणदिशि पलाशवृक्षाः भवेयुस्तर्हि प्रमादकारकं स्यात्। यदि पश्चिमदिशि अश्वत्थवृक्षाः स्युस्तर्हि शस्त्राद् भयं भवति। एवं यदि उत्तरदिशि उदुम्बरवृक्षाः स्युस्तदा उदरसम्बन्धिरोगात् पीडा भवेदिति।[4]

**वास्तुप्रदीपानुसारं तावत्** – क्षीरिणो वृक्षाः – वटाश्वत्थरक्तपुष्पाः, कण्टकिनः, शाल्मली(सेमल),

---

1. सिद्धान्तशिरोमणिः ग्रहगणिताध्यायः - ११
2. वास्तुविद्या ५.१५
3. पनसः प्राच्यां श्रेष्ठः क्रमुको याम्येऽथ पश्चिमे केरः। सोमे चूतो धन्यो नागस्तत्रैव केसरः प्राच्याम्॥
   तिन्त्रिण्युदिता याम्ये छत्री श्रेष्ठोऽथ पश्चिमे कथितः। अन्तःसारा वृक्षा यदि सन्ति ह्यन्तरेव सन्तु च ते॥ वास्तुविद्या ५.१६-१७
4. अश्वत्थः पूर्वतो धन्यो दक्षिणस्यामुदुम्बरः। न्यग्रोधः पश्चिमे श्रेष्ठः प्लक्षोऽप्युत्तरतः शुभः॥
   न्यग्रोधः पूर्वतो वर्ज्यो दक्षिणे प्लक्ष एव च। अश्वत्थः पश्चिमे भागे ह्युत्तरे चाप्युदुम्बरः॥
   अश्वत्थोऽग्निभयं कुर्यात् प्लक्षः कुर्यात् प्रमादकम्। न्यग्रोधः शस्त्रसम्पातं कुक्षिरोगमुदुम्बरः॥ वास्तुविद्या २.३३-३५

प्लक्षः, उदुम्बरः च अग्निकोणे अशुभा भवन्ति, पीडां मृत्युं च प्रयोजयन्ति। पुन्नागः, फलिनो वृक्षाः, निम्बः, दाडिमः, अशोकः, जाती, नागकेसरः, जपा, केसरः जयन्ती, चन्दनः, वचा, अपराजिता, मधूकः, बिल्वः, आम्रः, भृङ्गः, नागरः, नारिकेलः चैते वृक्षाः सर्वदिक्षु शुभाः भवन्ति।[1]

**गृहे ग्राह्याग्राह्यकाष्ठविचारः** – गृहे काष्ठस्य प्रयोगेण द्वारनिर्माणं गवाक्षानां निर्माणं शयनासनादीनां च निर्माणं भवति। अतः काष्ठं तु सुदृढं शुभदं च स्यादित्यर्थं काष्ठचयनाय वृक्षाणां शुभाशुभत्वं विचार्यते। यतः सर्वेषां वृक्षाणां काष्ठं तेषां गुणधर्मितानुसारेण ग्राह्यं न भवति। अपि च जीर्णकाष्ठान्यपि सुदृढानि न भवन्ति। अतो गृहे प्रयोगाय कीदृशानि काष्ठानि ग्राह्यानि? कानि च निषिद्धकाष्ठानि? इति विषयेऽत्र विचार्यते।

**नूतनगृहे निषिद्धकाष्ठानि** – अन्यस्य गृहे प्रयुक्तकाष्ठमथवा पुरातनगृहे प्रयुक्तकाष्ठं नूतनगृहे न प्रयोक्तव्यम्, यदि प्रयोगं करोति तदा गृहकर्त्ता तत्र न निवसेत्। यदि तत्र निवासं करोति तदा सः शीघ्रमृत्युं प्राप्नोति। वास्तुसौख्ये प्रतिपादितं यत्– नवीनगृहनिर्माणाय अप्रयुक्तेष्टका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका-लौह-तृण-वृक्षपत्र-काष्ठादिकं प्रयोक्तव्यमिति कथितमस्ति। सन्दर्भेऽस्मिन् यथा -

**नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णे जीर्णं प्रशस्यते ।**
**जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतने शुभम् ॥**[2]

**वास्तुशास्त्रे ग्राह्यकाष्ठानि** – गृहे प्रयुज्यकाष्ठानां विषये कथितमस्ति यत् श्रीपर्णी(कायफल), रोहिणी(कुटकीवृक्ष), शाकः(सागौन), सर्जः(शालवृक्षः) पतङ्गः(चन्दनवृक्षजातीयतरुविशेषः), लोध्रः(रक्तपुष्पैः श्वेतपुष्पैर्वा युक्तो वृक्षः), शालः(सखुआ), तालः, अर्जुनः, शिंशपः(शीशम) च एते वृक्षाः सरलाः अर्थात् अवक्राः शुभाः अर्थात् एतेषां वृक्षाणामवक्रकाष्ठानि गृहे ग्राह्यानि। इतोऽपि चन्दनम्, अशोकः, बदरीवृक्षः, मधूकः(महुआ) कदम्बश्चेति, एतेऽपि शुभवृक्षाः सन्ति किन्तु शमी, निम्बवृक्षः(नीम), विल्ववृक्षश्च, एतेषां प्रयोगः गृहे न करणीयः। गृहे द्वार-कपाट-गवाक्षादीनां निर्माणाय समं काष्ठं प्रयोक्तव्यम्, तथा च अलिन्दे (बरामदा,कारिडोर) विषमं काष्ठं प्रयोक्तव्यम्।[3]

---

1. क्षीरवृक्षा वटाश्वत्थरक्तपुष्पद्रुमास्तथा। सकण्टका शाल्मली च प्लक्षोदुम्बरसंज्ञकौ॥
अग्निकोणे सदा दुष्टा मृत्युपीडाप्रदायकाः। पुन्नागफलिनी निम्बदाडिमाशोकजातिकाः॥
नागकेशर-संपुष्पं जपाकुसुमकेसरे। जयन्ती चन्दनं प्रोक्तं वचा चैवापराजिता ॥
मधुविल्वाम्रभृङ्गाश्च नागरं ककुपादिकाः। यत्र तत्र स्थिताश्चैते नारिकेलादयः शुभाः ॥
बृहद्वास्तुमाला १७-२०, पृ०सं० १२६-१२७
2. अन्यवेश्मस्थितं दारु नैवान्यस्मिन्नियोजयेत्। न तत्र निवसेत्कर्त्ता वसन्नपि न जीवति ॥
इष्टिका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका- चूर्णमायसम्। तृणं पत्रं बुधैः प्रोक्तं दारु नव्यं गृहाय वै ॥
नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णे जीर्णं प्रशस्यते। जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतने शुभम् ॥ वास्तुसौख्यम् ११७-११९
3. श्रीपर्णी रोहिणी शाकः सर्जश्च सरलाः शुभाः। पतङ्गलोध्रशालाख्यास्तालार्जुनकशिंशपाः॥
चन्दनाशोकबदरी मधूकाश्च कदम्बकाः। प्रशस्ताश्च शमी निम्बो विल्ववर्ज्यं गृहान्तिके॥
गृहे दारुगुणैर्युक्ते गृहकर्मणि युज्यते। गृहे काष्ठं समं समं श्रेष्ठमलिन्दे विषमं शुभम्॥ बृहद्वास्तुमाला १३०-१३२, पृ०सं० ३१

**नारदमते त्याज्यकाष्ठानि** – गृहनिर्माणे प्लक्षः (पाकड), उदुम्बरः(गूलर), चूतः(आम्रवृक्षः), निम्बः(नीम), स्नुहिः (सेहुड), विभीतकः (बहेडा), दग्धाः वृक्षाः (अग्निज्वलितवृक्षाः), कण्टकिनः वृक्षाः (कण्टकयुक्ताः तरवः), वटवृक्षः (बरगद), अश्वत्थः(पीपल), कपित्थः (कैथ), अगस्तः, शिग्रुः(सहिजन), तालः (ताडवृक्ष), तिन्तिडिकावृक्षः (इमली) च इमे वृक्षाः निन्दिताः सन्ति। अर्थादेतेषां वृक्षाणां काष्ठं गृहे न प्रयोक्तव्यमन्यथा अशुभफलं भविष्यति। उपर्युक्तनिन्दितवृक्षान् विहायान्ये प्रशस्तवृक्षाः गृहनिर्माणे प्रयोक्तव्याः भवन्ति।[1]

**वराहमिहिरमतानुसारेण त्याज्यकाष्ठानि** – ग्राह्याऽग्राह्यकाष्ठानां सन्दर्भे वराहमिहिरमतमस्ति यत् – श्मशाने, मार्गे, देवालये, वल्मीकस्थाने, उद्याने, तपस्विनामाश्रमस्थाने, चैत्यस्थाने अर्थात् बौद्धमन्दिरे जैनमन्दिरे वा, नदीसंगमस्थले समुत्पन्नानां वृक्षाणां काष्ठानि गृहनिर्माणे निषिद्धानि। एवमेव कुम्भजलेन सिञ्चितवृक्षाः, लतादिभिराच्छादिताः वृक्षाः, विद्युता वायुना च निहताः वृक्षाः, स्वयमेव निपतिताः, गजेन पातिताः, शुष्काः वृक्षाः, अग्निना दग्धवृक्षाः, मधु-मक्षिका-गृहयुक्तवृक्षाश्चैतादृशानां वृक्षाणां काष्ठान्यपि वर्जितानि भवन्ति। ततः केषां वृक्षाणां काष्ठानि प्रयोगे विधेयानि ? तदा कथ्यते यत् – येषां वृक्षाणां पत्राणि स्निग्धानि भवन्ति, अपि च फलपुष्पयुक्ताः वृक्षाः गृहे प्रयोक्तव्याः। देवदारुवृक्षाः, चन्दनवृक्षाः, मधूकवृक्षाश्च ब्राह्मणानां कृते शुभाः भवन्ति। क्षत्रियाणां कृते अरिष्टाः(रीठा,नीम), अश्वत्थवृक्षाः, खदिराः, बिल्ववृक्षाश्च वृद्धिकराः उन्नतिदायकाः भवन्ति। वैश्यानां कृते खदिरवृक्षाः, सिन्दुकवृक्षाः(सिन्धुवार), स्यन्दनाश्च(तिनिश) शुभफलदाः भवन्ति। शूद्राणां कृते तिन्दुकाः(तेन्दु), केसरवृक्षाः, अर्जुनवृक्षाश्च शुभफलदाः भवन्ति। अथवा ये उपरि कथिताः प्रशस्तवृक्षाः सन्ति ते सर्वेभ्यः प्रशस्ताः सन्ति। तथा ये अप्रशस्ताः कथितास्ते सर्वेभ्यः अप्रशस्ताः त्याज्याः सन्ति।[2]

**वृक्षच्छेदनादिविचारः** – गृहे काष्ठस्य बहु उपयोगः भवति। काष्ठस्य पूर्तिः वृक्षैर्भवति। अतो वृक्षाणां छेदनन्तु आवश्यकं भवति। वृक्षाणां छेदनं शुभमुहूर्त्ते भवेत् तदैव काष्ठस्य शुभता स्यात्। अतो वृक्षच्छेदनमुहूर्त्तस्यावश्यकता भवति। वृक्षे तु खगादीनां दृश्याऽदृश्यभूतानामावासो भवति। अतस्तेषां प्रीत्यर्थमावासपरित्यागनिवेदनाय च बलिप्रदानपूर्वकं प्रार्थना भारतीयसंस्कृतेर्महानताऽस्ति। अत्र वृक्षच्छेदनमुहूर्त्तपूर्वकं वृक्षप्रार्थनाविधिं चापि प्रस्तूयते।

**वृक्षच्छेदनमुहूर्त्ताः** – यस्मिन् दिने कृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां तिथौ चन्द्रो रेवतीनक्षत्रे रोहिणीनक्षत्रे वा स्यादपि च लग्ने गुरुर्भवेत् तदा गृहनिर्माणाय वृक्षच्छेदनं कर्त्तव्यम्। वृक्षच्छेदनसमये लग्ने शुक्रो भवेत्तथा च गुरुः स्थिरराशौ केन्द्रेषु भवेत्तदा तृणकाष्ठादिभिर्गृहाच्छादनेन गृहेऽग्निभयं न भवति।[3]

---

1. प्लक्षोदुम्बरचूताख्या निम्बस्नुहिविभीतकाः। दग्धाः कण्टकिनो वृक्षा वटाश्वत्थकपित्थकाः॥
   अगस्तशिग्रुतालाख्यास्तिन्तिडीकाश्च निन्दिताः। अन्ये च गृहनिर्माणे योजनीयाः समाः द्रुमाः॥ बृहद्वास्तुमाला १३३-१३४, पृ०सं० ३१
2 पितृवनमार्गसुरालयवल्मीकोद्यानतापसाश्रमजाः। चैत्यसरित्संगमसंभवाश्च घटतोयसिक्ताश्च ॥
   कुब्जानुजातवल्लीनिपीडिता वज्रमारुतोपहताः। श्वपतितहस्तिनिपीडितशुष्काग्निप्लुष्टमधुनिलयाः ॥
   तरवो वर्जयितव्याः शुभदाः स्युः स्निग्धपत्रकुसुमफलाः। अभिमतवृक्षं गत्वा कुर्यात्पूजां सबलिपुष्पाम् ॥
   सुरदारुचन्दनशमीमधूकतरवः शुभा द्विजातीनाम्। क्षत्रस्यारिष्टाश्वत्थखदिरविल्वा विवृद्धिकराः ॥
   वैश्यानां जीवकखदिरसिन्धुकस्यन्दनाश्च शुभफलदाः। तिन्दुककेसरसर्जार्जुनाम्रशालाश्च शूद्राणाम् ॥ बृहत्संहिता ५८.२-६
   सर्वेषां वा शस्ताः सर्वे वृक्षाश्च निन्दिता ये न॥ बृहद्वास्तुमाला १३९, पृ०सं० ३२
3. कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रेवतीरोहिणीयुते। यदा तदा गुरौ लग्ने गृहार्थं तु हरेद्द्रुमान् ॥
   शुक्रे लग्ने गुरौ केन्द्रेष्वगेराशौ गृहोपरि। तृणादिभिः समाच्छाद्यो न चैवाग्निभयं भवेत् ॥ बृहद्वास्तुमाला १४०-१४१, पृ.सं. ३२-३३

**वृक्षच्छेदने भूतादिप्रार्थना** – वृक्षच्छेदनात् पूर्वदिवसे वृक्षसमक्षं गत्वा खगादीनां भूतानां प्रार्थना कार्या यत्– ये ये प्राणिनः अस्य वृक्षस्योपरि निवसन्ति ते मया विधिवद्दत्तं बलिं गृहीत्वा अन्यत्र गच्छेयुः। ते मां क्षमां कुर्वन्तु। तेभ्यो मम नमस्कारः।[1]

**वास्तुराजवल्लभानुसारेण गृहसमीपे ग्राह्यवृक्षाः** – सदुग्धकण्टका वृक्षाः सफला अपि गृहसमीपं न स्थापनीया। चम्पक (चम्पा)-पाटल (गुलाब)- कदली (केला)- जाती-केतकी (केवड़ा) प्रभृतयो वृक्षाः शुभाः भवन्ति। प्रहरानन्तरं कस्यचिद् वृक्षस्य छाया गृहोपरि पतति चेत् तत् शुभाय न भवति। ब्रह्ममन्दिरात् पृष्ठतः, विष्णुसूर्यशिवमन्दिरणामग्रे, जैनालयस्य पृष्ठे, देवीमन्दिरं परितश्च गृहं न निर्मातव्यम्।[2] सदुग्धाः वृक्षाः धनहानिकराः, सकण्टकाः वृक्षाः शत्रुभयदाः, सफलाः वृक्षाः सन्ताननाशकाः भवन्ति। सुवर्णाभपुष्पशालिनो वृक्षाः अपि अशुभाः भवन्ति। अत एतादृशाः वृक्षाः गृहस्य समीपे न भवेयुः।[3] इत्थं गृहसमीपे ये वृक्षा अशुभाः भवन्ति तेषु निषिद्धवृक्षेषु यदि कश्चन वृक्षो भूतावासो भवति चेत् स न छेत्तव्यः। बिल्व-शमी-केसराशोक-पुन्नाग-चम्पकवृक्षा अपि न छेत्तव्याः। द्राक्षालताकुञ्जं चन्दनद्रुमं पिप्पलीं दाडिमीं च गृहस्य निकटे रोपयेत्। गृहेणोत्तरतः कपित्थः, पूर्वस्मिन् वटः, दक्षिणतः पाटलः, पश्चिमतः अश्वत्थश्च शुभाय भवति।[4]

**बृहत्संहितानुसारेण गृहसमीपे वृक्षविचारः** – गृहस्य दक्षिणे प्लक्षः(पाकड), पश्चिमे वटः, उत्तरे उदुम्बरः(गूलर), पूर्वस्मिन् अश्वत्थश्च अशुभो भवति। गृहस्य उत्तरे प्लक्षः, पूर्वस्मिन् वटः, दक्षिणे उदुम्बरः, पश्चिमे अश्वत्थश्च शुभो भवति।[5] कण्टकिभिर्वृक्षैरासन्नैः शत्रुभयं भवति। क्षीरिभिः धननाशः, फलिभिः सन्ताननाशश्च भवति। एतेषां काष्ठानां प्रयोगो भवति चेदपि गृहेऽअशुभो भवति। कण्टकिषु वृक्षेषु पुन्नागः, अशोकः, निम्बः, केसरः(मौलसिरी), पनसः, शमी(रूमी), शालः(काल) चैते वृक्षा अशुभाः न भवन्ति।[6]

**वाटिकारोपणमाहात्म्यम्** – यदि गृहात् पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणदिक्षु ईशानकोणे वा वाटिका निर्मीयते चेत् गायत्रीपुरश्चरणस्य फलं लभ्यते। वृक्षारोपणादपि अधिकं फलं लतारोपणेन भवति।[7] वाटिकायां दक्षिणनैर्ऋत्ययोर्मध्ये

---

1. यानीह भूतानि वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम्। अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यद्य नमोऽस्तु तेभ्यः॥ बृहत्संहिता ५८.११
2. वृक्षा दुग्ध-सकण्टकाश्च फलिनस्ताज्या गृहाद् दूरतः शस्ते चम्पकपाटले च कदली जाती तथा केतकी। यामादूर्ध्वमशेषवृक्षजनिता छाया न शस्ता गृहे पार्श्वे कस्य हरे रवीशपुरतो जैनानु चण्ड्याः क्वचित्॥ बृहद्वास्तुमाला ९, पृ०सं० १२५
3. सदुग्धवृक्षा द्रविणस्य नाशं कुर्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतम्। प्रजाविनाशं फलिनः समीपे गृहस्य वर्ज्याः कलधौतपुष्पाः ॥ वास्तुराजवल्लभः १.२९
4. दुष्टो भूतनिषेवितोऽपि विटपी नोच्छिद्यते शक्तितः तद्वद्बिल्वशमी त्वशोकवकुलौ पुन्नागसच्चम्पकौ। द्राक्षा पुष्पकमण्डपं च तिलकान् कृष्णां वपेद्दाडिमीं सौम्यादेः शुभदः कपित्थकवटावौदुम्बराश्वत्थकौ ॥ वास्तुराजवल्लभः १.३०
5. याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते। उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः॥ बृहत्संहिता ५२.८३
6. आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षिरिणोऽर्थनाशाय। फलिनः प्रजाक्षयकरा दारुण्यपि वर्जयेदेषाम् ॥ छिन्द्याद् यदि न तरूँस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्। पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ ॥ बृहत्संहिता ५२.८४-८५
7. वाटिका वा तडागो वा कूपो वा यदि निर्मितः। गृहात्पूर्वे कुबेर्यां च वारुणे शम्भुकोणके ॥ सदा सवित्री भविता सदा दानं प्रयच्छति। सदा यज्ञं स पूज्येत यो रोपयति पादपम् ॥ बृहद्वास्तुमाला १५-१६, पृ०सं० १२७

जम्बुकदम्बौ, ईशानपूर्वयोर्मध्ये पनसः, उद्यानात् पूर्वदिशि वेतसः, उत्तरे शमी, पश्चिमे खदिरः, दक्षिणे केसरः च रोपणार्हाः शुभाश्च भवन्ति। प्रथमम् उद्यानम् आम्राणां, द्वितीयम् अश्वत्थानाम्, तृतीयं वटानाम्, चतुर्थं प्लक्षाणाम्, पञ्चमं निम्बानाम्, षष्ठं जम्बूनाम्, सप्तमं चिञ्चानां भवेत्। **सर्वेष्वेषु आम्रवनं श्रेष्ठम्। अग्निहोत्रमकुर्वता अपुत्रेण च आम्रवनं निर्मातव्यं येन सः पुत्रिणां स्वर्गमाप्नुयात् ।** अतः उत्तमान् वृक्षान् रोपयित्वा सर्वजनीनं कार्यं करणीयम्।[1]

**वास्तुराजवल्लभे राजवाटिकाप्रकारः** – राजप्रासादाद् दक्षिणदिशि वामतो वा तद्रञ्जनाय शतहस्तमितं तद्द्विगुणितं तत्त्रिगुणितं वा तटाकं निर्मीय तस्य मध्ये प्रपातमण्डलः तोययन्त्राणि च स्थापनीयानि।[2]

**राजजलयन्त्रपरिसरे रोपणीयाः वृक्षाः** – जलयन्त्रं कर्तुं प्रथमतः क्षेत्रं सप्तधा विभज्य मध्ये भागत्रयं परितो भद्रं । मध्ये च चतुर्विंशतिभागेषु जलवापिका कर्त्तव्या। कोणेषु कारयेत् चित्रण्युत्कीर्य अलङ्कुर्यात। एतादृशं जलयन्त्रं राज्ञः विनोदाय भवति। एतस्य जलयन्त्रस्य समीपे विद्यमाने उद्याने चम्पा, कुन्दः, जातिः (चमेली), सुमनोवल्ली (बेला), निर्मालिका, केतकी, श्वेतपाटला(सफेद गुलाब), नारिकेलः, करणी (कनेर), वसन्तलतिका, रक्तपुष्पम्, जम्बीरः (जम्बीरी नींबू), बदरी, पूगः (सुपारी), मधूकः (महुआ), आम्रः, वेला, कदली, चन्दनः, वटः, पिप्पलः, हरितकी, आमलकी, चिञ्चा (इमली), अशोकः, कदम्बः, निम्बः (नीम), खर्जूरः, दाडिमः, कर्पूरः, अगुरुः (अगर), किंशुकः, हयरिपुः (सफेद कनेर), पुन्नागकः (जायफल), निम्बुकी (नींबू), नागलता (नागबेल), तिन्दुकी (बिजौरा नींबू), लाङ्गली (कलिहारी) चैते वृक्षाः रोपणीयाः। वाटिकायां जलविहाराय निर्मिते मण्डपे द्राक्षा (दाख)-एला (इलायची)-शतपत्रा (शतावरी)-बकुल (मौलसिरी)-धत्तूर-कङ्कोल-शाल-ताल-तमाल-अगस्त्य-मन्दार-चम्पक-पारिजातादि-वृक्षाः रोपणीयाः।[3]

---

1. याम्यनैर्ऋत्ययोर्मध्ये तथा जम्बुकदम्बकौ। पनसश्च तथाम्रश्च प्रशस्तौ शम्भुपूर्वयोः ॥
वाटिकायाः बहिः पूर्वे रोपयेद्वंशवृक्षकम्। उत्तरे च शमी बाह्ये पश्चिमे खदिरो बहिः ॥
दक्षिणे वकुलो बाह्येऽरिष्टनाशाय केवलम्। आम्राणां वाटिका चैव द्वितीयाश्वत्थवाटिका ॥
तृतीया वटवृक्षाणां चतुर्थी प्लक्षवाटिका। पञ्चमी निम्बवृक्षाणां षष्ठी जम्बुकवाटिका ॥
चिञ्चिणीवृक्षसंभूता सप्तमी परिकीर्तिता। एतासां वाटिकानाञ्च प्रशस्ता चाम्रवाटिका ॥
फलदा पुण्यदा चैव पापं संहरते ध्रुवम्। यत्करोति घनच्छायः पादपः पथि रोपितः ॥
न तत्करोत्यग्निहोत्रं न पुत्रा योषितोद्भवाः। अतः सर्वगुणोपेतान् वृक्षानारोपयेत् सुधीः॥ बृहद्वास्तुमाला २६-३२, पृ०सं० १२९
2. वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिदण्डसंख्या शतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः॥ बृहद्वास्तुमाला ३४, पृ०सं० १३०
3. क्षेत्रं सप्तविभागभाजितमतो भद्रं च भागत्रयं तन्मध्ये जलवापिका जिनपदैरेकांशतो वेदिका ।
स्तम्भैर्द्वादशभिश्च मध्यरचितः कोणेषु रूपान्वितः। कर्तव्यो जलयन्त्र एव विधिवद्भोगाय पृथ्वीभुजाम् ॥
तस्यां चम्पककुन्दजातिसुमनोवल्ली च निर्मालिका। जातीहेमसमानकेतकिरपि श्वेता तथा पाटला ।
नारङ्गः करणी वसन्तलतिका चारक्तपुष्पादिकम्। जम्बीरो बदरी च पूगमधूपा जम्बू च चूतद्रुमाः ॥
मालूरः कदली च चन्दनवटावश्वत्थपथ्याशिवाः। चिञ्चाशोककदम्बनिम्बतरवः खर्जूरिका दाडिमा ॥
कर्पूरागुरुकिंशुका हयरिपुः पुन्नागको निम्बुकी। प्रोक्ता नागलता च बीजनिभृता स्यात्तिन्दुकी लाङ्गली ॥
बृहद्वास्तुमाला ३५-४१, पृ०सं० १३१-१३२

**वृक्षारोपणमन्त्रः –**

**ॐ वसुधेति च सीतेति पुण्यदेति धरेति च। नमस्ते शुभगे देवि द्रुमोऽयं वर्द्धतामिति॥**

मन्त्रेणानेन वृक्षारोपणं कुर्यात्।

**वृक्षारोपणविचारः** – कस्यापि कार्यस्य यदि शुभारम्भः शुभसमये भवति तदा कार्यं सम्यक्तया सम्पूर्णतां गच्छति। तस्मिन्नेव क्रमे यदि वृक्षाणां रोपणं शुभमुहूर्त्ते, शुभदिने च क्रियते तदा वृक्षो बृहद् तथा उत्तमफलदायको भवति। अनन्तरं यदि वृक्षस्य समयानुसारेण सेचनं भवति, रुग्णकाले रुग्णस्य चिकित्सा भवति तदापि सम्यक्फलानि प्राप्यन्ते। एतदर्थं वास्तुशास्त्रे विद्वद्भिः सर्वं सौकर्येण लिखितं वर्तते।

**दिग्विभागेन वृक्षारोपणप्रकारः** – ऐशानकोणे आमलकी, नैर्ऋत्ये चिञ्चा(इमली), आग्नेये दाडिमः, वायव्ये च बिल्वो रोपणीयः। उत्तरे प्लक्षः, पूर्वस्मिन् वटः, दक्षिणे उदुम्बरः, पश्चिमे च विभिन्नाः वृक्षाः रोपणीयाः।[1]

**वृक्षारोपणात् स्वर्गप्राप्तिप्रकारः** – एकं पिप्पलम्, निम्बम्, वटम्, दश पिचुमन्दान्(इमली), कपित्थम्, विल्वम्, आमलकीतिस्रः, पञ्च आम्रान् च रोपयन् बहुपुण्यभाक् नरकं न पश्यति।[2] वराहमिहरो वृक्षारोपणस्य फलं निरूपयति – यो राजमार्गमन्यं मार्गं वा अभितः सुन्दरान् मनोहारिणो वृक्षान् रोपयति सः चतुर्षु युगेषु सुखं भुञ्जानः अन्तकाले स्वर्गं गच्छति।[3]

**बृहत्संहितायां वृक्षारोपणप्रयोजनम्** – कस्यापि कार्यस्य पृष्ठे तस्य कारणं भवति। वृक्षारोपणस्य प्रयोजनविषयेऽपि उक्तम्। जलाशयवापीकूपानां प्रान्ते यदि छायाकराः वृक्षाः न स्युस्तदा ते प्रान्तस्थला शोभायमानाः न भवन्ति। अतः प्राप्तस्थलानामुपरि वृक्षारोपणं वाटिकानां स्थापना कर्तव्या।[4] वृक्षाणां कृते मृदुभूमिः लाभकारी भवति। तत्र वृक्षारोपणेन उत्तमवृक्षाः फलयुक्ताः भवति।

**मृदुभूमेः प्राशस्त्यम्** – अत्र मृदुभूमेः महत्त्वविषयेऽपि प्रतिपादितमस्ति। सर्वेषां वृक्षाणां मृदुभूमिरुत्तमा भवति। तस्यां भूमौ सर्वप्रथमं तत्र तिलान् वपेत्। अनन्तरं यदा तिलपादपाः पुष्पिताः भवन्ति तदा तान् तत्रैव मृद्नीयात्। एतत् कार्यं तस्यां भूमौ प्रथमं भवति। एतत् कार्यं भूमौ उर्वरकतां वर्धनार्थं क्रियते।[5]

---

1. ईशाने रोपयेद्धात्रीं नैर्ऋत्ये चिञ्चिणीद्रुमान्। आग्नेय्यां दाडिमं चैव वायव्ये विल्ववृक्षकम्॥
   प्लक्षोत्तरे पूर्ववटं प्रशस्तं ह्युदुम्बरं दक्षिणभागके च। अश्वत्थवृक्षं दिशि वारुणस्यां मध्ये तथाम्रान्विविधप्रकारान्॥
   बृहद्वास्तुमाला २४-२५, पृ०सं० १२८-१२९
2. अश्वत्थं च कदम्बं च कदलीबीजपूरकम्। गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति॥
   सर्वत्र पनसः शस्तो दक्षिणे सकलाः खलाः। वृक्षा नारोपयेदेवं स सदा सुखभाग्भवेत्॥ बृहद्वास्तुमाला २१-२२, पृ०सं० १२८
   अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीकान्। कपित्थविल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्॥
   भविष्यपुराणम् ४.१२८.११
3. यो वाटिकां राजपथः समीपे स्विष्टां तथा कूपसमन्विताञ्च। स्वर्गे च वासं लभते मनुष्यश्चतुर्युगं सर्वसुखैरुपेतः॥
   बृहद्वास्तुमाला ३३, पृ०सं० १३०
4. प्रान्तच्छायाविनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः। यस्मादतो जलप्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत्॥ बृहत्संहिता ५४.१
5. मृद्वी भूः सर्ववृक्षाणां हिता तस्यां तिलान् वपेत्। पुष्पितांस्तांश्च मृद्नीयात् कर्मैतत्प्रथमं भुवः॥ बृहत्संहिता ५४.२

**प्रथमरोपणीयवृक्षाः** – केचन वृक्षाः शुभाः भवन्ति। तेषां प्रथमतया रोपणेन शुभफलं भवति। माङ्गलिकानां वृक्षाणां प्रथमतया रोपणेन मङ्गलं भवति, अतः निम्बवृक्षः, अशोकः, पुन्नागः, शिरीषः, प्रियंगुः एते वृक्षाः गृहेषु अथवा गृहाद् बहिः पूर्वदिशि वाटिकायां रोपणीयाः। यतो हि एते माङ्गलिकाः सन्ति।[1]

**काण्डरोप्यवृक्षविधानम्** – केचन वृक्षाः काण्डरोप्याः भवन्ति। अर्थाद् वृक्षस्य एकां लघुशाखां स्वीकृत्य रोपणेन सा शाखाऽपि वृक्षो भवति। काण्डरोप्याः वृक्षाः सन्ति – पनसः (कटहल), कदली, जम्बूः, लकचः, दाडिमः, द्राक्षा, पालिवता, बीजपूरः, अतिमुक्तः इत्यादयः। एतेषां शाखां स्वीकृत्य तां गोमयेन लिप्त्वा रोपणेन वृक्षो भवति। अथवा अन्यवृक्षान् साक्षात् पादपान् स्वीकृत्य रोपणेन वृक्षाः भवन्ति।[2]

**कालानुसारिवृक्षाऽऽरोपणनियमाः** – वृक्षाणां रोपणं कालानुसारेण भवति। केचन वृक्षाः शिशिरर्तौ (माघफाल्गुनमासयोः), केचन हेमन्तर्तौ (मार्गशीर्षपौषमासयोः) तथा केचन वर्षर्तौ (श्रावणभाद्रपदमासयोः) रोपणीयाः भवन्ति। येषां वृक्षाणां शाखाः प्रशाखाः अङ्कुरिताः न भवन्ति, येषां शाखाप्रशाखाः न भवन्ति, ये च कालक्रमानुसारेण रोपणीयाः लतादयः, तेषां रोपणं शिशिरर्तौ कर्तव्यम्। ये वृक्षाः शाखायुक्ताः भवन्ति तेषां रोपणं शीतर्तौ करणीयम्। तथा च येषां वृक्षाणां शाखा बहुदीर्घाः सुदृढाः च भवन्ति, ते वृक्षाः वर्षाकाले रोपणीयाः स्युः। येन वृक्षाणां वर्धनं सुष्ठु भवति।[3]

**उत्खातप्रतिरोपणविधानम्** – केषाञ्चिद् वृक्षाणां रोपणमुत्खातप्रतिरोपणविधिना भवति। अस्मिन् विधौ पादपस्य एकस्मात् स्थानात् उत्खननं कृत्वाऽन्यत्र रोपणं भवति। एकस्थानादन्यस्थानं प्रति नीत्वा पादपस्य रोपणमुत्खातप्रतिरोपणविधिरुच्यते। सर्वप्रथमं पादपं स्वीकृत्य घृत-उशीर-तिल-मधु-विडंग-इत्यादीनां वस्तुचूर्णेन तं पादपं मूलात् शाखापर्यन्तं लेपनीयम्। अनन्तरमन्यत्र नीत्वा तस्य रोपणं करणीयम्।[4]

**वृक्षारोपणविधिः** – वृक्षारोपणस्यापि एकः विधिरस्ति। तथा यदि रोपणं क्रियते चेद् वृक्षः सुदीर्घः सुफलदः भवति। वृक्षारोपणार्थं स्नानादिकं कृत्वा पवित्रं भवितव्यम्। अनन्तरे वृक्षस्य स्नानगन्धाक्षतैः पूजा करणीया, अनन्तरं रोपणीयम्। एवं विधौ वृक्षस्य पूर्वपत्राणि नष्टानि न भवन्ति तानि एव वर्धयन्ति।[5]

**रोपितवृक्षाणां सेचनविधिः** – शास्त्रे वृक्षसेचनस्यापि नियमः प्रतिपादितः। यदि तेन नियमेन सेचनं क्रियते चेत् वृक्षः शुष्कतां न याति। ग्रीष्मर्तौ वृक्षाः सायं प्रातः एकस्मिन् दिने द्विवारं जलेन सेक्तव्याः, शीतकाले एकदिनानन्तरम् अर्थात् एकस्मिन् दिने एकवारमेव, तथा वर्षासु जलावशेषे अर्थात् जलाभावे एव जलं दातव्यम्। अनेन प्रकारेण कालानुसारेण सेचनं कर्तव्यम्।[6]

---

1. अरिष्टाऽशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः। मङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥ बृहत्संहिता ५४.३
2. पनसाशोककदलीजम्बूलकुचदाडिमाः। द्राक्षापालीवताश्चैव बीजपूरातिमुक्तकाः ॥
   एते द्रुमाः काण्डरोप्या गोमयेन प्रलेपिताः। मूलोच्छेदेऽथवा स्कन्धे रोपणीयाः परं ततः ॥ बृहत्संहिता ५४.४-५
3. अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे। वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथा दिक्स्थान् प्ररोपयेत् ॥ बृहत्संहिता ५४.६
4. घृतोशीरतिलक्षौद्रविडङ्गक्षीरगोमयैः। आमूलस्कन्धलिप्तानां सङ्क्रामणविरोपणम् ॥ बृहत्संहिता ५४.७
5. शुचिर्भूत्वा तरोः पूजां कृत्वा स्नानानुलेपनैः। रोपयेद् रोपितश्चैव पत्रैस्तैरेव जायते॥ बृहत्संहिता ५४.८
6. सायं प्रातश्च घर्मर्तौ शीतकाले दिनान्तरे। वर्षासु च भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः॥ बृहत्संहिता ५४.१

**अनूपदेशराजवृक्षसेचनविधिः** – केचन वृक्षाः ईदृशाः भवन्ति येषां सेचनस्यावश्यकता न भवति। यतो हि ते जलबहुलप्रदेशीयाः वृक्षाः भवन्ति। जलबहुलप्रदेशस्य षोडश संख्याकाः वृक्षाः सन्ति येषां सेचनस्यावश्यकता न भवति। तेषां नामानि इमानि सन्ति – जम्बूवृक्षः(जामुन), वेतसवृक्षः(बैंत), वानीस(बैंत की विशेष प्रजाति), कदम्ब-उदुम्बर-अर्जुन-बीजपूरक-मृद्वीका-लकुचा-दाडिम-वञ्जुल-नक्तमाल-तिलक(चन्दन)-पनस(कटहल)-तिमिर-आम्रतक इत्यादयः।[1]

**वृक्षाणां मध्यान्तरविचारः, तत्फलं च** - वृक्षाणां मुक्तवर्धनेन तेषां मध्ये मध्यान्तरमावश्यकं भवति। द्वयोर्वृक्षयोर्मध्ये विंशतिसंख्यात्मकहस्तात्मकमन्तरं भवति चेत्तत् सर्वश्रेष्ठमन्तरं भवति। षोडशसंख्यात्मकमन्तरं भवति चेत्तद् मध्यममन्तरं भवति। द्वादशसंख्यात्मकमन्तरं भवति चेत्तद् अधममन्तरं भवति। वृक्षाणामन्तरकरणेन ते सम्यक् फलं यच्छन्ति। यदि वृक्षाणां मध्ये यथोचितम् अन्तरं न भवति तदा ते परस्परं स्पर्शं करिष्यन्ति। उभयोर्वृक्षयोः शाखानां मूलानां च परस्परं संस्पर्शेन उत्तमफलं न भवति। अतः अन्तरमावश्यकमस्ति।[2]

**वृक्षाणां रोगज्ञानप्रकारः** - वृक्षाः रुग्णाः अपि भवन्ति, यदि शैत्याधिकं भवति घर्माधिकं भवति वा अथवा वातेन नष्टाः रुग्णाः वा भवन्ति। यदि एतेषां चिकित्सा समयेन न क्रियते तदा एते फलं समयेन न ददति तथा फलानां गुणवत्ता न्यूना भवति। सर्वप्रथमं वृक्षाणां रोगज्ञानमपेक्षितम्। वृक्षाः प्रकृतिकोपात् शैत्याधिके वायुघर्माधिके रुग्णाः भवन्ति। तेषां पत्राणि पीतवर्णानि भवन्ति। वृक्षेषु किसलयादीनां वृद्धिः अवरुद्धः भवति। शाखाः शुष्यन्ति। प्रभावितस्थानाद् रसस्रावो भवति।[3]

**वृक्षाणां चिकित्साप्रयोगविधिः** – रुग्णानां वृक्षाणां चिकित्साऽनिवार्या भवति अन्यथा वृक्षः स्वयमेव नष्टो भवति। सर्वप्रथमं रुग्णवृक्षस्य प्रभावितं क्षेत्रं रुग्णावस्थानं वा शस्त्रेण कर्तितव्यम्। अनन्तरं पीडितस्थानस्योपरि विडङ्गघृतपङ्कान् सम्मील्य तत्र लेपनं कर्तव्यमपि च क्षीरयुक्तदुग्धेन पुनः सेचनं करणीयम्।[4]

**फलनाशचिकित्साविधिः** – रुग्णाः वृक्षाः स्वफलानि शीघ्रं पातयन्ति। अतः फलानां चिकित्साऽपि आवश्यकी। यदि फलपक्वात् पूर्वमेव वृक्षस्य फलं रुग्णं भूत्वा पतति तर्हि तस्य चिकित्सा क्वाथनिर्मीय कर्तव्या। कुलत्थ(कुलथी)-माष-मुद्ग(उडदमूंग)-तिल-यवान् सम्मील्य क्वाथनिर्माणं भवति। क्वाथः शीतलीभूत्वा दुग्धं सम्मील्य वृक्षस्य मूले तत् सेक्तव्यम्। अनेन फलपुष्पवृद्धिर्भवति।[5]

**प्रयोगानन्तरविधिः** – फलनाशे एका अन्याऽपि चिकित्साविधिः वर्तते। अविकः (भेड इति हिन्द्याम्), अजश्च (बकरा इति हिन्द्याम्), अनयोः विष्ठाचूर्णयोः एकैकम् आढकम् (एकाढकम् 256 मुष्टिका, आहत्य 512), पुनः

---

1. जम्बूवेतसवानीरकदम्बोदुम्बरार्जुनाः। बीजपूरकमृद्वीकालकुचाश्च सदाडिमाः॥
   वञ्जुलो नक्तमालश्च तिलकः पनसस्तथा। तिमिरोऽम्रातकश्चेति षोडशानूपजाः स्मृताः॥ बृहत्संहिता ५४.१०-११
2. उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम्। स्थानात्स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम्॥
   अभ्यासजातास्तरवः संस्पृशन्तः परस्परम्। मिश्रैर्मूलैश्च न फलं सम्यग्यच्छन्ति पीडिताः॥ बृहत्संहिता ५४.१२-१३
3. शीतवातातपै रोगो जायते पाण्डुपत्रता। अवृद्धिश्च प्रबालानां शाखाशोषो रसस्रुतिः॥ बृहत्संहिता ५४.१४
4. चिकित्सितमथैतेषां शस्त्रेणादौ विशोधनम्। विडङ्गघृपङ्काक्तान् सेचयेत्क्षीरवारिणा॥ बृहत्संहिता ५४.१५
5. फलनाशे कुलत्थैश्च माषैर्मुद्गैस्तिलैर्यवैः। शृतशीतपयःसेकः फलपुष्पसमृद्धये॥ बृहत्संहिता ५४.१६

एकाढकं तिलम् (256 मुष्टिका तिलानि), एकः प्रस्थः यवचूर्णः (64 मुष्टिकातुल्यम्), एकद्रोणजलम्, गोमांसतुला (5 किलोपरिमितम् प्रायः), एतान् सर्वान् सम्मील्य सप्तरात्रिपर्यन्तं स्थाप्य अनन्तरं सेक-कार्यं कर्तव्यम्। अनेन वल्मीगुल्मलतानां तथा च फलपुष्पाणां च वृद्धिः भवति।[1]

**बीजारोपणविचारः** - वृक्षाणां बीजवपनस्यापि एकः विधिः वर्तते। येन सुदृढवृक्षस्य प्रादुर्भावः भवति। बीजवपनं वृक्षस्य मूलं वर्तते। आधारः सुदृढो भवेत्। सर्वप्रथमं बीजं घृतेन लेपिते हस्ते स्वीकृत्य घर्षणं कर्तव्यम्। अनन्तरं दुग्धे तक्रं स्थापितव्यम्। दश दिनानन्तरं तं बीजं दुग्धात् निस्सार्य गोमयेन (गोबर) पुनः मर्दनीयम्। ततः सूकरमृगयोः मांसेन धूपं दातव्यम्। पुनः सूकरमृगयोः मांसेन तं बीजं परिष्कृतभूमौ रोपयेत्। पश्चात् दुग्धजलेन सेचनं कर्तव्यम्। अनेन फलपुष्पयुक्तं शुभवृक्षं भवति।[2]

**तिन्तिडीबीजरोपणम्** – तिन्तिडिवृक्षः कथं सुफलदं भवेत् तदर्थं लिख्यते। तिन्तिडी(इमली)वृक्षस्यापि सुदृढशाखा भवितुं शक्नोति। तदर्थं व्रीहि-माष-तिलान् चूर्णं कृत्वा सक्तुभिः(सत्तू) दुर्गन्धयुक्तमांसेन सम्मील्य हरिद्रया धूपं दातव्यम्। पुनः रोपणीयम्, तेन शाखाः भवन्ति।[3]

**कपित्थबीजरोपणम्** – कपित्थ (कैथ) वृक्षस्य बीजरोपणार्थं तावत् कपित्थवृक्षस्य शाखाभ्यः, १.आस्फोत (विष्णुक्रान्ता=आक/मन्दार), २.धात्री (आमलकः), ३.धब (वृक्षविशेषः), ४.वासिकानाम् (वसा इति वृक्षविशेषः), तथा ५.पलाशिनी(ढाकइति हिन्द्याम्), ६.वेतसः (बैंत), ७.सूर्यवल्ली (सूर्यमुखी), ८.श्यामवर्णीया माधवी इति एषां वृक्षाणां समूहः अष्टमूली इति नाम्ना ज्ञायते। एतेषाम् अष्टमूलीसंज्ञकवृक्षाणां दुग्धं स्वीकृत्य उष्णं कर्तव्यम्। पुनः शीतलीकर्तव्यम्। तस्मिन् कपित्थस्य बीजानि निक्षिप्य 100 तालीवादनं कुर्यात्। पुनः निस्सार्य सूर्यकिरणैः शुष्कं कुर्यात्। अनेन प्रकारेण मासपर्यन्तं कुर्यात्। पुनः एकहस्तात्मकं खातं विस्तारदैर्घ्ये (एकहस्तः दैर्घ्यम्, एकहस्तः विस्तारः) करणीयम्। तथा हस्तद्वयं गभीरं करणीयम्। अस्मिन् जलेन युक्तं दुग्धं पातितव्यम्। जलावशेषे तस्मिन् गर्ते अग्निः प्रज्वालयेत्। अग्निशमने घृत-मधु-भस्मेति एतेभ्यः लेपनं कुर्यात्। पुनः तं गर्तं मृत्तिकया माषतिलयवैः प्रपूरणीयम्। पुनः मीन-मांसमिश्रितजलेन सिक्त्वा घनत्वं यावत् ताडयेत्। ततः समुपागतं चतुरङ्गुलात्मकं गभीरम्, रोपणीयबीजञ्च मीनमांसजलेन सिञ्चेत् तदा बीजाङ्कुरणं शीघ्रं प्ररोहति। शुभकिसलयादि आश्चर्यरूपेण मण्डपमाच्छादयति, मण्डपस्य निर्माणं भवतीति भावः।[4]

---

1. अविकाजशकृच्चूर्णस्याढके द्वे तिलाढकम्। सक्तुप्रस्थो जलद्रोणो गोमांसतुलया सह॥
   सप्तरात्रोषितैरेतैः सेकः कार्यो वनस्पतेः। वल्मीगुल्मलतानां च फलपुष्पाय सर्वदा॥ बृहत्संहिता ५४.१७-१८
2. वासराणि दश दुग्धभावितं बीजमाज्ययुतहस्तयोजितम्। गोमयेन बहुशो विरुक्षितं क्रोडमार्गपिशितैश्च धूपितम्॥
   मांससूकरवसासमन्वितं रोपितं च परिकर्मितावनौ। क्षीरसंयुतजलावसेचितं जायते कुसुमयुक्तमेव तत्॥ बृहत्संहिता ५४.१९-२०
3. तिन्तिडीत्यपि करोति वल्लरीं व्रीहिमाषतिलचूर्णसक्तुभिः। पूतिमांससहितैश्च सेचिता धूपिता च सततं हरिद्रया॥ बृहत्संहिता ५४.२१
4. कपित्थवल्लीकरणाय मूलान्यास्फोतधात्रीधववासिकानाम्। पलाशिनी वेतससूर्यबल्ली श्यामातिमुक्तैः सहिताष्टमूली॥
   क्षीरे शृते चाप्यनया सुशीते ताला शतं स्थाप्य कपित्थबीजम्। दिने दिने शोषितमर्कपादैर्मासं विधिस्त्वेष ततोऽधिरोप्यम्॥
   हस्तायतं तद्द्विगुणं गभीरं खात्वा वटं प्रोक्तजलावपूर्णम्। शुष्कं प्रदग्धं मधुसर्पिषा तत्प्रलेपयेद्भस्मसमन्वितेन॥
   चूर्णीकृतैर्माषतिलैर्यवैश्च प्रपूरयेद्वृत्तिकयान्तरस्थैः। मत्स्यामिषाम्भस्सहितं च हन्याद् यावद्घनत्वं समुपागतं तत्॥
   उप्तं बीजं चतुरङ्गुलाधो मत्स्याम्भसा मांसजलैश्च सिक्तम्। वल्ली भवत्याशु शुभप्रवाला विस्मापनी मण्डपमावृणोति॥
   बृहत्संहिता ५४.२२-२६

**श्लेष्मातकबीजरोपणम्** – श्लेष्मातस्य(लिसोडा इति हिन्द्याम्) वृक्षस्य बीजरोपणाय बीजानामावरणं दूरीं कृत्वा, तानि अंकोलफलस्य चिक्कणभागैः, छायायां सप्तवारं धर्षणीयानि। पुनः महिषस्य गोमये बीजं घर्षणीयम्। पुनः गोमयस्य शुष्कखण्डैः पालनीयम्। पुनः करकाजलं मृत्तिकां च सम्मिल्य रोपयेत्। अनेन उप्तबीजानि उत्तमफलं ददति।[1]

**सामान्यवृक्षारोपणप्रकारः** – सामान्यरूपेण बीजानां रोपणं तावदपेक्षितं चेद् रोप्यबीजम् अंकोलसम्भूफल (पिशता) इति फलस्य पिष्ट्या रसेन वा १०० वारं भावितव्यम्। अथवा पिश्ता इति फलस्य तैलेन १०० वारं भावितव्यम्। पुनः तं बीजं श्लेष्मातकफलस्य (लिसूडा) पिष्ट्यां तैले वा भावना दातव्या। अनन्तरं बीजं रोपितव्यम्। अनेन वृक्षे बहुलानि फलानि भवन्तीति।[2]

**वृक्षारोपणनक्षत्राणि** – वृक्षाणां रोपणार्थं वास्तुशास्त्रज्ञैः शुभनक्षत्राणि उक्तानि सन्ति। तथा च वृक्षारोपणार्थं ध्रुवनक्षत्राणि (उत्तराफाल्गुनी-उत्तराषाढा-उत्तराभाद्रपदा-रोहिणीनक्षत्राणि), मृदुनक्षत्राणि (मृगशीर्ष-रेवती-चित्रा-अनुराधानक्षत्राणि), मूल-विशाखा-पुष्य-श्रवण-अश्विनी-हस्त-नक्षत्राणि च शुभानि भवन्ति। शुभफलप्राप्त्यर्थं एषु नक्षत्रेषु एव वृक्षारोपणं कर्तव्यम्।[3]

**वृक्षारोपणमुहूर्त्तः** – हस्त-पुष्याश्विन्युत्तरफाल्गुन्युत्तराषाढोत्तरा-भाद्रपदा-रोहिणी-विशाखा-मृगशिरोमूल-शतभिषङ्नक्षत्रेषु शुक्रे गुरौ च केन्द्रगे शुभस्थानस्थे चन्द्रमसि जलचरराशिस्थे लग्नस्थे वा, चतुर्थस्थानके शुभग्रहाणां दृष्टौ योगे वा शुभे वासरे शुभलग्ने लतागुल्मवृक्षादीन् मन्त्रोच्चारपूर्वकं रोपयेत्। बृहस्पतिमते तु सोमवासरे मूलनक्षत्रे धनुर्लग्ने च वृक्षारोपणं कर्तव्यम्। गुरुवारे रेवत्यां धनुषि मीने वा लग्ने वृक्षारोपणं शुभाय भवति। शक्तियामलानुसारं वृक्षचक्रे सूर्यनक्षत्राद् दिननक्षत्रपर्यन्तं गणनां कृत्वा फलकथनं वर्णितं वर्तते।[4] प्रकारान्तेरणापि वृक्षारोपणफलं शास्त्रे वर्णितं वर्तते। तथा च सूर्यनक्षत्रात् चन्द्रनक्षत्रपर्यन्तं गणनां कृत्वा तिथिवारसंख्यां योजयित्वा नवभिर्भाजने शिष्टाङ्कानुसारं वृक्षारोपणफलं वक्तव्यम्। १-३-५ शेषे वृक्षः समृद्धः भवति। २-४ शेषे वृक्षारोपणं निष्फलं भवति। ६-८ शेषे लाभः, ७-९ शेषे मृत्युर्भवति।[5]

---

1. श्लेष्मातकस्य बीजानि निष्कुलीकृत्य भावयेत्प्राज्ञः। अङ्कोलविज्जलाद्भिश्छायायां सप्तकृत्वैवम्॥
   माहिषगोमयघृष्टान्यस्य करीषे च तानि निक्षिप्य। करकाजलमृद्योगे न्युप्तान्यह्ना फलकराणि॥ बृहत्संहिता ५४.२९-३०
2. शतशोऽङ्कोलसम्भूतफलकल्केन भावितम्। एतत्तैलेन वा बीजं श्लेष्मातकफलेन वा।
   वापितं करकोन्मिश्रमृदि तत्क्षणजन्मकम्। फलभारान्विता शाखा भवतीति किमद्भुतम्॥ बृहत्संहिता ५४.२७-२८
3. ध्रुवमृदुमूलविशाखा गुरुभं श्रवणस्तथाश्विनी हस्तः। उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादपसंरोपणे भानि॥ बृहत्संहिता ५४.३१
4. लतागुल्मवृक्षरोपो हस्तपुष्याश्विनीध्रुवैः। विशाखा-मृग-मूलाह्न-वारुणैश्च प्रशस्यते॥
   गुरौ केन्द्रे शुभे शुक्रे विधौ वारिणि वोदये। शुभयुक्तेक्षे वन्धौ सद्वारे वा शुभोदये॥
   सोमवारयुते मूले चापलग्ने मतान् द्रुमान्। स्थापयेज्जीवलग्ने च रेवत्यां गुरुवासरे॥
   सूर्यभाद्दिनभं यावद् वृक्षचक्रं विधीयते। त्रयं मूले भवेद्रोगस्त्वचि त्रीणि धनागमः॥
   वेदश्शाखासु नाशः स्यात् पत्रे युग्मं दरिद्रता। शीर्षे त्रीणि शुभं प्रोक्तं पूर्व एकन्तु मृत्युदम्॥
   सुतनाशं पञ्च याम्ये पश्चिमे द्वे धनप्रदे। स्याद् वेद उत्तरे लाभ इत्युक्तं शक्तियामले॥ बृहद्वास्तुमाला ४२-४७, पृ०सं० १३२-१३३
5. तिथिवारसमायुक्तं सूर्यफादिन्दुभं युतम्। नवभिस्तु हरेद्भागं शेषाङ्के रोपणं फलम्॥
   एके शरे त्रिफलितं निष्फलं वेदपक्षयोः। वसौ षष्ठे भवेल्लाभो सप्तमे नवमे मृतिः॥ बृहद्वास्तुमाला ४८-४९, पृ०सं० १३३

एवम्प्रकारेण वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वृक्षविषयकसम्बद्धाः विविधाः विचाराः वर्णिताः सन्ति। यदि वयं वास्तुशास्त्रोक्तविधिना वृक्षारोपणं कुर्मश्चेदवश्यमेव पुरुषार्थचतुष्टयं प्राप्नुमः। विश्वस्य एका भयावहा समस्या अस्ति प्रदूषणम्। प्रदूषणनिवारणाय वृक्षारोपणमत्यावश्यकमस्ति। अत्याधुनिकजीवनशैल्यां प्रदूषणं प्राणिनां पुरतः अभिशापरूपेण समायातम्। नदीनां वारि मलिनं सञ्जातम्। शनैः शनैः धरा निर्वना जायमाना अस्ति। यन्त्रेभ्यो निःसृतेन वायुना वातावरणं विषाक्तं रुजाकारकं च भवति। वृक्षाभावात् प्रदूषणकारणाच्च बहूनां पशुपक्षिणां जीवनमेव सङ्कटापन्नं दृश्यते। वनस्पतीनाम् अभावदशायां न केवलं वन्यप्राणिनाम् अपि तु अस्माकमेव समेषामेव जीवनं स्थातुं नैव शक्यते। पादपाः अस्मभ्यं न केवलं शुद्धवायुमेव यच्छन्ति अपितु ते अस्माकं कृते जीवने उपयोगाय पत्राणि पुष्पाणि फलानि काष्ठानि औषधीः छायां च वितरन्ति। वृक्षाः सृष्टेराधाराः सन्ति। वृक्षाः जनानां शरीरस्वास्थ्याय अपि सन्ति। अस्माद् हेतोः पर्यावरणसंरक्षणार्थमस्माकं प्रत्येकनागरिकाणां कर्तव्यमस्ति यद् वयं वृक्षारोपणं तेषां संरक्षणार्थं च प्रयत्नं कुर्याम। तत्र वास्तुशास्त्रोक्तविधिना यदि वृक्षारोपणं तत्संरक्षणं च विधीयते चेद् न केवलं भौतिकलाभोऽपि तु आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकेतिदुःखत्रयाणां समूलं विनाशो भविष्यति। वृक्षाः समाजस्य कृते किं करोतीति विषये सुभाषितेषु एवं वर्णितं वर्तते।

**धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां मर्म्मव्यथां स्पृशति शीतभवां रुजञ्च।**
**यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥**[1]
**पुष्पपत्रफलच्छाया मूलवल्कलदारुभिः ।**
**धन्या महीरुहाः येषां विमुखा यान्तिनार्थिनः ॥**
**दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः ।**
**दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः ॥**
**तारयेद् वृक्षरोपी तु तस्माद् वृक्षान् प्ररोपयेत् ।**
**तस्य पुत्रा भवन्त्येव पादपा नात्र संशयः ॥**

॥ इति शम् ॥

❁ ❁ ❁

1. भामिनीविलासः, प्रास्ताविकविलासः - ९४

# वास्तुविद्या-मनुष्यालयचन्द्रिकादृशाद्वारविन्यासक्रमे दोषाः निवारणोपायाश्च

**– डॉ. गणेशकृष्णभट्टः**

अस्माकं पूर्वजाः ऋषिमुनयः आश्रयार्थम् आवासार्थञ्च गृहादीनाम् आवश्यकतां तथा अनिवार्यताञ्च विशेषरूपेण ज्ञात्वा काञ्चन सिद्धान्तान् प्रतिपादितवन्तः। ते च सिद्धान्ताः कालान्तरे वास्तुशास्त्रत्वेन निरूपिताः। तैरुक्ताः नानाविधसिद्धान्ताः वास्तुशास्त्रेऽन्तर्भाविताश्च। वास्तुशास्त्रमित्येतज्ज्योतिषशास्त्रैवान्तर्भूतं भवति। तत्रापि त्रिषु स्कन्धेषु अन्यतमे संहितास्कन्धे वास्तुविषयः विस्तररूपेण निरूपितो वर्तते।

वास्तुशास्त्रे गृहनिर्माणोपयोगिभुवः चयनादारभ्य गृहनिर्माणपर्यन्तं विविधा आयामाः, नियमाः, सिद्धान्ताः, निर्देशाश्च समावेशिताः। आदौ तावत् शास्त्रस्यास्य जन्म वेदकाले यज्ञभूमिचयनार्थं तथा वेदीनिर्माणार्थं चाभवदित्युच्यते। कालान्तरे सर्वजनोपयोगिरूपेण लोकाय परिचितम्। परन्त्वेतदपि ज्ञातव्यमेव यत् यज्ञादीनां पूर्वमपि मानवानामावासस्य आश्रयस्य च कल्पना जातैवासीत्। पुनश्च मानवः वासभूमिनिश्चयार्थं चिन्तनमकरोत्।

तत्रादौ द्वारादिस्थाननिर्णयः प्रकटीक्रियते। पूर्वोक्तेषु चतुष्षष्टिपद-एकाशीतिपद-शतपदवास्तुकोष्ठेषु द्वारादीनां निवेशनक्रमं निरूपयति वास्तुविद्याकारः–

**अथ द्वे प्राङ्मुखे द्वारे कुर्यात् द्वे दक्षिणामुखे।**
**द्वारे प्रत्यङ्मुखे द्वे च द्वे च कुर्यादुदङ्मुखे**[1] इति।

अर्थात् गृहनिवेशनसमये वास्तुकोष्ठे पूर्वस्यां दिशि द्वारद्वयम्, एवं दक्षिण-पश्चिमोत्तरदिशास्वपि द्वे द्वे द्वारे भवेताम्। पुनः विप्रादिवर्णेषु विशेषः वर्तते एव। तत्रादौ विप्रस्य द्वारस्थापनमुच्यते–

**माहेन्द्रे प्राङ्मुखं द्वारं प्रशस्तं शिष्टजातिषु ।**
**अपरं तु तथा द्वारं जयन्ते प्राह निश्चयात् ॥**[2]

तन्नाम महेन्द्रपदे द्वारनिर्माणं शिष्टजातीनां कृते शुभं भवति। एतद्विहाय ब्राह्मणानां कृते जयन्तपदे द्वारनिश्चयः कर्तुं शक्यते। एवं क्षत्रियाणां निवासार्थं गृहक्षतपदे द्वारं निर्मातव्यम्। तथा वैश्यानां निवासार्थं गन्धर्वपदे द्वारस्थानम् अभीष्टत्वेन स्वीकार्यम्। एवं शूद्राणां द्वारस्थापनस्थानं तु पुष्पदन्तपदे प्रोक्तम्। एवं सुग्रीवपदे, आपः पदे तथा भल्लाटपदे च सर्ववर्णीयानां द्वारं शुभदायकम् इत्युक्तम्। एवमेव तत्तद्देवतास्थानेषु स्थापितानां द्वाराणां फलं वास्तुविद्यायां पञ्चदशश्लोकैः निरूपितम्। तेषु श्लोकेषु प्रोक्तानि फलानि मया अत्र निरूप्यन्ते। तत्र आदित्यपदे द्वारं स्थापिते सति पुत्रनाशो भवति। सत्यपदे स्थापितद्वारेण मैत्रीभङ्गो भवति। भृगुपदेन गृहपतिः पृथक् सम्भवति। एवम्

1. वा. वि. 4/1
2. वा. वि. 4/2

अन्तरिक्षपदे कृते सति गृहपतिः विनाशमार्गमुपैति। अग्निपदे द्वारं स्थापिते सति यजमानस्य मृत्युः वाच्यम्। तथैव पूष्णपदे शोषणम्, दारुणकष्टम्, नाशः च जायते। वितथपदे गृहपतेः मरणम्, गृहक्षतपदे सम्पदः अभिवृद्धिः, यमद्वारेण मरणतुल्यं कष्टम्, मरणं सर्वनाशो वा वाच्यम्। एवं यदि गन्धर्वपदे द्वारं स्थापितं चेत् सर्वविधकर्मसु वृद्धिः सञ्जायते। भृङ्गराजपदे पशुधनस्य हानिः तथा सस्यादिनाशः, निर्ऋतिपदे मरणम्, तथा दौवारिकपदे लयश्च प्रोक्तम्। परं सुग्रीवपदस्थितेन द्वारेण सर्वसम्पत् लाभः, पुष्पदन्तद्वारेण च सर्वगुणानां प्राप्तिः भवति। वरुणपदे द्वारस्थापनेन मित्रेषु वैरम्, चोरेभ्यः भयं च जायते। असुरपदस्थाने नित्यं कष्टानुभूतिः, शोषपदे शुष्यते परन्तु न विनश्यति इति च कथितम्। रोगपदे स्थितेन द्वारेण गृहपतिः पाण्डुरोगी सञ्जायते। वातस्थाने तावत् गृहपतये वातेन जन्यमानाः व्याधयः जायन्ते। नागपदे सति तस्मिन् गृहे ये वासं कुर्वन्ति तेभ्यः शीघ्रमेव नागभयं भवेत्। तथा मुख्यपदे द्वारस्थापनेन शीघ्रमेव विप्रस्य प्राप्तिः एवं भल्लाटपदे गृहवासिभ्यः विशिष्टफलानां प्राप्तिः जायते। सोमस्थाने द्वारस्थापनेन व्यक्तिः सदैव याज्ञिकः धार्मिकश्च सम्भवति। अर्गलपदस्थितेन द्वारेण यजमानः जलेन म्रियते। अदितिपदे उदररोगः, दितिपदे तावत् सपत्नीककुलस्य विनाशश्च प्रोक्तः। रुद्रस्थाने यदि द्वारस्थापनं कृतं तर्हि गृहं वह्निना दह्यते। एवं पर्जन्ये धननाशः, जयन्ते च सर्वत्र जयमाप्नोति। ततश्च यदा माहेन्द्रपदे द्वारस्थापनं क्रियते तदा माहात्म्यं प्राप्नोति गृहकर्ता इत्थं पदेषु द्वारस्थापनस्य फलं विस्तरेण निगदितं ग्रन्थकारेण, शास्त्रकारैश्च।

अधुना बहिर्द्वारनिवेशनस्थाने कथयति ग्रन्थकारः –

**यत्रोन्नतं ततो द्वारं यत्र निम्नं ततो गृहम् ।**
**गृहे चाप्यष्टमे राशौ तत्र द्वारं न कारयेत् ॥**[1] इति।

अर्थाद्यत्र औन्नत्यं वर्तते तत्र द्वारम्, तथा यत्र निम्नं विद्यते तत्र गृहस्य विन्यासः कार्यः। तथैव गृहकर्ता यजमानः यः वर्तते तस्य जन्मराशितः गणना कार्या। एवं गणनया यदा अष्टमराशिरायाति, तस्मिन् स्थाने कदापि द्वारविन्यासः न कार्यः इत्युक्तम्। ततः – **गृहक्षते च माहेन्द्रे ब्राह्मणानां प्रकीर्तितम्**[2] इति सार्धश्लोकेनैकेन विप्रस्य प्रतिनियतम् अपरं द्वारस्थापनं प्रोक्तं ग्रन्थकारेण। अर्थादत्र ब्राह्मणानां कृते निर्मीयमाणगृहे गृहक्षतपदे अथवा माहेन्द्रपदे एव द्वारं विन्यसेत्। महीधर-सोम-भल्लाट-अर्गलपदेषु अन्यतमभूते शयनगृहस्य निर्माणं कर्तुं शक्यते। पुनश्च शयने तावत् पूर्वस्यां दिशि शिखा भवेदिति ज्ञातव्यमेव। अधुना क्षत्रियस्य प्रतिनियतं प्रोक्तं वास्तुविद्यायाम् –

**गृहक्षते पुष्पदन्ते द्वारं स्यात् क्षत्रियस्य तु।**
**वितथे चान्नभूमिं च गोष्ठागारं तथासुरे।**
**स्थानभूमिं च गन्धर्वे सदा कुर्यात् विशेषतः ॥**

क्षत्रियाणां कृते निर्मीयमाणे गृहे गृहक्षतपदे पुष्पदन्तपदे वा द्वारस्थापनं कार्यम्। एवं वितथपदे भोजनगृहं तथा असुरपदे गोष्ठागारं विन्यसेत्। तथैव गन्धर्वपदे स्थानभूमिः निर्मातव्या। वैश्यस्य कृते द्वारादिस्थानं श्लोकद्वये कथ्यते। तस्मै भल्लाटपदे पुष्पदन्तपदे वा स्थापितं द्वारं शुभं जनयति। यमपदे वैवस्वतपदे गन्धर्वपदे गृहक्षतपदे वा शयनप्रकोष्ठः निर्मातव्यः। प्राक्शिरोभूत्वा शयनं प्रकर्तव्यमिति विदुषां वचनम्। पूषापदे अथवा वरुणपदे अथवा पूर्वदिशां

1. वा.वि. 4/20
2. वा.वि. 4/21

प्रति प्रोक्तपदेष्वन्यतमे पाकशाला निर्मातव्या। एवं गन्धर्वपदे आस्थानमण्डपः तथा असुरपदे गोष्ठागारः करणीयः। पैतृकपदे तावत् गर्भभूमिः प्रकुर्यात् वैश्यः इति विदुषामभिप्रायः। शूद्राणां तु - भल्लाटे च महेन्द्रे च द्वारे शूद्रस्य पूजिते इति श्लोकत्रये द्वारादिस्थानं प्रोक्तम्। अर्थात् शूद्रेण भल्लाटपदे महेन्द्रपदे वा द्वारं स्थापनीयम्। सुग्रीव-पुष्पदन्त-मित्र-वरुणपदेष्वन्यतमपदे शयनगृहस्य द्वारं भवेत्। परन्त्वेषः नियमः न केवलं शूद्राणाम्, अपि तु सर्वसाधारणोऽयं वर्तते। दौवारिकपदप्रमाणानुसारं पैतृकभूमेः अर्थात् रुद्रभूमेः निर्धारणं कर्तव्यम्। पूषापदे पाकशाला, असुरपदे च गोष्ठागारः, तस्य तस्य द्वारं वा विद्यात्। स्थानभूमिः अर्थात् आस्थानमण्डपः सर्वदा गन्धर्वपदे एव भवेद् इति प्रोक्तम्।

पादाधिष्ठान-लुपाकरणादीनां कथनात्परम् अधुना द्वारविन्यासः निरूप्यते। तदङ्गतया अवनतयन्त्रेण भूमेः समीकरणमपि कथ्यते। तत्रादौ अवनतयन्त्रस्य लक्षणं उक्त्वा तेन समतलनिर्माणप्रकारं प्रतिपादयति वास्तुविद्याकारः यथा– **अथ कुर्यादवनतं पट्टिकाभिस्त्रिभिः पुनः।**[1] अत्रादौ अवनतयन्त्रस्य लक्षणोक्तप्रकारेण समतलकृते स्थाने पट्टिकात्रयम् अवनतरूपेण स्थापनीयम्। ताः पट्टिकाः त्रिकोणरूपेण पञ्चविंशत्यङ्गुलान्तरे संस्थापनीयाः। तदनन्तरं जलेन तलस्यार्थात् भूमेः समतलत्वं वीक्ष्य तत्र शङ्कुद्वयं स्थापयेत्। जलोपरि समानरूपेण कीलैः प्रमाणं स्वीकृत्य कोणत्रयात्मकयन्त्रस्य पार्श्वपट्टिकासु सम्भावयेत्। एवं क्रमेण अवनतयन्त्रविधिना शङ्कुं स्थापयित्वा सूत्रं प्रसारणीयम्। सूत्रमेतत् तिर्यक्पट्टिकायाः अङ्ककुंगतेरवलोकनार्थमपेक्षितम्। अत्र पार्श्वयोः अन्तरमुन्नतं भवति। अङ्कस्य एवं सूत्रस्य संयोगं सूक्ष्मरूपेण ज्ञात्वा भूतलस्य निम्नोन्नती समीकुर्यात्। सामान्यः अर्थः एवं भवति यत् द्वारस्थाने भूमिः एकरूपा अथवा समतला कार्या इत्येव। इत्थं प्रथमं भूपृष्ठं समीकृत्य अनन्तरं गृहाधिष्ठानाधारतया उपपीठमित्येकमवयवं योजयेदिति पुनरुच्यते वास्तुविद्यायाम् – **अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठं प्रयोजयेत्।**[2] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भूपृष्ठं समीकृत्य परम् अधिष्ठानस्य अधोभागे उपपीठस्य प्रयोगः करणीयः। एवंरूपेण स्थापितमुपपीठं भवनस्य औन्नत्यर्थम् अत्यन्तं सुदृढरूपेण निर्मातव्यम्। तथा तदुपपीठं शोभाजनकमपि भवति। सम्प्रति अस्योपपीठस्य प्रमाणमुच्यते - **समं त्रिपादमर्धं वा पञ्चांशद्व्यंशमेव वा**[3] इति। उपपीठस्य प्रमाणम् अधिष्ठानस्य समं, त्रिपादम्, अर्धं, पञ्चांशं, द्व्यंशं, सपादम्, सार्धं, पादोनं, द्विगुणं, पादोनद्विगुणं वा प्रमाणं स्वीकृत्य उपपीठस्य निर्माणं कार्यम्। एवमेव पादुकाख्यप्रथमावयवात् उपपीठस्य निष्क्रमणं कथ्यते - **आद्यङ्गपादुकस्य निष्क्रमं करमानतः**[4] इति। अत्र आद्यङ्गमिति अधिष्ठानस्यैव नामान्तरम्। निष्क्रामो नाम विस्तारः। तस्मात् आद्यङ्गात् अर्थात् अधिष्ठानात् करमानमितं, पादोनकरमितं, सपादकरमितं, सार्धकरमितं, पादोनद्वितयकरमितं, किष्कुद्वयकरमितं वा विस्तारयुक्तम् उपपीठं रचनीयम्। इत्थमत्र षट् प्रकारकोपपीठविस्तृतिः निरूपिता। अग्रे जलप्रणालीस्थानम् **उपपीठबहिर्भागमवाटाङ्गणमीरितम्**[5] इति श्लोकेनोक्तम्। जलप्रणालीत्यस्य जलमार्ग ईत्यर्थः। उपपीठस्य बहिर्भागात् अवटाङ्गणं कर्तव्यम्। तन्नाम गृहस्यान्तर्भागस्थमङ्गणमित्यर्थः। तच्च अवटाङ्गणम् उपपीठात् बहिर्भागे ईशान्यकोणे निर्मातव्यम्। कदाचित् प्राङ्मुखमपि भवितुमर्हति इति ग्रन्थकारेणोक्तं श्लोके दृश्यते।

---

1. वा. वि. 13/1-4
2. वा. वि. 13/05
3. वा. वि. 13/6-7
4. वा. वि. 13/8-9
5. वा. वि. 13/10

मनुष्यालयचन्द्रिकायां **कुर्याद् गृहाय कृतवास्तुपदं समस्तम्**[1] इति श्लोके गृहाय वास्तुपदं निर्मातव्यमित्युक्तम्। गृहस्य अधोभागाद् बहिर्भागाद् अन्तर्भागस्थे चाङ्गणे जलं यथा न तिष्ठेत् तथा कर्तुम् एवम् अन्तस्थाङ्गणे विद्यमानस्य निम्नत्वस्य निवारणार्थञ्च सम्पूर्णे निवासस्थाने मृत्तिकया, शिलया अथवा अन्येन वस्तुना वा अष्ट-द्वादश-षोडशाङ्गुलपरिमित्या औन्नत्यं कार्यम्। यतो हि भवननिर्माणे वास्तुपदं तावत् अतीवमुख्यम्। तद्यदि दृढं न भवति तर्हि निर्मितभवनं कदापि पतितुमर्हति। तस्मात् पञ्चाङ्गमपि दृढं भवेत्। तथैव निवेशनस्थानं दृढं विद्यते चेदपि तां भूमिं समतलात्मिकां कृत्वा सामान्यभूतलाद् अष्ट-द्वादश-षोडशाङ्गुलमितरूपेण कर्तव्यम्। अनन्तरं तस्योपरि गृहनिर्माणं कार्यम्। अत्र भारतीयवास्तुशास्त्रज्ञैः न केवलं भित्तिनिर्माणस्थानम्, अपि तु सम्पूर्णं निवेशनमेव भद्रं दृढं च भवेदित्युक्तम् इत्यवगम्यते। आधुनिककाले प्रधानतया जनाः स्तम्भ - भित्तिनिर्माणस्थानमेव भद्रं दृढं च कांक्षन्ति। अग्रे उपपीठरचना तथा निवेशस्थजलमार्गं च कथ्यते– **रक्षाशोभोच्छ्रयार्थं सकलनिलयमासूरतोऽधः समन्तात्**[2]**।** अत्र सर्वेषां गृहाणां पञ्चाङ्गस्य अर्थात् अधिष्ठानस्य अधोभागे गृहस्य रक्षणार्थं सौन्दर्यार्थम् एवम् उन्नत्यर्थं च अष्टाष्टाङ्गुलानां संयोजनेन एकहस्तपरिमितं वा द्विहस्तपरिमितम् उपपीठं रचयेत्। अन्तः गर्ताङ्गणे तावद् दक्षिणोत्तरस्य आदितः आन्तमपि वृषभयोनिः ध्वजयोनिर्वा भूत्वा निवेशनस्य जलम् ईशान्यदिशि यथा गच्छेत् तथा उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि जलमार्गः करणीय इत्युक्तम्। पुनः गेहाधिष्ठानोच्चतुल्यो रसादि.... इत्यत्र मनुष्यालयस्योपपीठस्य औन्नत्यम् अधिष्ठानस्यौन्नत्यं प्रति समानं स्यात् अथवा अधिष्ठानस्य औन्नत्यस्य षट्सु पञ्चभागमितम्, सप्तसु षड्भागमितम्, अष्टसु सप्तभागमितम्, नवसु अष्टभागमितम्, दशसु भागेषु नवभागमितं वा उपपीठस्य औन्नत्यं भवेदेव। पादुकादीतरावयवानां तस्य तस्य औन्नत्यं विभज्य रचयेद् इत्युक्तम्। इतरावयवास्तु पादुका, जगतिः, कुमुदः, गल इत्यादयः।

इत्थं ग्रन्थद्वयेऽपि उपपीठरचना जलमार्गनिर्माणविधिश्च निरूपितः। उपपीठनिर्माणक्रमे कश्चन भेदः ग्रन्थद्वये दृश्यते। यतो हि वास्तुविद्यायां समम्, त्रिपादम्, अर्धम्, पञ्चांशम् इत्यादीनि प्रमाणानि स्वीकृत्य उपपीठं निर्मातव्यम् इत्युक्तम्। तथैव करमानव्यत्यासेन उपपीठस्य निष्क्रमणमर्थात् विस्तारः अपि निरूपितः। मनुष्यालयचन्द्रिकायां तु प्रत्येकम् अष्टाङ्गुलयोजनेन एकहस्तमितम्, करद्वयमितं वा उपपीठं निर्मातव्यमित्युक्तम्। तस्माद् उपपीठनिर्माणप्रमाणे एव ग्रन्थद्वयेऽपि व्यत्यासः दृश्यते। तदर्थमङ्गणस्य समतलत्वं कार्यमिति द्वितयेऽपि प्रोक्तमेव। अतः अत्र कश्चन भेदः वाच्यः।

इत्थं द्वारविन्यासार्थं बहवो विषयाः प्रतिपादिताः। सन्दर्भानुगुणं गृहनिर्माणसमये सर्वमवलोक्य कार्यं साधयामश्चेत् दोषाः समस्याः वा समीपं नायान्ति इति वदन् अत्रैवोपसंहरामि।

❀ ❀ ❀

1. म. चं. 05/01
2. म.चं. 5/02

# ग्रामस्य मुख्यद्वारम्

**– डॉ. अश्वनीकुमारः**

वास्तुशास्त्रस्यानुसारं कस्यापि भवनस्य प्रासादस्य कार्यालयस्य वा मुख्यद्वारं बहुमहत्त्वं धत्ते । गृहस्य समृद्ध्यर्थं परमावश्यकमस्ति यत्सर्वप्रथमं तस्य मुख्यद्वारस्य दिशा दशा च सम्यग्रूपेण निर्धारिता भवेत् । यथा मानवशरीरे मुखस्य महत्ता भवति, तथैव भवन-प्रासाद-गृह-कार्यालयाणां मुख्यद्वारस्यापि महत्त्वं भवति ।

तत्र मुख्यद्वारं सदैव अन्यद्वारानामापेक्षया सुविस्तृतं दीर्घं सुसज्जितं च भवेत् । वास्तुसिद्धान्तानामनुसारं सकारात्मकदिशि द्वारं गृहस्वामिने लक्ष्मीं, वैभवञ्च प्रददाति, एतद्विपरीतं नकारात्मकदिशि मुख्यद्वारं जीवने समस्यां जनयति । अतः भवनादीनां द्वाराणां निर्माणकाले वास्तुशास्त्रस्य नियमानां परिपालनं कर्त्तव्यम् । प्रसंगेऽस्मिन् विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विश्वकर्मणा कथितं यत्-शुभ-मुहूर्त्त-समय-दिवस-कालतिथ्यादिसर्वान् निरीक्ष्यैव स्वहस्ते कङ्कणादिं धारयित्वा पवित्रमनसा स्वस्य इष्टदेवस्य भक्तिपूर्वकमर्चनां कुर्यात् । समस्तमंगलघोषस्वस्तिवाचनादिभिः सह शिल्पी गृह-भवन-प्रासादानां वास्तुस्थलस्य प्रदक्षिणां कुर्यात्तथा च तस्य कृतेऽत्यावश्यकस्य मुखद्वारस्य परिकल्पनां कुर्यात् ।[1]

**ग्रामे वास्तुकल्पना -**

**गृह-नगर-ग्रामेषु च सर्वत्रैव प्रतिष्ठिता देवाः ।**
**तेषु च यथानुरूपं वर्णा विप्रादयो वास्याः ॥**[2]

यथा गृहे वास्तुपुरुषोऽस्ति तथैव सम्पूर्णग्रामनगरयोरपि वास्तुपुरुषस्य कल्पनां कृत्वा मर्ममहामर्म-स्थानयोर्भेदनं न कर्त्तव्यमेवञ्च यथोचितदिग्भेदेन वर्णानुसारं जनानां बोधनं कर्त्तव्यम्।

वर्णानां वासस्थानम् - ग्रामनगरयोर्यथासम्भवमुत्तरदिशि ब्राह्मणवर्णः, पूर्वदिशि क्षत्रियवर्णः, दक्षिणदिशि वैश्यवर्णस्तथा पश्चिमदिशि शूद्रवर्णस्यावासो भवेच्चेद्विशेषशुभं भवति।[3]

**नगरे गृहे वा कोणविचारः -**

ग्राम-नगर-गृह-भवनादिषु चतुर्षु कोणेषु ईशानकोणे चरकी, अग्निकोणे विदारी, नैर्ऋत्यकोणेपूतना, वायव्यकोणे राक्षसी च निवसन्ति। अतः ग्रामनगरयोरेतेषु कोणेष्वन्त्यज-श्वपच-चाण्डालादीनां हीनकर्मजनानां

---

1. 'शुभे मुहूर्त्ते सुदिने स्थपतिर्धृतकंकणः। शुचिः शुद्धमना भक्त्या पूजयित्वेष्टदेवताः ॥'
   'सर्वमंगलघोषैश्च स्वस्तिशब्दैश्च शिल्पिभिः । वास्तुं प्रदक्षिणीकृत्य मुखद्वारं प्रकल्पयेत् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, २५.१-२
2. बृहत्संहिता, ५२.६७
3. 'वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुदग्दिगाद्यानि । विशतां च यथा भवनं भवन्ति तान्येव दक्षिणतः ॥' बृहत्संहिता, ५२.६८

निवासः कर्त्तव्यः।[1] ग्रामस्य सामूहिकद्वारस्य व्यवस्थायां पिण्डस्य दैर्घ्यभागस्याथवा यस्यां दिशि द्वारनिर्माणं करणीयं तस्याः विस्तारस्य नवभागान् कृत्वा पूर्वादिदिक्क्रमानुसारं द्वारनिर्माणं कर्त्तव्यम्, पूर्वदिशि तृतीयचतुर्थभागयोः, दक्षिणदिशि चतुर्थषष्ठभागयोः, उत्तरपश्चिमदिशौ च चतुर्थपञ्चमभागयोर्द्वारं शुभं भवति ।[2]

मण्डकादिसर्वविधग्रामाः भवेयुर्दुर्गो भवेयुरथवा नगरपुरादयो भवेयुस्तेषां मुख्यद्वाराणि व्यक्तरूपेण निर्धारितमानानुसारेण कल्पितानि भवितव्यानि। येषां पथिको दूरादेव ग्रहणं कर्त्तुं समर्थो भवेत्।[3] 'ग्रामस्य मुख्यद्वारमेवं सुव्यक्तं भवेत् यत् तस्य सम्मुखे गोपुरस्य महामण्डपस्य वा स्थापना सुलभा भवतु । तत्र महास्ताम्भस्य निर्माणमपि भवितुमर्हति तथा च वर्धनशीलमहावृक्षस्यापि स्थापना भवितुमर्हति[4]। तत्र ईष्टिकासुधाभिरट्टापथस्तम्भस्य निर्माणं कर्त्तुं शक्यते। अनेनैव प्रकारेण तत्र समयसूचनार्थं घण्टागृहस्य निर्माणमपि भवितुमर्हति। मुख्यद्वारस्य पार्श्वे तडागः सघनवृक्षावली चापि सौन्दर्यवर्धने सहायकौ स्तः। एवं तत्र पेयजलार्थं जलाशयस्य निर्माणमपि भवितव्यम्। मुख्यद्वारस्थले नानास्थानानि स्थापयेत्।[5] ग्रामस्य सुरक्षानिमित्तं मुख्यद्वारे सदैव सायुधैर्योधगणभट्टान् नियुक्तं कर्त्तव्यम्। विशेषप्रकारेण एभिर्द्वारस्य रक्षा कर्त्तव्या।[6] तत्र एकस्य द्वयोः त्रयाणां चतुर्णां वा अन्यक्षेत्रेभ्य आगतानां महापथानां मेलनस्थानं निर्मितव्यम्। एवञ्च तत्र विहारस्थलानां दर्शनीयस्थलानामपि स्थापना कर्त्तव्या[7]। एवं तत्र महापणव्यापारस्य आपणाः भवितव्या ये विविधसामग्रिद्रव्यैः पूरिता स्युः। एतदतिरिक्तं तत्र वार्षिक-मासिकरूपैरापणानां व्यवस्थाऽपि कर्त्तव्या, विशेषरूपेण लोह-काष्ठ-शिला-वेण्वादीनां विपणस्थलमपि भवेत्[8]। द्वारस्य दूरभागे कोणेष्वेव यत्र-कुत्र चाण्डाल-पुलिन्द-किरातादीनां कृतेऽपि स्थानस्याबण्टनं कर्त्तव्यम्। निम्नवर्गस्य समुदायस्य व कृतेऽपि तत्र दिशः कोणेषु स्थानं प्रदाय आवासस्य व्यवस्था कर्त्तव्या। उपलब्धभूम्यनुसारं तत्र द्वारस्य समीपभागे एव यव-अन्नादिभ्यः तुषनिष्कासनाय खलस्थानस्य निर्माणमपि कर्त्तव्यम्।[9] एतदतिरिक्तं ग्रामस्य मुख्यद्वारं नृत्तस्थलेन युक्तं लोहकार्यालययुक्तं वा कर्त्तव्यम्। एवं प्रकारेण शिल्पी नगरस्य मुख्यद्वारं सुखदरूपेण

---

1. 'ऐशान्यादिषु कोणेषु संस्थिता बाह्यतो गृहस्यैताः । चरकी विदारिनामाऽथ पूतना राक्षसी चेति ॥'
   'पुरभवनग्रामाणां ये कोणास्तेषु निवसतां दोषाः । श्वपचादयोऽत्यजात्यास्तेष्वेव विवृद्धिमायान्ति ॥' बृहत्संहिता, ५२.८१-८२
2. 'दैर्घ्ये नवांशा पदमत्र सव्याद् द्वारं शुभं प्राक्त्रिचतुर्थभागे ।
   चतुर्थषष्ठे दिशि दक्षिणस्यां पश्चाचतुःपञ्चमके तथोदक् ॥' स. शि. २०.११७ ,वास्तुसारः
3. 'ग्रामाणापि सर्वेषां दुर्गुणञ्च पुरामपि । मुख्यद्वारं व्यक्तरूपं यथामानं प्रकल्पयेत् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.१
4. 'गोपुरस्थापनाद्वापि महामण्टकल्पनात् । महास्तम्भस्थापनाद्वा महावृक्षप्रवर्धनात् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.२
5. 'अट्टापथस्थापनाद्वा घण्टास्थानप्रकल्पनात् । तटाकसहितं वापि सन्निकृष्टमहीरुहम् ॥'
   जलाशययुतं वापि नदीह्रदसमन्वितम् । विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.३
6. 'सुरक्षितं योधगणैर्भटैर्वा भृत्यकैरपि । सायुधन्तु पुरद्वारं रक्षणीयं विशेषतः ॥'विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.४
7. 'एकं द्वयं त्रयं वापि चतुष्कं मेलनं भुवः । विहारस्थानकोपेतं दर्शनस्थानकं तथा ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.५
8. 'महापणश्रेणियुतं भूरिद्रव्यैर्युतं क्वचित् ।' 'वार्षिकं मासिकं स्थानं पाक्षिकं वा क्वचिन्मतम् ।
   लोह-दारु-शिला-वेणुक्रयस्थानादिसंयुतम् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.६ (श्लोकांशः)
9. 'तद्दुरभागकोणेषु चण्डालानामपि क्वचित । पुलिन्दानां किरातानां मांसविक्रयाणामपि ॥'
   'नीचानामपि दिक्कोणे स्थानं भूमिवशान्नयेत् । स्थलयोग्यं खलस्थानं क्वचित्तत्रैव कल्पयेत् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.१०

कल्पितं कुर्यात् ।[1]

**द्वाराणां शुभस्थितिमाह -** आदित्यस्य स्थाने द्वारस्थापने सति अर्थस्य हानिर्भवति। यमस्य स्थाने द्वारकल्पनात् पुत्रस्य मृत्युः तथा च सोमस्य स्थाने द्वारस्थापनेन कुलस्य क्षयो भवति। आग्नेयकोणे द्वारस्थापनेन अग्निभयं भवति। पूषायाः स्थाने द्वारस्थापनेन द्वारं सम्पतिकारकं भवति। वितथस्थाने द्वारस्थापनेन सर्वदा आरोग्यता आयाति, तथा च गृहक्षतस्थाने द्वारस्थापनेन द्वारं बलप्रदायकं भवति। यमस्थाने श्रीः तथा च गन्धर्वस्थाने द्वारस्थापनेन मृत्युर्भवति। भृङ्गराजस्थाने धनप्राप्तिः पुत्रप्राप्तिश्च भवति। मृगस्थाने सूर्य स्थाने वा द्वारस्थापनेन वैक्रम्यस्य प्राप्तिर्भवति। पितृस्थाने द्वारस्थापनेन आयुवृद्धिः, दौवारिकस्य अंशे द्वारस्थापनेन सम्पत्तिवृद्धिश्च भवति। सुग्रीवस्थाने द्वारस्थापनेन कृषिकार्ये प्रचुरता एवञ्च पुष्पदन्तस्य स्थाने द्वारस्थापनेन सम्पदा आयाति। वरुणस्थाने स्थापनद्वारमारोग्यदायकं भवति । असुरस्थाने द्वारस्थापनेन क्षयो भवति। शेषस्य स्थाने द्वारं क्षयप्रदं तथा च भल्लाटस्य स्थाने स्थापितद्वारमर्थवर्धकं भवति। सोमस्य स्थाने द्वारस्थापनेन क्षीणतायां वृद्धिर्भवति। पर्वतस्थाने नागस्थाने वा द्वारस्थापनेन बहूद्वेगो भवति। अतः यस्मिन् स्थाने अभिवृद्धिर्भवति, तन्मानानुसारं द्वारं परिकल्प्यते।[2]

**वास्तुदृष्टया द्वारदोषाणां परिहारोपायः -**

वास्तुशास्त्रस्यानुसारं कस्यापि भवनस्य प्रासादस्य वा मुख्यद्वारस्य बहुमहत्त्वं भवति। वास्तुशास्त्रं अस्मान् सकारात्मकनकारात्मकोर्जायाः सन्दर्भे तस्य महत्त्वसन्दर्भे वा ज्ञापयति । सकारात्मकोर्जायाः वृद्धौ सति गृहे प्रसन्नता आगच्छति, तथा तत्र नकारात्मकोर्जायाः वृद्धौ सति दुःखं रुग्णता चायाति। अतः अनया नकारात्मकया ऊर्जया गृहे वास्तुदोषं सम्प्राप्यते। यस्या उपस्थितेरनुमानं केनाऽपि न क्रियते। वास्तुशास्त्रस्यानुसारं गृहस्य मुखद्वारं बहुमहत्त्वपूर्णमुपयोगि च भवति। द्वारनिर्माणकाले अस्य द्वारस्य दिग्वर्णयोर्ज्ञानमवश्यमेव करणीयम् । द्वारनिर्माणेऽन योरतिमहत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। यथा कया दिशा गृहे सकारात्मकाया ऊर्जायाः तथा च कया दिशा गृहे सकारात्मकाया ऊर्जायाः प्रवेशो भवति। अतः सर्वप्रथममिदमावश्यकमस्ति, यत् गृहनिर्माणकाले मुख्यद्वारस्य दिशं दशाञ्च सम्यग्रूपेण वास्तुशास्त्रानुसारेणैव विचिन्तयेत्। मुख्यद्वारं सर्वदा सर्वथा च अन्यद्वाराणामपेक्षया बृहत् व सुसज्जितञ्च भवेत्। वास्तुसिद्धान्तानुसारं सकारात्मकदिग्युक्तं द्वारं गृहस्वामीं लक्ष्मी-ऐश्वर्य-परिवारिकसुख-वैभवादिकञ्च प्रददाति। परञ्च नकारात्मकदिग्युक्तं द्वारं गृहस्वामीजीवने समस्यान् उत्पादयति। अतः भवनस्य मुख्यद्वारनिर्माणकाले प्रयत्नपूर्वकं विचारः करणीयः। तत्र द्वारस्य वेधत्यागः प्रयत्नपूर्वकं करणीयः।

गृहस्य यावतोच्चता भवति तया द्विगुणितं दूरं विद्यमाने स्थाने वेधपदार्थो भवति चेत् मुख्यद्वारनिर्माणे कोऽपि दोषो न भवति । स वेधः गृहस्वामीकृतेऽथवा गृहिणीकृते दोषकारको न भवति । यदि गृहस्योच्चतायाः समानदूरमेव मुख्यद्वारस्य वेधोऽस्ति चेत् गृहस्वामिनो वेधो भवति, परञ्च गृहिणीकृते दोषकारको न भवति । यतो हि गृहिणी गृहाऽर्धा भवति। विश्वकर्मप्रकाशेऽप्युक्तमेव[3] यदि कस्याऽपि भवनस्य द्वारं वृक्षेण वेधितम्, कर्णवेधेन युक्तम्, स्थूणा

1. 'नृत्तस्थलयुतं वापि लोहकार्यालयान्वितम् । मुख्यद्वारं कल्पनीयं सुखदं शिल्पिभिः क्रमात् ॥' विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, ६७.११
2. वास्तुमञ्जर्यामप्युक्तम् श्लो. ३४४-३४९
3. 'द्वारवेधं तु यत्नेन सर्वथा परिवर्जयेत् । गृहोच्छायाद द्विगुणितं त्यक्त्वा भूमिं बहिस्थितः ॥'
'न दोषाय भवेद् वेधो गृहस्य गृहिणीस्तथा । गृहार्धं गृहिणी ज्ञेया गृहात्पूर्वोत्तरा शुभ ॥' विश्वकर्मप्रकाशः, ७.९७-९८

वेधितं, कूपेन वा वेधितं स्यात्तर्हि तद्वारं दोषयुक्तं भवति । भवनस्य मुख्यद्वारसम्मुखे यदि कोऽपि निर्मित्तदेवालयः, काऽपि वीथिका, बाम्बी-भस्मस्थानञ्च शिराममर्मादिविद्धकानि स्थानानि सन्ति चेत्तदा तं द्वारं विषनाडीसमानमेव ज्ञातव्यम् । अनेन द्वारेण युक्तं भवनं बह्वशुभकारकं मन्यते । द्वारं सुष्ठुपदस्थाने भवेत्, तथा च मुख्यद्वारं भवनस्य रक्षां करोति, तस्मात् तद्वारं बहुस्थूलीकृतं सदृढं सौन्दर्ययुक्तञ्च भवेत् । यथा मयमतग्रन्थेऽप्युक्तमस्मिन् विषये[1]- गृहस्य मुख्यद्वारस्य रोधनं न कर्त्तव्यम् तत्कृते तस्य पिहितद्वारस्य पृष्ठभागे अन्यद्वारस्य निर्माणं न कर्त्तव्यम्, हि मुखद्वारस्य रोधनं निश्चितरूपेणैव कुलनाशस्य कारकं भवति । यस्य द्वारस्य कपाटं बलेन विना स्वयमेवोद्घाटितं भवति, तद्वारमशुभफलदायकं भवति। निर्धारितशास्त्रोक्तमानात् न्यूनमथवाऽधिकं द्वारं निर्मीयते चेत्तदप्यशुभं भवति। तत्र यदि वास्तुशास्त्रमानान्न्यूनं द्वारं भवति, तर्हि गृहे सन्तापप्रवेशो भवति तथा च वास्तुशास्त्रमानादधिकं भवेच्चेदपि राजभयं भवति । यदि द्वारमर्ध खण्डितं तदा तद्दलवेधः कथ्यते। विश्वकर्मप्रकाशे यथोक्तम्-[2] वास्तुशास्त्रस्यानुसारं विभिन्नदिक्षुर्निर्माणकार्ये पूर्वनिर्मितगृहे वा वास्तुदोषः सम्भवोऽस्ति। अनेन प्रकारेण सर्वे द्वारवेधाद् दुर्भागः, निधनम्, रोगः, दरिद्रता, कलहः, विरोधः, अर्थनाशश्चेति भवति । विश्वकर्मप्रकाशस्यानुसारं गृहं परितः शुभवृक्षाः तथा विभिन्ननिर्माणानि कर्त्तव्यानि। गृहस्य पूर्वदिशि फलयुक्तवृक्षाः स्थापयेयुः। दक्षिणदिशि क्षीरयुक्तावृक्षाः शुभफलदायकाः भवन्ति । पश्चिमदिशि जलाशयो श्रेष्ठो भवति, यस्मिन् पङ्कजोत्पत्तिरपि विद्यमाना भवेत्।

गृहं परितः परिखा-वलय-वृत्तादीनां निर्माणं कर्त्तव्यम्। दक्षिणदिशि तपोवनस्य स्थाननिर्माणं तथा उत्तरदिशि च मातृकागृहस्य निर्माणं कर्त्तव्यम्। पश्चिमदिशि श्रीलक्ष्मीनारायणस्य देवालयं, वायव्ये नवग्रहाणां पङ्क्तिञ्च स्थापयेयुः । उत्तरदिशि यज्ञशालां तथा निर्माल्यस्य स्थानञ्च स्थापयेत् । पश्चिमदिशि सोमदेवस्य स्थानं बलिनिर्वपणाय स्थापयेत् । द्वारमुभयतः स्वस्ति-तुलसीवृक्षादि स्थापयेत्।

ईशानकोणे जलवापीं निर्मययेत् तथा च जलशायी-विष्णोः स्थानमपि भवेत् । द्वारे सिद्धगणपतेः स्थापना कुर्यात् । एवं प्रकारेण देवगणानां स्थानानि तेषां शुभमण्डपैः सह कारयेत् । अनेनैव क्रमेण यः प्रसन्नमनसा कस्यापि स्वेष्टदेवालयस्य निर्माणं करोति, सः यदि घण्टा-वितानक-तोरणदिभिः देवालयमलङ्कृत्य नित्यपूजां करोति, तस्य गृहे लक्ष्मीः सदैव तिष्ठति ।[3] यो द्वारार्चनविधिं बलिदानञ्च कृत्वा द्वारस्य मुखे एकं महाध्वजं स्थापयति, तस्य पुत्र-स्त्री-धनादिषु वृद्धिर्भवति । तस्य सर्वकार्याणि सफलानि भवन्तीति ।[4]

❁ ❁ ❁

1. 'देवायतनविद्धं च विथिधि (धि?) विद्धं तथैव च । वल्मीकभस्मविद्धं च सिराममर्मादिविद्धकम् ॥'
   'विषनाडीसमानं च फणयोः पद्मेव च । स्थूलभावावनं रक्षाद्वारं तद् (तु?) लसितं वरैः ॥' मयमतम्, ३०.३९-४०
2. 'पिहिते मुखद्वारे तु कुलनाशे भवेद् ध्रुवम् । पृष्ठद्वारे सर्वनाशः स्वयमुद्घाटिते तथा ॥'
   'मानोने व्यसनं कुर्यादधिके नृपतेर्भयम् । अर्धखण्डं यदि द्वारं दलवेधं विनिर्दिशेत् ॥' विश्वकर्मप्रकाशः, ७. श्लो. १००-१०१
3. विश्वकर्मप्रकाशः, ७. श्लो. ११५-१२०
4. एवं द्वारार्चनविधिं कृत्वा द्वारबलिं ततः । महाध्वजं द्वारमुखे प्रवेशसमये कृतम्॥ विश्वकर्मप्रकाशे यथोक्तम् ७. श्लो. १२१

# लङ्कादेशस्य स्थानपरिकल्पनायां भेदः वर्तमानस्थितिश्च

**– अंशुलकुमारदुबे**

सिद्धान्तग्रन्थेषु सर्वत्र मध्यमभूपरिधि-स्पष्टभूपरिध्योः साधनं क्रियते। मध्यमभूपरिधिः पृथिव्याः मध्यमस्थानाद्गच्छति ,भूमेः मध्यस्थानमेवनिरक्षस्थानं कथ्यते। निरक्षदेशो उत वा स्थानं नाम यत्र अक्षांशस्य अभावः स्यात् । क्षितिजात् ध्रुवोन्नतिरेव अक्षांशः। गोले समस्थानयोः ध्रुवस्थानयोः अन्तरमक्षांशः। निरक्षदेशे अक्षांशस्य अभावः भवति अतः तत्र क्षितिजसंलग्ने ध्रुवतारे याम्ये उत्तरे च दृश्येते। निरक्षदेशीयस्थानानां ग्रन्थेषु वर्णनं दृश्यते, निरक्षस्थानेष्वेव लङ्का परिगण्यते । अतः तस्य वर्णनं सूर्यसिद्धान्ते-

**राक्षसालयदैवौकः शैलयोर्मध्यसूत्रगः रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः।**[1]

सिद्धान्तशिरोमणौ-

**यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान्स्पृशत् ।**

**सूत्रं मेरूगतं बुधैर्निगदितं स मध्य रेखा भुवः ॥**[2]

लङ्कादेशस्य प्रसंगः सूर्योदयसूर्यास्तयोः साधने अहर्गणसाधने लग्नसाधने च दरिदृश्यते यथा – **लङ्कायामार्धरात्रिकः**[3] सावनाहर्गणसाधने लङ्कादेशीयार्धरात्रिकालिकाहर्गणं साध्यते।

सूर्योदयविषये-

**लङ्कापुरोर्कस्य यदोदयः स्यात् तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्याम् ।**[4]

देशान्तरं तथा रेखापुराणां वर्णने –

**लङ्काकुरुक्षेत्रदेवकन्याः सिताद्रिरौहीतकवत्सगुल्मम्।**[5]

अहर्गणेनानुपातसिद्धलङ्कादेशीयग्रहाः देशान्तरेण संस्कारेण संस्कृताः भवन्ति । परं विचारणीयं वर्तते यत् लङ्कादेशोऽति कः? सम्प्रति श्रीलङ्का इति नाम्ना ख्यायते अथ च प्राक्तनो देशः यः निरक्षरेखायां उत वा मध्यमभूपरिधौ आसीत् किन्तु वर्तमाने श्रीलङ्का इति देशः भूमध्यरेखायां नास्ति ।

---

1. सू.सि.मध्यमधिकारः62 चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी
2. सि.शि.मध्य.अधि.भूपरिधि 2 चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी
3. सू.सि.मध्यमधिकारः50 चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी
4. सि.शि.मध्य.अधि.भुवनकोशः44 चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी
5. सि.चूडामणिः,रङ्गनाथाचार्यः,,सरस्वतीसुषमा संवत 2014

अतः विचारणीयं वर्तते यत् निरक्षस्थिता वास्तिविकी लङ्का का? उच्यते सिद्धान्तमञ्जूषायां[1] अस्मिन् विषये म.महो.मधुसूदन-ओझामहोदयः स्वग्रन्थे इन्द्रविजये[2] द्वादशविप्रपत्तिभिः व्याचक्षते यत्- अधुना केचन विद्वांसः सिंहलद्वीपं लङ्काद्वीपं मन्यन्ते, परन्तु वयं वदामः यत् एषा सर्वथा भिन्ना धारणा अस्ति । लङ्का इत्यादयः शब्दाः भारतीयग्रन्थेषु प्राप्यमाणाः संज्ञाः सन्ति। यस्य समाधानं केवलं भारतीयशास्त्राणाम् आधारेण सम्भवति, स्वस्य कामनाधारितं समाधानं स्वीकार्यं न भवितुम् अर्हति। अन्यथा कपोलकल्पितकृतं मतं व्यर्थं भविष्यति। भारतीयग्रन्थेषु लङ्का सिंहलद्वीपात् भिन्ना इति वर्णिता अस्ति। "बृहत्संहिता"[3] इत्यस्य कूर्मखण्डे लिखितम् - "दक्षिणे दिशि लङ्का-कलाजिन-सौरीकर्ण- तालिकता, काञ्ची-मरुचि-पतन्चेरी-आर्यक-सिंहल-ऋषभा च। एवं प्रकारेण लङ्का, सिंहलस्य च पृथक् पृथक् वर्णनं कृतम् अस्ति।" यदि सिंहलद्वीपः लङ्काद्वीपः अस्ति। तर्हि भागवतादिषु महापुराणेषु सिंहलद्वीपः सप्तमः द्वीपः इति वर्णितः, लङ्का अष्टमः द्वीपः इति न वर्णितः अतः सिंहलद्वीपः लङ्काद्वीपः च भिन्नाः इति सिद्धम्। भारतीयार्यग्रन्थेषु लङ्का निरक्ष (अक्षांशरहितस्थानम् अर्थात् 0° डिग्री) देशे परन्तु लङ्कातः सिंहलद्वीपः सप्त अंशः (7 डिग्री) चत्वारिंशत् (40) कला उत्तराक्षांशेषु च स्थितः अस्ति। एवं सिंहलस्य द्वीपदेशत्वात् (अक्षांशसहितः) लङ्कादेशः कथमपि न गणयितुं शक्यते। तथैव अद्यतनयुगे यथा ब्रिटेनदेशस्य ग्रीनविच्-नगरं विदेशिभिः याम्योत्तरध्रुवगता मध्यरेखा मन्यते स्म, तथैव प्राचीनकाले भारतस्य उज्जयिनीनगरात् मध्यरेखा मन्यते स्म । विद्वांसः वदन्ति यत्[4]- "लङ्का-उज्जयिनी कुरुक्षेत्रप्रदेशान् स्पृष्टवा मेरुमध्यगता रेखा पृथिव्याः मध्यरेखा इति उच्यते ।"इयं उज्जयिनी-नगरी ग्रीनविच्-नगरात् 75 अंशः 43 कला पूर्वदेशान्तरे स्थितास्ति।

परन्तु सीलोन् इति प्रसिद्धः सिंहलदीपग्रीनविचतः 80 अंशः 50 कला मिते दूरे अस्ति, सिंहलद्वीपः उज्ययिनीतः प्रायः पूर्वदिशि 5 अंशतः स्थितः इति तात्पर्यम्। अतः सिंहलद्वीपतः उज्जयिनीं न शक्नोति। परन्तु लङ्काद्वीपस्य ग्रीनविचतः देशान्तरांशाः उज्जयिन्याः देशान्तरांशतुल्याः 76 अंशः पूर्वदेशान्तरे भवेत्। अतः सिंहलद्वीपः लङ्का भवितुं न शक्नोति। सिंहलद्वीपस्य लङ्कायाः कृते व्यवहारः केषाञ्चन जनानां साहसमात्रम् एव। इति मतं मधुसूदनओझामहाभागस्य। अवन्तिदेशात् पृथिव्याः षोडशभागे अवन्तीपुरं गणितानुसारेण स्थितम्" इति भास्करेण लिखितम्।[5] एवं सिद्धान्तशिरोमणिकर्त्तुः मतेन लङ्कातः सार्धद्विंशति (22 ½) -अक्षांशेषु उज्जयिनी-नगरी स्थिता इति सिद्धम्। यदि विषुवद्रेखा मालदीवोपरि गता अपि स्वीक्रियते तदा उज्जयिनीनगरस्य अक्षांशाः सम्यक् भवितुमर्हन्ति। यदि सिंहलदेश एव लङ्का इति स्वीक्रियते तर्हि शून्याक्षांशस्य स्पर्शस्य अभावात् शून्यबिन्दुतः दूरं स्थानं भवेत तदा लङ्कायाः उपलक्षणं निरक्षबिन्दुतः न भवितुमर्हति।

---

1. मेदिनीवलयमध्यरेखिका देशजो भवति मध्यमो ग्रहः। 118,ज्यो.सि.मञ्जूषा,विनयपाण्डेय,चौखंबा प. हाउस,अंसारी रोड नवदेहली
2. लङ्काप्रसङ्गः,इन्द्रविजयः,मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठः,जयनारायणव्यासविश्विवद्यालयः जोधपुरम्
3. अथदक्षिणेन लङ्काकालाजिनसौरिकीर्णतालिकटाः । 11,नक्षत्रकूर्मनिरूपणम् , बृहत्संहिताः चौखंबा
4. यल्लङ्कोज्जयिनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्।.....2,सि.शि. भूपरिधिः Chaukhamba Sanskrit Series Gooal Mandir Varanasi
5. निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवन्तिगणितेनयस्मात्।तदन्तरं षोडशसंगुणं स्याद्भूमानमस्माद्बहु किं तदुक्तम्॥15॥ सि.शि. चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी गोलाध्याय भुवनकोशः Chaukhamba Sanskrit Series Gooal Mandir Varanasi

अवन्तिनगरस्य 22½ अक्षांशानां स्थितिः न प्राप्यते। उज्जयिनी 23 अंशः 10 कला अक्षांशेषु स्थिता अस्ति। अतोऽयं सिंहलद्वीपः कथञ्चित् लङ्का न भवितुमर्हति इति सिद्धम्।वाल्मीकिरामायणस्य सुन्दरकाण्डे लिखितम् अस्ति यद् अयं वानरः शतयोजनदूरे आकाशे कूर्दितवान् । शतयोजनादूरे वनरेखां दृष्टवान्[1] अहं शतयोजनानां दूरं लङ्घयितुं शक्नोमि, तर्हि समुद्रस्य पारं शतयोजनानां अस्य दूरस्य किं महत्त्वम् अस्ति? वा.रा.सु.का. (2/4)

**शतयोजनादूरं लङ्घयित्वा अपि न श्रान्तः श्रेष्ठः पराक्रमी श्रेष्ठः वानरयोद्धा।** वा.रा.सु.का.62/3 ।

एतादृशेभ्यः कथनेभ्यः स्पष्टं भवति यत् महेन्द्रपर्वतस्य त्रिकूटपर्वतस्य च मध्ये शतयोजनान्तराले (चतुर्क्रोशः अष्टमीलः वा एकयोजनम् ।) अस्य आधारेण चतुःशतकोसः अष्टशतमीलपर्यन्तं वा लङ्का स्थिता इति सिद्धम् । लङ्का च अवश्यमेव विषुववृत्ते स्थिता भवितुम् अर्हति। महेन्द्रपर्वतस्य विषुववृत्तात् 100 अक्षांशे स्थितिः कारणात् प्रत्येकं (अंशः) सार्धषष्टिमीलतुल्यः अस्ति, अतः 350 क्रोशवर्तते परन्तु सिंहलद्वीपः केवलं 50 क्रोश दूरे अपि नास्ति । अतः लङ्काद्वीपः पृथग् द्वीपः, सिंहलद्वीपः पृथग् द्वीपः इति निश्चितम्।

अयं सिंहलद्वीपः पञ्चत्रिंशत्क्रोशमितो दीर्घः, सार्धद्वाविंशतिक्रोशमितो विस्तारः। लङ्काद्वीपः तु चतुःशतक्रोशमितोदीर्घः, शतविंशतिक्रोशमितो विस्तारः च आसीत् इति रामायणे लिखितम् –

"लङ्का त्रिंशत् योजन (120 क्रोशः) विस्तारः तथा च (400 क्रोश) दीर्घः आसीत्। वर्तमानकाले सिंहलद्वीपे अनेके पर्वताः महाबली नाम्नीगंगानदी च सन्ति। लङ्कावर्णने तु त्रिकूटसुवेल् पर्वतद्वयस्य वर्णनं प्राप्यते। यदि महाबली नाम्नी गंगा आसीत् तर्हि रामायणे तस्य उल्लेखः अवश्यमेव भवेत्। केचन जनाः वदन्ति यत् वर्तमानकाले सिंहलद्वीपे त्रिकूटपर्वते रावणविहारः, अशोकवाटिका इत्यस्य प्रसिद्धेः कारणात् सिंहलद्वीपे श्रीलङ्कायाः रावणविहारः सम्भाव्यते, परन्तु एतत् उचितं न दृश्यते। यतः प्रमाणाभावे विनोदमात्रेण न तथ्यं स्वीक्रियते । अथवा लङ्कादीनि बहूनि तादृशानि स्थानानि भवितुमर्हन्ति। पुष्पकविमानेन लङ्कातः रावणस्य भारतम् आगमनमार्गे आगते सिंहलद्वीपे विश्रामस्थानस्य भ्रमणस्य च सम्भावना सह रावणस्य अनुज्ञायाः अत्र लङ्कासदृशानि स्थानानि निर्मितानीति सम्भाव्यते। अतः सिंहलं एव लङ्काद्वीप इति वक्तुं न युक्तम् । अतः सिंहलद्वीपं लङ्का इति स्वीकारे त्रुटिः सम्भाव्यते ।

यद्यपि ग्रीकजनानां ग्रन्थे सिंहलद्वीपस्य नाम "टोपरोवेन" इति लिखितम् । तस्य शब्दस्य अपभ्रंशः 'टापु रावण' इति स्वीकृत्य, केचन जनाः सिंहलद्वीपं लङ्का इति स्वीकुर्वन्ति। एतत् अपि केवलं कल्पना एव .यतो हि 'टापु' इति शब्दः भारतीयव्युत्पन्नः रावणटापूत्वं किन्तु नैता तस्य लङ्का इति । भारते अस्य प्रचलनं न भवितुम् अर्हति। वक्तुं शक्यते अस्य आधारेण एतत् द्वीपः लङ्का इति न गणयितुं शक्यते। अथवा लङ्का इव अद्यापि महान् द्वीपः रावणस्य अधिकारक्षेत्रे आसीदिति। सिंहलद्वीपः अपि तेषु अन्यतमः अस्ति। तथ्यतः बौद्धग्रन्थेषु[2] सिंहलद्वीपस्य नाम 'ताम्रपर्ण' इति तस्यैव ताम्रपर्णस्य वचनं टोपरोवेन् भवितुम् अर्हति। अनेन आधारेण सिंहलद्वीपः रावणद्वीपः इति घोषितः अस्ति। अतः सिहलद्वीपस्य लङ्का इति कथनं सर्वथा असङ्गतम्।

सेतुबन्धः समुद्रे रामेश्वरतः सिंहल्द्वीपपर्यन्तं वर्तते यस्य किञ्चित् दूरं पर्वतसमूहाः सन्ति ,अतः केचन जनाः वदन्ति यत् ते पर्वताः अवश्यमेव श्रीरामचन्द्रेन निर्मितस्य सेतोः भग्नावशेषाः सिंहलम् इति स्थूलं प्रमाणं स्यात्। परन्तु

1. वाल्मीकिरामायणम्,सुन्दरकाण्डम् सर्ग 3 श्लो.205
2. पृष्ठसंख्या 150 ,लङ्काप्रसङ्गः,इन्द्रविजयः,मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठः,जयनारायणव्यासविश्विवद्यालयः जोधपुरम्

एषः तर्कः अस्ति। एते पर्वताः सेतुकार्यादवशिष्टाः इति। श्रीरामेण यः सेतुः निर्मितः सः समुद्रे प्लवमानैः शिलाभिः निर्मितः आसीत्। ताः शिलाः अवश्यं तत्र तत्र प्रकीर्णाः यदा सेतुः भग्नः अभवत् । किन्तु रामेश्वर-सिंहलद्वीपयोः मध्ये स्थिताः पर्वतशृङ्खलाः पृथिव्याः सृष्टिकालात् एव सन्ति, एतादृशाः पर्वतशृङ्खलाः कदापि श्रीरामेण समुद्रे स्थापिताः पर्वतशिखराः न भवितुम् अर्हन्ति। अतः एतान् पर्वतान् दृष्ट्वा सिंहलद्वीपं लङ्का इति वक्तुं न अर्हति।

केचन जनाः मन्यन्ते यत् भारतस्य दक्षिणभागे किमपि स्थानं ० अंशः स्थाने न स्थितम् अस्ति। अतः निरक्षस्थानस्य उत्पत्तिः सिंहलद्वीपतः एव परन्तु उक्तिरियं न सम्यक् मेसोपोटामियादेशे निमरुदेन स्थापितं बेबिलोननगरं अद्यत्वे उपलब्धं नास्ति बगदादे बेबिलोन् इति कथयति तर्हि कः विश्वासं करिष्यति? सम्भवति चिरकालान्तरे केचन नगराणि नष्टानि भवन्ति, यथा वेदेषु उल्लिखितानि "यव्यावती"[1] "वसोर्धारा"[2] इत्यादीनि नगराणि अद्यत्वे न उपलभ्यन्ते अथवा प्रसिद्धानि "वसोर्धारा", "महोदय" "पुष्कलावती" प्रभृतीनि पुराणोक्तानि नगराणि न दृश्यन्ते अनेके द्वीपाः बहुकालानन्तरं समुद्रे निमग्नाः भवन्ति यथा उक्तं च तथा स्कान्दे प्रभासखण्डे द्वासप्ततिशततमाध्याये -

**भरतो नाम राजाभूदाग्नीध्रः प्रथितः क्षितौ ॥ यस्येदं भारतं वर्ष नाम्ना लोकेषु गीयते ॥१॥**
**भारतं नवधा कृत्वा पुत्रेभ्यः प्रददो पृथक् ॥ तेषां नामाङ्कितान्येव ततो द्वीपानि जज्ञिरे ॥२॥**
**इन्द्रद्वीपः कसेरूश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥ नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥३॥**
**अयं तु नवमो द्वीपः कुमार्य्यासंज्ञितः प्रिये ॥ अष्टी द्वीपाः समुद्रेण प्लाविताश्च तथापरे ॥४॥**
**ग्रामादिदेशसंयुक्ताः स्थिताः सागरमध्यगाः । एक एव स्थितस्तेषां कुमार्य्याख्यस्तु सांप्रतम् ॥५॥**[3]

एवं प्रकारेण भारतस्य नवभागेषु विस्तारः समीचीनः दृश्यते। चिरकालानन्तरं तेषां अष्टद्वीपानां बहवः भागाः समुद्रान्तः स्थले निमग्नाः जाता। लङ्काद्वीपस्यापि सागरगर्भप्रवेशस्य सम्भावना अस्ति, अतोऽन्यस्थानस्य नामाधारेण एकस्य स्थानस्य नामनिर्णयः पण्डितैः न युज्यते। अतः सिंहलद्वीपः केवलं अज्ञानात् एव लङ्का इति निर्दिश्यते इति स्पष्टम्।

यः कन्याकुमारीदीपः नाम्ना प्रसिद्धः अद्यापि अवशिष्टः अस्ति, पूर्वोक्ताः शेषाः दीपाः समुद्रे निमग्नाः सन्ति। एतत् तमिलसाहित्यग्रन्थे **शिलापट्टिकारामे** प्राप्यते, यस्मिन् **कुमारिकन्दनम्** इति नाम्ना उल्लिखितम् अस्ति। द्वितीयशताब्द्यां लिखितोऽस्ति अपि च अयं पाण्ड्यराजदेशः समुद्रे मग्नः अभवत्, यस्य विषये अपि उपरि उक्तम् अस्ति। अस्मिन् सम्पूर्णे द्वीपे द्वौ नद्यौ आस्ताम्, ययोः नाम अपि अस्मिन् ग्रन्थे उक्तम् अस्ति। ते **पहरौली कुमारी** च नाम्ना उल्लिखितौ। प्राचीनतमिललेखकः **अडियाकुन्नालरः**[4] अवदत् यत् अद्यतनस्य कन्याकुमार्याः दक्षिणदिशि एकः महाद्वीपः स्थितः आसीत् , यस्य कुलदीर्घता 700 कावतम् (कवतं तमिलमापनम् - अतः कङ्कटीकारामग्रन्थे 1 कवतं अस्माकं अद्यतनकिलोमीटरमापने 10.06 किलोमीटर्) अर्थात् 700*10.06 = 7042 किलोमीटर्

1. तत्रैव पृष्ठसंख्या 151
2. तत्रैव पृष्ठसंख्या 151
3. स्कन्धपुराणम्,प्रभासखण्ड ,अध्याय 1721-5
4. https://en.wikipedia.org/w/index.php?title=Tamil_literature&oldformat=true#Vijayanagar_and_Nayak_period

मध्ये एतत् कुमारी कन्दनम् विस्तृतम् आसीत्। **कुमारीकन्दनम्**[1] इति नाम्ना एकस्मिन् द्वीपे त्रिवारं तमिलसंगमम् अभवत्। संगम् यस्मिन् विभिन्नमहाद्वीपेभ्यः जनाः आगत्य चर्चां कृत्वा एकं साहित्यं निर्मान्ति। साहित्ये कुत्रापि एषः महाद्वीपः **कुमारीकन्दनम्** इति नाम्ना वर्णितः नास्ति अपितु पाण्ड्यादेशः अथवा तमिलजनदेशः इति वर्णितः अस्ति। स्कन्दपुराणस्य तमिलानुवादे कन्धपुराणम् इति तत्र कुमारिकन्दनस्य प्रथमः उल्लेखः प्राप्यते, यस्य अनुवादः पञ्चदशशताब्द्यां कुमारीकन्दनम् इति नाम्ना जातः। अस्यद्वीपस्य कुमारीकन्दनसंज्ञा विषये कथा वर्तते यत् अस्य महाद्वीपस्य राजा **प्रतान्** आसीत् यस्य सुतायाः नाम कुमारी आसीत्, यस्मात् कारणात् सम्पूर्णस्य प्रान्तस्य कुमारी कन्दनम् इति नाम्ना अभवत्। अस्य वर्णनं 1864 तमे वर्षे आङ्ग्लप्राणिशास्त्रज्ञस्य **फिलिप् स्क्लेटरमहोदयस्य**[2] 'मेमल्स् आफ् मेडागास्कर' (mammals of medagascar ) इति पुस्तके अस्ति ।

तस्य मतेन मेडागास्करदेशस्य तथा च भारते प्राणिजगति प्रचुरमात्रायां समानता दृश्यते। अनुभूयते यत् यदि स्थलमार्गेण भारतं न प्राप्तम् तर्हि जले एतादृशी दीर्घयात्रा कथं सम्भवति? यथा लैमूरजीवस्य ऑस्ट्रेलियादेशे अपि सम्पर्कः प्राप्यते। तत्रापि शताधिकाः प्रजातयः लेमुरजातयः वा दृश्यन्ते यदि मेडागास्कर-भारत-ऑस्ट्रेलिया-देशानां मध्ये अतीव दूरी अस्ति तथा च त्रयाणां मध्ये विशालः जलराशिः समुद्रः अस्ति । लेमुरिया[3] इति महाद्वीपः महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वहति अनेन सिद्धान्तेन पूर्वं यदा लेमुरिया महाद्वीपस्य अन्वेषणं प्रचलति स्म तदा भारतस्य तमिलनाडुनगरस्य स्थानीयजनजातीयलोककथा बहवः वैज्ञानिकाः एकस्य नष्टमहाद्वीपस्य विषये ज्ञातवन्तः। पूर्वं काल्पनिकमहाद्वीपः इति प्रसिद्धः आसीत्, तदनन्तरं तमिलसाहित्येन परिचिताः जनाः लेमुरिया-कुमारीकन्दनयोः मध्ये सम्बन्धं अन्वेष्टुं आरब्धवन्तः। तमिलसाहित्यस्य अनुसारं पाण्ड्यराजाः 11000 वर्षाणि यावत् कुमारीकन्दने शासनं कृतवन्तः । यत्र पूर्ववत् त्रयः तमिलसङ्गमाः आसन्, तत्र प्रथमः संगमः 9000 ईपू वर्षे कुमारिकन्दनम् अथवा लेमुरियामहाद्वीपस्य राजधानी मदुरैनगरे आयोजितः। परन्तु एतत् अद्यतनं मदुरैनगरम् नास्ति । तमिलसाहित्यस्य अनुसारं कुमारी कन्दनम् 49 भागेषु विभक्तम् आसीत् येषु 7 भागाः मदुरै-नगरस्य आसन् । प्रथमे तमिलसंगमे कुवेरः मुरुगन, शिव इत्यादयः 4449 साहित्यकाराः उपस्थिताः आसन्। यस्मिन् प्रथमः संगमः 4440 वर्षाणि यावत् अभवत् यस्मिन् 89 संगमराजाः शासनं कृतवन्तः, एतत् तमिलग्रन्थे **इरायनार अक्कापुरुलराजसूचौ** दृश्यते । अतः सम्प्रति लङ्कादेशस्य स्थानविषये उपर्युक्तव्याख्यानुसारं निष्कर्षरूपेण कथयितुं शक्यते यत्

लङ्काद्वीपः कुमारीकन्दनस्य एकः द्वीपः भवितुमर्हति, अस्मिन् विषये तर्कः अयं वर्तते यत् कुमारीकन्दनम् एकः महान् द्वीपखण्डः आसीत्,अस्य विस्तारः विषुवरेखां यावत् ततोऽप्यधिको वा आसीत्। अतः लङ्काविषुवरेखायामासीदिति। सम्प्रति यः श्रीलङ्कादेशः अस्ति सः विषुवतीलङ्का न इति तु निश्चप्रचम्।

मधुसूदनओझामहोदयस्य तथा च तमिलसाहित्ये वर्णितकुमारीकन्दनम् प्रान्तस्य । अथ च लैमूरिया महाद् वीपसम्बन्धिविविधव्याख्यादिभिःस्पष्टं भवति यत् प्राक्तनो लङ्कादेशः वर्तमानलङ्कादेशाद्भिन्नः आसीदिति ।

❖ ❖ ❖

1. https://en.wikipedia.org/wiki/Kumari_Kandam
2. https://en.wikipedia.org/wiki/Philip_Sclater
3. https://blogs.scientificamerican.com/history-of-geology/a-geologists-dream-the-lost-continent-of-lemuria/

# वासगृहे आन्तरिकप्रकोष्ठविन्याससम्बद्धाः वास्तुदोषाः, तेषां निवारणोपायाश्च

**– गिरीशभट्टःबि**
**– प्रो. ए. श्रीपादभट्टः**

**सारांशः–**

वासार्थं गृहं सर्वेषां कृतेऽपि आवश्यकमेव भवति। सर्वेऽपि जन्तवः स्वकीयावश्यकतानुसारं स्वकीयवास-स्थानस्य निर्माणं कुर्वन्ति। मनुष्यः सर्वेषु प्राणिषु श्रेष्ठः भवति। मनुष्यस्य वाक्शक्तिवशात् तथा बुद्धिशक्तिवशादेव अन्यजन्तुभ्यः मनुष्यः श्रेष्ठतमः जातः। अतः अन्यजन्तूनां वासस्थानेभ्यः श्रेष्ठतमं व्यवस्थिततमञ्च वासस्थानं मनुष्यः इच्छति। तादृशस्य वासस्थानस्य निर्माणं कथं करणीयमिति उद्बोधयितुं वास्तुशास्त्रं प्रवृत्तम्। वास्तुशास्त्रोक्तरीत्या व्यवस्थितरूपेण गृहनिर्माणं क्रियते चेदेव मनुष्यजीवनं सुखमयं शान्तिमयञ्च भवति। अन्यथा मनुष्यस्य जीवनं दुःखमयं भवति। वास्तुशास्त्रोक्तरीत्या गृहस्य आन्तरिकव्यवस्था, परिसरश्च न भवति चेत् वास्तुदोषाःसम्भवन्ति। वास्तुदोषाः बहुविधाः सन्ति। वास्तुदोषेषु गृहस्य आन्तरिकव्यवस्थासम्बद्धाः वास्तुदोषाः अन्यतमाः। गृहस्य आन्तरिक-व्यवस्थासम्बद्धाः वास्तुदोषाः, तेषां निवारणोपायाश्च अस्य पत्रस्य प्रतिपाद्यविषयः भवति।

**वासगृहस्य आन्तरिकव्यवस्था –**

पूर्वदिशः अधिपतिः इन्द्रः। प्रगतिः, अभ्युन्नतिः, समग्रविकासः, आलोकः– एते तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। आग्नेयकोणस्य अधिपतिः अग्निः। तेजः, प्रखरता, दाहकत्वं च तस्य अधिकारविषयाः सन्ति। दक्षिणदिशः अधिपतिः यमः। मृत्युः, बलं, वीर्यं, पौरुषं च तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। नैर्ऋत्यदिशः अधिपः भवति राक्षसः। आलस्यम्, अपवित्रता, भारः च तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। पश्चिमदिशः अधिपः भवति वरुणः। जलं, हिमपातः, वर्षा (वृष्टिः) च तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। वायव्यदिशः अधिपः भवति अनिलः (वायुः)। वायुः, वायुमण्डलीयानि वैपरीत्यानि, अतिमारुतः च तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। उत्तरदिशः अधिपः भवति कुबेरः। धनं, समृद्धिश्च तस्य अधिकारविषयः। ईशान्यदिशः अधिपः भवति रुद्रः। पूजा, सत्कार्यं, धर्मः, मन्दिरं च तस्य अधिकारविषया। मध्यभागस्य अधिपतिः भवति ब्रह्मा। बुद्धिशक्तिः, तपः, ज्ञान-विज्ञानादयः तस्य अधिकारविषयाः भवन्ति। अस्यसिद्धान्तस्यानुसारेण आवासीयवास्तुनि कस्याः कस्याः दिशः अधिपतेः यद्यद्विकार क्षेत्रं वर्तते तत्त दधिकारक्षेत्रसम्बद्धप्रकोष्ठाः तत्तद्दिशिकरणीयाः इतिवास्तुशास्त्रे निरूपितमस्ति। यतोहि तस्याः तस्याः दिशायाः अधिपतेः दिशि तत्तत्सम्बद्धप्रकोष्ठाः निर्मीयन्ते चेत्तत्तद्दिशाधिपतेः बलं तथा नैसर्गिकशक्ते बलं च सर्वदा गृहस्वामी प्राप्नोति। यदि तत्तद्दिगधिपतेः अधिकारक्षेत्रसम्बद्धप्रकोष्ठाः तत्तद्दिगधिपतेः दिशि न कृत्वा अन्यदिगधिपानां दिक्षु क्रियन्ते तर्हि, "सः गृहस्वामी मम अधिकारक्षेत्रसम्बद्धप्रकोष्ठं मम दिशि न कृत्वा अन्यदिशि कृतवान्तथा मम दिशि अन्यस्य अधिकारक्षेत्रसम्बद्धस्य प्रकोष्ठं निर्मितवान्" इति तेदिगधिपाः गृहस्वामिनः उपरि कोपं प्रदर्शयन्ति, तेषां

कोपव-शाद्त्पन्नानां दुष्ट-फलानां भाजनः भवति गृहस्वामी। अतः गृहपतिना तत्तद्दिगीशस्य प्रकृति-स्वभावादिकं मनसि निधाय तत्तद्दिशि तत्तद्दिगीशस्य अधिकारक्षेत्रसम्बद्धप्रकोष्ठाः एव निर्मातव्याः।

वासार्थं निर्मीयमाणानि गृहाणि आवासीयवास्तूनि इत्युच्यन्ते। आवासीयवास्तुनि आन्तरिकव्यवस्था कथं भवेद् इति बृहद्वास्तुमालायाम् अधोनिर्दिष्टेषु श्लोकेषु निरूपितं वर्तते–

**पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेय्यां स्यान्महानसम् । शयनं दक्षिणस्यां च नैर्ऋत्यामायुधाश्रयम् ॥**
**भोजनं पश्चिमायां च वायव्यां धनसञ्चयम् । उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवतागृहम् ॥**
**इन्द्राग्न्योर्मथनं मध्ये यमाग्न्योर्घृतमन्दिरम् । यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम् ॥**
**राक्षसजलयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम् । तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनस्य च मन्दिरम् ॥**
**कामोपभोगशमनं वायव्योत्तरयोर्गृहम् । कौबेरेशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरं सदा ॥**
**पुरन्दरेशानयोर्मध्ये सर्ववस्तुषु सङ्ग्रहम् । सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोडश ॥[1] इति।**

आवासीयवास्तुनि पूर्वस्यां दिशि श्रीगृहं (लक्ष्म्याः गृहं) कार्यम्। आग्नेयकोणे महानसं कार्यम्। दक्षिणस्यां दिशि शयनप्रकोष्ठः निर्मातव्यः। आयुधाश्रयं (शास्त्रागारः) तथा उपकरणानां सङ्ग्रहागारः तु नैर्ऋत्यकोणे कार्यं। पश्चिमायां दिशि भोजनगृहं कार्यम्। वायव्यकोणे धनसञ्चयः (वित्तसङ्ग्रहागारं) कार्यः। उत्तरदिशि द्रव्यसंस्थानं (तिजोरी) कार्यम्। ईशान्यकोणे देवगृहं (पूजागृहं) कार्यम्। द्वयोः द्वयोः दिशोरन्तराले पुनः एकैकः प्रकोष्ठः निर्मातव्यः। तद्यथा – इन्द्राग्न्योः अन्तराले अर्थात् पूर्व-आग्नेययोरन्तराले मथनगृहं (दधिमन्थनप्रकोष्ठः) निर्मातव्यम्। यमाग्न्योरन्तराले अर्थात् दक्षिण-आग्नेययोरन्तराले घृतमन्दिरं निर्मातव्यम्। यमराक्षसयोर्मध्ये अर्थात् दक्षिण-नैर्ऋत्ययोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरं (शौचालयं) निर्मातव्यम्। राक्षसजलयोर्मध्ये अर्थात् नैर्ऋत्य-पश्चिमयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरं (अध्ययनप्रकोष्ठं) निर्मातव्यम्। तोयेशानिलयोर्मध्ये अर्थात् पश्चिम-वायव्ययोरन्तराले रोदनस्य मन्दिरं (शोकगृहं) निर्मातव्यम्। वायव्य-उत्तरयोर्मध्ये कामोपभोगशमनं गृहं (कामगृहम् अथवा रतिगृहं) निर्मातव्यम्। कौबेरेशानयोर्मध्ये अर्थात् उत्तर-ईशान्ययोरन्तराले चिकित्सामन्दिरं निर्मातव्यम्। पुरन्दरेशानयोर्मध्ये अर्थात् पूर्व-ईशान्यदिशोरन्तराले सकलवस्तूनां सङ्ग्रहपरककोष्ठः निर्मातव्यः। इत्थं गृहे अष्टसु दिक्षु अष्टविषयाणां सम्बद्धाः प्रकोष्ठाः तथा द्वयोः द्वयोः दिशोरन्तराले पुनः एकैकविषयसम्बद्धः प्रकोष्ठः इत्थमाहत्य ८+८ = १६ सम्बद्धाः प्रकोष्ठाः अत्रोक्तवन्निर्मातव्याः। मध्ये ब्रह्मस्थाने किमपि न निर्मातव्यम्। ब्रह्मस्थानं रिक्तमेव भवेत्। ब्रह्मस्थानं परिपीड्यते चेत् (ब्रह्मस्थाने किमपि निर्माणं क्रियते चेत्) गृहस्वामी पीडामनुभवति। यथोक्तं बृहत्संहितायां श्रीमता वराहमिहिराचार्येणवास्तुविद्याध्याये –

**सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद्गृही गृहान्तःस्थम्।**
**उच्छिष्टाद्युपघाताद्गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन् ॥[2] इति।**

1. बृहद्वास्तुमाला –१५० तः १५८ श्लोकाः
2. बृहत्संहिता – वास्तुविद्याध्यायः – श्लोकः ६४

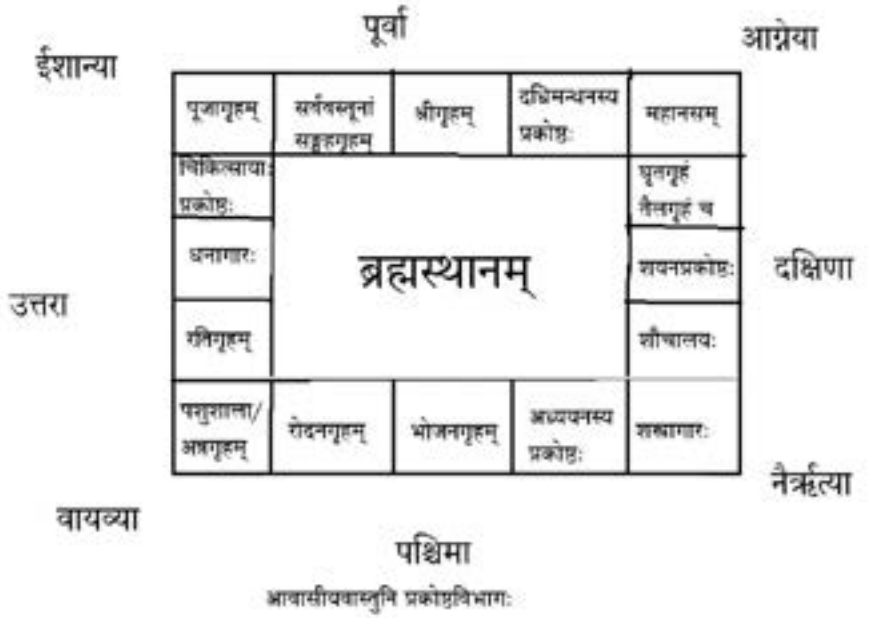


चित्रम् – १ : आवासीयवास्तुनि प्रकोष्ठविन्यासः

**आवासीयवास्तुनि प्रकोष्ठविन्याससम्बद्धाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

वास्तुदोषाः विभिन्नप्रकारकाः भवन्ति - भूखण्डस्य प्लवत्वदोषाः, आकारदोषाः, शल्यदोषाः, मर्मदोषाः, द्वारवेधदोषाः, दिक्सम्बन्धिदोषाः इत्यादयो बहवः दोषाः भवन्ति। तेषु दिक्सम्बन्धिवास्तुदोषेषु वासगृहस्य आन्तरिक-व्यवस्थासम्बद्धाः वास्तुदोषाः अन्तर्भवन्ति।

**पूर्वदिगुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

देवेषु इन्द्रः तथा ग्रहेषु सूर्यः पूर्वदिशः स्वामिनौ स्तः। भवनस्य द्वाराणि वातायनानि च पूर्वाभिमुखानि निर्मितानि चेत् सूर्यस्य प्रातःकालीनानां कीटाणुनाशकगुणयुक्तानां नीलोत्तर (पराबैंगनी) किरणानां भवनस्यान्तः प्रवेशे अनुकूलो भवति। येन भवनस्यान्तः सञ्चरतां कीटाणूनां नाशो भवति। अत एव गृहस्य पूर्वस्यां दिशि द्वाराणां, वातायनानां, भवनस्य अधिकतमरिक्तस्थानानाम्, अध्ययनप्रकोष्ठस्य च निर्माणं वास्तुसम्मतं भवति। किन्तु पूर्वदिशि गृहस्वामिनः शयनप्रकोष्ठः, शौचालयम्, आच्छादकस्य (छत) तथा तलस्य शेषं गृहस्य उपरि तथा भवनस्य पूर्वदिशि आधिक्येन निर्मीयते चेत् वास्तुदोषस्य कारणं भवति। अत एव एतादृशप्रकारेण वास्तुदोषकारकं निर्माणं न करणीयम्। यदि अनिवार्येण तथा वास्तुदोषकारकं निर्माणं करणीयमेव भवति तर्हि पूर्वदिशि सूर्ययन्त्रं संस्थापनीयम्।[1]

**आग्नेयदिगुद्भववास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

पूर्वदक्षिणयोर्मध्ये आग्नेयकोणः भवति। आग्नेयदिशः अधिपती देवेषु अग्निः, ग्रहेषु शुक्रश्च भवतः। आग्नेया दिक् पाकगृहनिर्माणार्थं सर्वोत्तमा भवति। तथा विद्युदुपकरणानां स्थापनार्थमपि आग्नेयकोणः एव श्रेष्ठः

1. गृहवास्तु-शास्त्रीय विधान (डॉ.देशबन्धुशास्त्रिविरचितम्), पृ.सं. 155

भवति। किन्तु आग्नेयकोणे जलसङ्ग्रहः वास्तुदोषकारकः भवति। एवमेव आग्नेयकोणे भवनस्य मुख्यद्वारं निर्मितं चेदपि वास्तुदोषकारकं भवति। गेहस्य आग्नेयकोणः नैर्ऋत्यकोणापेक्षया उन्नतं भवति चेत् वास्तुदोषः सम्भवति। तथा आग्नेयदिशः दक्षिणपार्श्वे विस्तारः वास्तुदोषकारको भवति। आग्नेयकोणोद्भववास्तुदोषवारणार्थं द्वारे गणपतिप्रतिमायाः प्रतिष्ठापनं कार्यम्। तथा गणपतिपूजा, बुधवारस्य अर्चना च कार्ये।[1]

**दक्षिणदिगुद्भववास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

दक्षिणदिशः स्वामिनौ देवेषु यमः, ग्रहेषु कुजः। भवनस्य दक्षिणदिशि किमपि निर्माणकार्यम् अवश्यं करणीयमेव। तथा तच्च निर्माणं पूर्वदिशः उत्तरदिशश्च अपेक्षया उन्नतं भवेत्। भवनस्य दक्षिणा भित्तिः उन्नता तथा बृहती भवति चेत् शुभं भवति। भवनस्य दक्षिणा दिक् गृहेशस्य शयनप्रकोष्ठनिर्माणार्थं सर्वोत्तमा भवति। भवनस्य दक्षिणा दिक् पूर्वोत्तरदिशोरपेक्षया निम्ना भवति चेत् वास्तुदोषस्य कारणं भवति। भवनस्य दक्षिणस्यां दिशि ट्यूब्लैट् स्थापनं शुभदं भवति। गृहस्य आच्छादकस्य अथवा छाद्योपरिभागे दक्षिणस्यां दिशि जलस्य पात्रनिर्माणं शुभदं भवति। तथा गृहस्य दक्षिणपार्श्वे बृहद्वृक्षाणां रोपणमपि शुभदायकमेव भवति।[2]

**नैर्ऋत्यदिगुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

नैर्ऋत्यकोणस्य अधिपतिनौ देवेषु निर्ऋतिः तथा ग्रहेषु राहुः। नैर्ऋत्यकोणः बृहद्वस्तूनां सङ्ग्रहार्थं शुभप्रदं भवति। गृहस्य नैर्ऋत्यभागस्य तलं तथा आच्छादकम् इतरभागानामपेक्षया उन्नतं भवेत्। गृहस्वामिनः शयननिमित्तम् एषा दिक् उत्तमा भवति। नैर्ऋत्यदिशायां निम्नसोपानानि (ढलान होना), पाकगृहं, मलसंग्रह टैंक् इत्यादिकं निर्मीयते चेत् वास्तुदोषः सम्भवति। नैर्ऋत्यकोणे वास्तुदोषवारणार्थं गृहे राहुयन्त्रं स्थापनीयम्। अनेन नैर्ऋत्यकोणाधिपतेः राहोः प्रीतिः भूत्वा वास्तुदोषस्य परिहारो भवति। गृहस्य नैर्ऋत्यपार्श्वे बृहद्वृक्षस्य रोपणं करणीयम्। तथा **इन्द्राणीयन्त्रस्य स्थापनं करणीयम्।**[3]

**पश्चिमदिक्समुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

पश्चिमदिगधिपः देवेषु वरुणः तथा ग्रहेषु शनिः। गृहस्य पश्चिमभागस्य तलं नैर्ऋत्यदिशः अपेक्षया निम्नं तथा वायव्यकोणापेक्षया उन्नतं भवेत्। गृहस्य पश्चिमदिशि सूर्यस्य प्रकाशः अत्यन्तं न्यूनप्रमाणेन यथा पतेत् तथा गृहनिर्माणं करणीयम्। अत एव गृहस्य पश्चिमदिशि वातायनानां निर्माणं न करणीयम्। गृहस्य पश्चिमदिक् भोजनप्रकोष्ठस्य निर्माणार्थम् अत्यन्तम् उत्तमा भवति। गृहस्य पश्चिमदिक्स्थं भवनं सर्वाधिकं निम्नतमं भवति चेत्, पश्चिमदिशि गृहस्य मुख्यद्वारं भवति चेत्, तथा शयनप्रकोष्ठः पश्चिमदिशि भवति चेत् वास्तुदोषः समुत्पद्यते। पश्चिमदिशि वास्तुदोषस्य वारणार्थं वरुणयन्त्रस्य स्थापनं कार्यम्। अनेन पश्चिमदिगीशस्य वरुणदेवस्य प्रीतिः भूत्वा वास्तुदोषस्य वारणं भवति।[4]

---

1. गृहवास्तु-शास्त्रीय विधान (डॉ.देशबन्धुशास्त्रिविरचितम्), पृ.सं. 155
2. तत्रैव - 156
3. तत्रैव - 156
4. तत्रैव - 156

**वायव्यदिक्समुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

वायव्यकोणस्य स्वामिनौ देवेषु वायुदेवः तथा ग्रहेषु चन्द्रः। गृहस्य वायव्यकोणः अतिथिप्रकोष्ठः, सैप्टिक् टैंक्, तथा वृक्षादीनां रोपणार्थं प्रशस्तं भवति। वायव्यकोणे पाकगृहस्य तथा अध्ययनप्रकोष्ठस्य निर्माणं क्रियते चेत् वास्तुदोषः समुत्पद्यते। वायव्यकोणोद्भववास्तुदोषवारणार्थं चन्द्रयन्त्रस्य स्थापनं कार्यम्। तथा **तत्र भित्तिषु श्वेतवर्णः ( Light Colour) लेपनीयः।**[1]

**उत्तरदिगुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

उत्तरदिगधिपौ देवेषु कुबेरः, ग्रहेषु बुधः। उत्तरदिक् धनसङ्ग्रहार्थम्, अध्ययनप्रकोष्ठनिर्माणार्थं, पूजा-प्रकोष्ठनिर्माणार्थं च उत्तमा भवति। गृहस्य उत्तरदिशि मुख्यद्वारं तथा वातायनानि भवेयुः। गृहस्य उत्तरदिक्स्थ-भवनस्य तलम् अवशिष्टभवनानां तलानामपेक्षया निम्नानि भवेयुः। उत्तरदिशि पाकशाला, शौचालयः, पुरातनं बृहच्च वस्तु इत्यादिकं भवति चेत् वास्तुदोषो सम्भवति। उत्तरदिशि वास्तुदोषनिवारणार्थं बुधयन्त्रस्य स्थापनं करणीयम्। अनेन उत्तरदिगधिपः बुधः प्रसन्नः भूत्वा वास्तुदोषोद्भवक्लेशानां वारणं करोति।[2]

**ईशान्यदिगुद्भवाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च –**

ईशान्यकोणाधिपौ देवेषु शिवः, तथा ग्रहेषु बृहस्पतिः। ईशान्यकोणे मुख्यद्वारं, वातायनानि, रिक्तस्थानं, निम्नसोपानानि (डलान), पूजागृहं, ट्यूबलैट् तथा जलव्यवस्था शुभदानि भवन्ति। उत्तरदिशि शौचालयः, उन्नतं जलस्य टैंकी, उन्नता सीमाभित्तिः च भवन्ति चेत् अथवा ईशान्यकोणस्थभवनस्य तलं शेषभवनानां तलानामपेक्षया उन्नतं भवति चेत् वास्तुदोषो समुत्पद्यते। ईशान्यदिगुद्भववास्तुदोषाणां वारणार्थं गृहस्य प्रवेशद्वारे प्रतिष्ठितस्वस्तिकं स्थापनीयम्। तथा शिवस्य उपासना कार्या। तथा ईशान्यकोणे स्वच्छता रक्षणीया।[3]

भवननिर्माणार्थं यथासम्भवं वास्तुदोषरहिता भूः एव चेतव्या। तथा वास्तुदोषः यथा नोत्पद्यते तद्वदेव भवनस्य आन्तरिकव्यवस्था अपि कार्या। यदि न शक्यते तर्हि दोषाल्पत्वं गुणबाहुल्यं च यादृशभूखण्डे भवति तादृशभूखण्डश्चेतव्यस्तथा यथा दोषाल्पत्वं गुणाधिक्यञ्च भवति तथा भवनस्य आन्तरिकी व्यवस्था कार्या। तस्मिन् सन्दर्भे यत्र यत्र वास्तुदोषः अस्ति तत्र तत्र वास्तुग्रन्थेषूक्तरीत्या तेषां वास्तुदोषाणां वारणं कार्यम्। एतेभ्यः वास्तुदोषवारणोपाये "वास्तुशान्तिः" पूजनविधिरपि भारतीयवास्तुशास्त्रे प्रतिपादितोऽस्ति। वास्तुशान्तिरेव भवनस्य वास्तुदोषाणां वारणार्थं विद्यमानः सर्वोत्तमः उपायः भवति। अतः यदि भवने वास्तुदोषः वर्तते तर्हि योग्यं ब्राह्मणमाहूय तस्मै योग्यं दक्षिणादिकं दत्त्वा वास्तुशान्तिम् अवश्यं कारयेत्[4]। अनेन भवनस्य वास्तुदोषाणां वारणं भवति तथा भवनस्य गुणानाञ्च वृद्धिर्भवति।

---

1. गृहवास्तु-शास्त्रीय विधान (डॉ.देशबन्धुशास्त्रिविरचितम्), पृ.सं. 157
2. तत्रैव - 157
3. तत्रैव - 157
4. वास्तुरत्नाकर-परिशिष्टप्रकरणम्, श्लोकः - 66

**निष्कर्षः –**

भारतदेशस्य समस्तप्राचीनवैज्ञानिकविद्यासु भारतीयवास्तुविद्या मानवस्य जीवने प्राकृतिकशक्तीनां सम्यक्तया उपयोगं कृत्वा जीवने सुखसमृद्धिमानेतुं प्रशस्तं मार्गं दर्शयति। भारतीयवास्तुशास्त्रस्य समस्त-नियमानां तथा उपनियमानां मूलः आधारः "यथा पिण्डाण्डः तथा ब्रह्माण्डः" इति सिद्धान्तः एव भवति। मनुष्यः समस्तप्राकृतिकशक्तीनां सन्तुलनं सामञ्जस्यं च कृत्वा तदनुसारं स्वजीवनं यापयति चेत् स्वजीवने निरन्तरम् उत्तरोत्तरं सुखं समृद्धिं स्थिरतां स्फूर्तिं नवचैतन्यं च सम्प्राप्य तस्य शरीरमपि स्वस्थं भवति, मनः अपि प्रसन्नं भवति। अस्य परिणामरूपेण व्यक्तिः स्वकीयसमस्तकार्याणि श्रद्धया दत्तावधानपूर्वकं कर्तुं शक्नोति। अनेन सः उत्तमधनसम्पादनमपि कृत्वा उत्तमरीत्या स्वजीवनं यापयितुं शक्नोति। परन्तु यदि यः कोऽपि मनुष्यः प्रकृतेः विरुद्धरीत्या जीवनं यापयति चेत्, वास्तुविरुद्धभवनानां निर्माणं करोति चेत् अनेन विपरीतपरिणामो जायते। अर्थात् वास्तुविरुद्धभवनानां निर्माणं क्रियते चेत् तत्र यः निवसति, सः निरन्तरं दुःखी, रुग्णः (रोगी), निर्धनः च भूत्वा स्वस्य जीवनमेव असुरक्षितं क्लेशमयञ्च करोति। अतः भवननिर्माणवेलायां भवननिर्माणस्य आदिमघट्टादेव वास्तुशास्त्रोक्तानां समस्तनियमानां यथाशक्ति पालनं करणीयम्। एवं यदि वास्तुसम्मतं वास्तुदोषरहितं भवनं निर्मीयते तर्हि तत्र निवसतां जनानां कृते तद्भवनं भौतिकम् आध्यात्मिकञ्च सुखं जनयति। तथा एतादृशं वास्तुसम्मतं भवनं लौकिकं पारलौकिकं च उन्नतिं साधयितुं प्रशस्तं भवति।

गृहारम्भार्थं बहुजागरूकतया भूचयनं कर्तव्यं भवति। यतो हि दोषरहितभूमौ गृहं निर्मीयते चेदेव गृहमपि दोषरहितं भवति। सदोषभूमौ निर्मितं गृहमपि दोषयुक्तमेव भवति किन्तु आधुनिककाले जनसङ्ख्यायाः आधिक्यात् गृहनिर्माणार्थं सर्वतोभावेन वास्तुसम्मतस्य भूखण्डस्य प्राप्तिः अत्यन्तं दुर्लभा भवति। सामान्यतः पत्तनेषु निवसतां जनानां क्षेत्राण्येव अतिलघूनि भवन्ति। तत्रैव गृहनिर्माणं करणीयं भवति । अतः तत्र सर्वतोभावेन वास्तुसम्मतक्षेत्रस्य चयनमसम्भवं भवति। अतः तादृशसन्दर्भेषु यत्र यत्र वास्तुदोषो भवति तत्र वास्तुग्रन्थेषूक्तरीत्या वास्तुदोषाणां निवारणं कृत्वा गृहनिर्माणं करणीयं भवति। एवम् अनिवार्यतः दोषयुक्तभूमावेव गृहनिर्माणं करणीयं भवति चेत् वास्तुग्रन्थेषूक्तरीत्या वास्तुशान्त्यादिकं कृत्वा वास्तुदोषाणां निवारणं कृत्वा ततः परं तत्र गृहनिर्माणं करणीयम्, तदा तत्र निवासेन दुःखक्लेशादिकानि न सम्भवन्ति, जीवने सुखसमृद्धिः भवतीति निष्कर्षं दातुं शक्नुमः।

❖ ❖ ❖

# भारतीयमन्दिराणां पर्यावरणेन सह सम्बन्धः

**– मेघा शर्मा**

**– प्रो. बिहारी लाल शर्मा**

संस्कृतवाङ्मय आविश्वं सर्वोत्तममिति नास्ति कस्यापि विप्रतिपत्तिः । अस्मात् अधिकविस्तृतं, सुसमृद्धं शाश्वतं सार्वभौमिकं च ज्ञानं न कुत्रापि प्राप्तम्। ज्ञानमिदं न केवल उपदेशवाचकमन्त्राणां समूहः एव, अपितु आदर्शजीवनपद्धतेः मूलसिद्धान्तान् विस्तरेण प्रस्तौति।

सम्पूर्णवाङ्मयः मूलरूपेण चतुर्षु वेदेषु, तेषां षडङ्गेषु (शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिषेषु), पुराणेषु धर्मशास्त्रेषु दर्शनादिषु विभक्तः। ज्योतिषं वेदाङ्गरूपेण विद्यते। अस्य च भौतिकम् आध्यात्मिकं च द्विविधं स्वरूपं वर्तते। वैशेषिकदर्शनानुसारम् अङ्गाङ्गिनोः यथा अभेदसम्बन्धोवर्तते तथैव वेदज्योतिषयोः अभेदसम्बन्धः वर्तते । यतः ज्योतिषम् अङ्गम् वेदश्च अङ्गी।

ज्योतिर्विज्ञान मूलतः सिद्धान्त-जातक-संहितानामभिः त्रिशाखासु विभक्तम्। विकासक्रमे वास्तुशास्त्रं संहिताशाखया सह सम्बद्धम्। वास्तुशास्त्रम् अत्यन्तमहत्त्वपूर्णं गूढञ्च विज्ञानम्। वास्तुशास्त्रस्य अभिप्रायः ताभ्यः समस्तरचनाभ्यः वर्तते, यत्र मनुष्याः निवसन्ति। भवन दुर्ग-मन्दिर-मठ-गृह-क्षेत्र-वाटिकादिनि समस्तवस्तूनि वास्तुरिति।

वास्तुशास्त्रम् भारतीयसंस्कृति-ज्योतिर्विज्ञान-शिल्पकला-स्थापत्यकलादीनां समन्वितरूपं वर्तते। वास्तुविज्ञानं प्रकृतिद्वारा प्रदत्ततत्त्वानां पृथिवी-जल-वायु-तेज-आकाशानां सम्यक् उपयोगं कृत्वा धनवृद्धिं, समृद्धिं, शारीरिकं तथा मानसिकसुखं प्रददाति। भारतीयवास्तुविद्या प्रकृतिप्रदत्तशक्तेः समुपयोगं कृत्वा तच्छक्त्यनुकूलं नगर-भवन-उद्यान-मन्दिरादीन् निर्माय राज्यप्रजादीन् सदैव सुखसमृद्धिभ्यां परिपूरयति ।

अस्माभिः स्वसमीपे यस्यापि प्राकृतिकतत्त्वस्य अनुभवः क्रियते तत्सर्वमपि प्रकृतिरेव वर्तते। मानवः प्रकृतिं विना स्वजीवनस्य कल्पनामपि कर्तुं न अर्हति। सूर्य-चन्द्र पञ्चमहाभूत-वृक्षादयः सर्वमपि प्रकृतिरेव। प्रकृतौ व्याप्ततत्त्वानि वयं स्वानुरूपं परिवर्तयितुं न शक्नुमः परन्तु प्राकृतिकतत्त्वानुकूलम् अस्माभिः भवितुं शक्यते। वयं प्रकृतेः भोगं कुर्मः। भक्षणीयं भोजनं, पातव्यं पेयं, स्थातव्या भूमिः, सूर्यस्य तापः, चन्द्रमसः शीतलता, शुद्धवायुः एतत् सर्वमपि अस्याः प्रकृतेः एव उपलभ्यते।

अस्माकमृषिमुनयः पर्यावरणस्य महत्त्वेन सुपरिचितः आसन्। एतदेव कारणं यत् समये-समये स्वग्रन्थेषु एतस्य उल्लेखः तैः कृतः। ऋग्वैदिककाले सूर्य-चन्द्र-उषा-सोम-इन्द्रादिभ्यः प्राकृतिकरूपेभ्यः देवानां स्वरूपं प्रकल्पितम् । प्रकृतिं देवरूपेण स्वीकरणेन स्पष्टं यत् मनुष्यजीवनं प्रकृतिं विना शून्यं वर्तते।

पञ्चमहाभूतानां सन्तुलनप्रबन्धनकर्तृशास्त्रं वास्तुशास्त्रमुच्यते। मनुष्यसंरचना पञ्चमहाभूतैः अभवत्। यदि सः मन्दिरे/भवने पञ्चमहाभूतनिर्मितवातावरणं प्राप्नोति तर्हि तस्य विकासः सुनिश्चितः। अतः वास्तुनिर्माणाय

भूमि-जलादिकं विचार्य आचार्यैः शुभाशुभत्वं निगदितमस्ति । यथा -

**यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति सस्यं हर्षात्प्रवर्धते।**
**स भूमिर्जीविता वाच्या मृता चातोऽन्यथा भवेत्।।**[1]

अर्थात् यस्यां भूमैः वृक्षाः शीघ्रं संवर्धनं प्राप्नुवन्ति, सा भूमिः जीविता भवति। वृक्षैरैव भूमै उर्वराशक्तिः ज्ञायते।

**मन्दिरशब्दस्य व्युत्पत्तिः –**

**''मंद्यतेऽत्र मदं किरच्''**[2]

अर्थात् यत्किमपि आवासः, गृहम् अथवा निवासस्थानं वा मन्दिरम् वर्तते। 'मन्द' इति शब्दः साहित्ये विश्लेषणरुपेण प्रयुज्यते यस्यार्थः प्रसन्नः, आनन्दः, प्रकाशः, आभासश्च भवति। मन्दरः मन्दारः वा इत्यादयः शब्दाः मन्दशब्दात् निष्पन्नाः भवन्ति। मन्दारस्य अर्थः पर्वतः पर्वतदेवो वा तथा च कल्पवृक्षस्य कृतेपि मन्दाशब्दः प्रयुक्तः अस्ति। महाकाव्येषु, सूत्रग्रन्थेषु, कौटिल्यार्थशास्त्रे तथा शास्त्रग्रन्थेषु देवालयः-देवायतनं-देवकुलः-देवगृहादीनां शब्दानां धार्मिकदेवस्थानरुपेण प्रयुक्ताः सन्ति तथा च दक्षिणभारते देवस्थानाय अधिकांशतः विमानहर्म्यशब्दयोः प्रयोगः प्राप्यते।

विभिन्नशास्त्रग्रन्थेषु मन्दिरनिर्माणाय भूमिचयनस्य निर्देशः वर्तते। कस्याश्चिदपि संरचनायाः निर्माणात् पूर्वं सा संरचना कस्यां भूमौ भवेत् अथवा तस्यै संरचनायै का भूमिः श्रेष्ठाः भविष्यति, विचारोऽयं सर्वप्रथमं करणीयः। मन्दिरनिर्माणाय समीपस्थवातवरणं शुद्धं भवेत्। देवालयः मनुष्याय मानसिकसन्तुष्टिं तथा च आध्यात्मिकशान्तिं प्रददाति। मनुष्यः मन्दिरे स्वाराध्यम् अवलोक्य मन्त्रमुग्धः भवति। भक्तस्य आराध्येन सह मेलनं कस्मिंश्चिद् उत्तमे स्वस्थपर्यावरणे, स्वच्छस्थाने एव भवेत्।

मन्दिंर केवलं मनुष्येभ्यः आश्रयस्य अथवा भक्तेः स्थानं न अपितु पशु-पक्षीभ्योऽपि संरक्षणं प्रददाति। कापि संरचना या वातावरणानुकूला न भवति, सा कस्मैश्चिदपि सन्तुष्टिं न प्रददाति। वास्तुशास्त्रीनियमानां पालनं वातावरणे मानवीयजीवने च सामञ्जस्यं भवति।

**भूमिचयनम्–**

देवालयचन्द्रिकायां निगदितं यत् यत्र कर्पूर-अगरु -नारिकेल-तिलक-दर्भ-कदम्ब-अर्जुन-मालेय-क्रमुक-केतकी-इक्षु-कुन्द-कमल-उत्पलादयः जायन्ते एधन्ते च, सा भूमिः मन्दिरनिर्माणाय सर्वश्रेष्ठा भवति। यथोक्तम् -

**कर्पूरागरुनारिकेलतिलकैर्दर्भैः कदम्बार्जुने-**
**र्मालेयैः क्रमुकेक्षुकेतककुशैः कुन्दारविन्दोत्पलैः।**
**पूर्वोदक्प्लवशालिनी बहुजला वा या दरीदृश्यते।**

1. वृ.वा.मा.मिश्रप्रकरण 101
2. कंवल-रामलाल,प्राचीन मालवायां मन्दिरस्य वास्तुकला, अध्याय-२, पृ. 20

**सेयं शान्तिकरी सुरेशयजने सूक्ता सुपद्मा मही।।**[1]

यत्र जलप्रवाहः पूर्वदिशं प्रति भवति अर्थात् भूमिप्लवः पूर्वं प्रति भवति, या भूमिः बहुजला, कमलैः परिपूर्णा भवति सा भूमिः देवालयाय सर्वोपयुक्ता भवति।

देवालयचन्द्रिकायां भूमिः भद्रा तथा पूर्णा नामाभ्यां कथिता। भूमिद्वयमपि मन्दिरनिर्माणाय सर्वश्रेष्ठम् उक्तम्। भूमिद्वयस्यापि लक्षणं विशेषताश्च एवं सन्ति।

**भद्रा-संज्ञकभूमिः -** या भूमिः वृक्षैः तथा फलैः पूर्णा, तथा समुद्रतटे विद्यते, नदीप्रवाहस्य अथवा कस्यचित् प्रसिद्धतीर्थस्थलस्य दक्षिणभागे भवेत्, या ब्रीहिक्षेत्राणां पश्चिमभागे भवेत्, यस्यां भूमौ यज्ञाय उपयोगिनः पलाशादयः वृक्षाः भवेयुः, या भूमि उद्यानयुता अथवा जलाशययुक्ता भवति सा भूमिः भद्रा उच्यते। एतादृशी भूमिः याज्ञिकेभ्यः प्रीतिदायिका भवति।

**तीरं वारिनिधेः श्रिताथ सरितस्तीर्थस्य वा दक्षिणे**
**व्रीहिक्षेत्रविचित्रताप्यदिशि यज्ञार्हाङ्घ्रिपैरङ्किता ।**
**कीर्णा पूर्वफलप्रसूतनरुभिर्योद्यानह्यद्यापि वा ।**
**भद्रा सा परिगीयते वसुमती प्रीतिप्रदा यज्वनाम् ॥**[2]

**पूर्णासंज्ञाभूमिः –**

या भूमिः प्लक्ष-अश्वत्थ-निम्ब-अर्जुन-कुल-कुलस्थ-आसना-अशोक-निष्पाव-अङ्कोल-मालती-चम्पक-तिल-खदिर-कोद्रववृक्षैर्युक्ता । या भूमिः पर्वतशिखरे अथवा पर्वतैः परिवृता भवति। सा भूमिः पूर्णा कथिता। भूमीयं देवगृहमपि कथिता।

**वृक्षेषु देवत्वम् –**

भारतीयवास्तुशास्त्रीणां मतमस्ति यत् वृक्षाः अस्मभ्यम् दीर्घायुषं सौन्दर्यं च प्रददति। प्राणवायोः तथा च अनुकूलचुम्बकीयतत्त्वानां। प्राप्तिरपि वृक्षैः सहजतया भवति। यथा निम्बवृक्षः विविधौषधिरूपेण शिरसारभ्य पादपर्यन्तम् विभिन्नासाध्यरोगाणां प्रतिरोधं करोति। तथैव तुलसीवृक्षस्यापि विशेषमहत्त्वमस्ति।

वृक्षाणां महत्तायाः विषये विभिन्नग्रन्थेषु वर्णनं प्राप्यते। वृक्षाः पञ्चमहाभूतानां सन्तुलनं कुर्वन्ति। वृक्षाः पृथ्वीतत्त्वं बलं प्रदति जलतत्त्वं संरक्षं, अग्नितत्त्वस्य प्रबन्धनं कुर्वन्ति। वायुतत्त्वस्य शुद्धिकरणं तथा पवित्रीकरणं कुर्वन्ति। एतेषां चतुर्णां तत्त्वानां प्रभावेणैव आकाशतत्त्वं व्यवस्थितं भवति।

बृहद्वास्तुमालानामकग्रन्थे वृक्षाणां महत्त्वोपरिः एतत् वर्णनं प्राप्यते-

**अश्वत्थमेकं पचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चणीकम्।**
**कपित्थविल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत् ॥**[3]

---

1. देवालयचन्द्रिका, प्रथमपटल, श्लोक संख्या 3
2. देवालयचन्द्रिका, प्रथमपटल श्लोक सं. 4
3. बृहद्वास्तुमाला 5.23

अर्थात् यदि कश्चन मनुष्य एकस्य अश्वत्थस्य एकस्य निम्बस्य, एकस्य न्यग्रोधस्य, दश चिञ्चणीकानाम्, त्रयाणां विल्वानाम्, त्रयाणाम् आमलकानाम्, पञ्चानाम् आम्राणाञ्च रोपणं करोति सः नरकद्वारं न पश्यति।

एवमेव मत्स्यपुराणे पर्यावरणमहत्त्वस्य वर्णनं प्राप्यते, यत्र वृक्षाणां शुभाशुभानाम् एवं वास्तुदोषाणां निरुपणं कृत्वा वास्तुदोषाणां निवारणं कृत्वा वृक्षारोपण प्रक्रिया वर्णिता।

वृक्षां अस्माकं कृते दैवीयशक्तेः स्वरूपाः सन्ति। न केवलं देवपूजायामेव यज्ञेष्वपि तुलसी-दुर्वा-कुश-बेलपत्र-आम्र-चन्दन-पलाश-खदिर-अश्वत्थ-अर्कादीनां वृक्षाणाम् अत्यधिकं महत्त्वं वर्तते। वामनपुराणे विभिन्नवृक्षाणाम् उत्पत्तिः विभिन्नदेवभ्यः कथिता।[1]

| **देवता** | **वृक्षः** | **देवता** | **वृक्षः** |
|---|---|---|---|
| कामदेवः | कदम्बः | यमराजः | कृष्णोदुम्बरम् |
| मणिभद्रः | वटवृक्षः | रुद्रः | अहूसा |
| शिवः | धत्तूरः | स्कन्दः | बन्धुजीवा |
| ब्रह्मा | खदिरः | सूर्यः | अश्वत्थः |
| विश्वकर्मा | कण्टकी | कात्यायनी | शमी |
| पार्वती | कुन्दगुल्मः | लक्ष्मीः | बिल्वः |
| गणेशः | सिन्धुवारकः | शेषनागः | श्वेतश्यामदूर्वा |

एतेषु वृक्षेषु तेषां देवतानां स्वाभाविकप्रीतिः भवति। एतेषां वृक्षाणां पूजनेन एतेषां देवतानां कृपा प्राप्यते। एतदतिरिक्तं लोके देवीदेवानाम् उपासनायै लतापत्रादिभिः मण्डपं निर्माय पूजायाः विधानम् प्राप्यते । मन्दिरस्य जगत्याः स्थाने मण्डपं स्थाप्य तत् कदलीपत्र-लतापत्र- वस्त्रादिभिः आच्छाद्य मन्दिरस्य रूपं दीयते।

मन्दिरनिर्माणाय भूमिचयनानन्तरम् चयनितभूमौ मुहूर्तानुसारं विधानानन्तरं भूमिकर्षणाय वृषभाः योज्यन्ते। लाङ्गलनिर्माणाय असननामकवृक्षस्य काष्ठः प्रयोक्तव्यः। देवालयचन्द्रिकायाम् उक्तम्- दर्भैः रज्जुः निर्मातव्या, तदा रज्जुना वृषभाः बधनीयाः, वृषभकण्ठे श्वेतपुष्पमाला भवेत्। यथोक्तम् देवालयचन्द्रिकायाम् -

**आचार्यो मनुभावितोऽह्नि सुशुभे लग्ने वृषाभ्यां मिथ-**
**स्तुल्याभ्यामसनादिजैर्हलयुगाद्यैर्दर्भमालासितैः।**
**प्रागास्यो मिहिरार्णतस्त्रिरथवा कृष्ट्वा क्षितिं पञ्चधा**
**मुद्गादीनि समुप्य मूलमनुना सिञ्चेज्जितन्ताणुना ॥**[2]

इत्थं भूमिचयनादनन्तरं भूमिकर्षणादिष्वपि कार्येषु वृक्षाणां प्रयोगः भवति। मन्दिरं पर्यावरणञ्च परस्परमं पूरके स्तः न तु भिन्ने।

**देवप्रतिमा-** मानवशरीरे यथा हृदये आत्मनः निवासः भवति तथैव देवालयस्य गर्भगृहे परमात्मनः प्रतिमारूपे

1. वास्तुविमर्शपत्रिका, पृ. स. 83, एकादश पुष्प, संस्करण-2018
2. देवालयचन्द्रिका, प्रथमपटल,श्लोक सं. 7

अवस्थितिः प्रकीर्तिता।[1] यथा-

**ब्रह्मस्थानं यदैतच्च तन्नाभिः परिकीर्तिता।**

**हृदयं पीठिका श्रेया प्रतिमा पुरुषः स्मृतः ॥[2]**

शास्त्रलिखितप्रतिमास्वरूपानुसारमेव शिल्पिभिः मूर्तिनिर्माणं क्रियते। देवायतननिर्माणाय येषां द्रव्याणाम् आवश्यकता भवति तेषु द्रव्येषु पाषाणः अथवा शिला प्रधाना भवति। मानवसभ्यतायाः विकासेन शिल्पादिकार्याणामपि विकासः अभवत्। प्राचीनकाले प्रस्तरैः अथवा धातुभिः मूर्तिनिर्माणं न भवति स्म। तदा प्रायः मृत्तिकायाः अथवा काष्ठस्य प्रतिमा भवति स्म। काष्ठ-धातु-इष्टिकादीनां प्रयोगः अपि क्रियते स्म परन्तु पाषाणस्यैव प्राधान्यम् आसीत्। अतः आधारात् शिखरपर्यन्तं पाषाणास्यैव प्राधान्यं भवति। अयं पाषाणः अथवा शिलापी पर्यावरणस्यैवोपहारः। मानवेन शिल्पकलायाः विकासं कृत्वा प्रकृतौ उपलब्धानां समेषामपि द्रव्याणां स्वकार्याय प्रयोगः कृतः। मन्दिरनिर्माणानन्तरं गर्भगृहे प्रतिमा अनेनैव पाषाणेन निर्मीयते। प्रकृतौ उपलब्धेन एकेन पाषाणेन देवप्रतिमायां परिवर्तनं कृत्वा तस्मै एकं रूपम्, सुन्दरता, आकारश्च प्रदीयते।

विश्वकर्मावास्तुशास्त्र-शुक्रनीति-विश्वकर्माप्रकाश-समरागणसूत्रधार-अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-मानसोल्लास-राजवल्लभवास्तुशास्त्र-प्रासादमण्डनादिषु ग्रन्थेषु पाषाणशिलादीनां ज्ञानम् आवश्यकमुक्तम्। सूत्रधारमण्डने देवतामूर्तिप्रकरणे सूत्रधाराय धातु-रत्न-शिला-काष्ठ-चित्रं लेपादीना ज्ञानं प्रदत्तम्-

**धातुः रत्नशिलाकाष्ठचित्रलेपसमुद्भवम् ।**

**यद्रूप विधिवत्तस्य विधिं वक्ष्यामि वस्तुतः ॥[3]**

प्रतिमानिर्माणाय अष्टलोह-रत्न-श्रेष्ठवृक्ष-इष्टिका-प्रवालैः सह पर्वतीयपाषाणाः शुभप्रदाः उक्ताः यथा-

**अष्टलोहमयी मूर्तिः शैलरत्नमयी तथा।**

**श्रेष्ठवृक्षमयी वाऽपि प्रवालादिमयी शुभा ॥[4]**

**शिलाभेदः-** वास्तुशास्त्रिभिः शिल्पशास्त्रिभिश्च त्रिधाः शिलाः स्वीकृताः। 1. पुरुषशिलाः, 2. स्त्रीशिलाः तथा ,3. नपुसंकशिलाः, एतासां शिलानां विभाजनम्[5] शिलाणां गुणाधारेण आकाशाधारेण च कृतमस्ति।

श्वेता रक्ता च पीता च विप्रादीनां द्विवासिता।[6] इत्यनुसारेण श्वेत-रक्त-पीत-श्यामवर्णशिलाः क्रमशः ब्राह्मणेभ्यः, क्षत्रियेभ्यः, वैश्येभ्यः, शूद्रेभ्यः च उपयोगी भवति।

वास्तुशास्त्रस्य निर्देशः अस्ति यत् पुरुषदेवानाम् यथा शिवलिङ्ग-राम-कृष्ण-गणेश-ब्रह्मादीनां प्रतिमाः

1. प्रासादमण्डन-उपोद्धात पृ. 03
2. क्षीरार्णव 01/03
3. देवतामूर्तिप्रकरण, संपादक-डॉ. श्रीकृष्ण जुग्नू न्यू भारतीयबुक्स कार्पोरेशन दिल्ली, 2003
4. सूत्रधारमण्डन 1/23
5. शिलाचयन की परम्परा, प्रथम अध्याय. पृ. 9
6. मयंमत 33/41

पुरुषशिलाभिः निर्मिताः भवेयुः। तथा पिण्डिकानां देवीनां च प्रतिमाः स्त्रीजातिशिलाभिः निर्मिताः भवेयुः। नपुंसकशिलाभिः देवालय-भवन-कुण्डादीनां निर्माणं भवेत्। विशेषरूपेण भिन्ने तलभागे उपयोगः करणीयः। यथा–

**लिङ्गनी प्रतिमा मिश्रं कुर्यात् पुंशिलया सुधीः ।**
**युञ्जीयात् स्त्रीशिलां सम्यङ्नारीबेरं च पिण्डिकम् ॥**
**षण्डोपलेन कर्त्तव्ये ब्रह्मकूर्म शिले तथा ।**
**प्रासादतलकुण्डालिकर्म कुर्याद् विचक्षणः ।**
**एवं मूर्तिनिर्माणाय पाषाणावश्यकता भवति ।**[1]

**मन्दिरेषु पर्यावरण-संरक्षणम्**

पर्यावरणाद् अभिप्राय अस्मान् परितः विस्तृतेन तेन वातावरणेन परिवेशेन वा वर्तते येन वयम् आवृताः स्मः। प्रकृतौ विद्यमानाः समस्तजैविकाजैविकघटकाः पर्यावरणसंरचनायां सहायकाः सन्ति। प्रकृतिमानवयोः सृष्टे आरम्भादेव अन्योन्याश्रितसम्बन्धः वर्तते। अस्माकं पुरातनधार्मिकपरम्पराः पर्यावरणसन्तुलने सहायकाः सन्ति। मन्दिरेषु क्रियामाणाः हवन-यज्ञ-पूजा-पाठादयः न केवलं जनजीवनाय सुखसमृद्धी एव प्रददति, अपितु विज्ञानसम्मताः अपि एते वर्तन्ते, यैः पर्यावरणं स्वच्छं भवति। महर्षिः दयानन्देनोक्तं यद् यदि पर्यावरणशुद्धिम् एवं सुखवृद्धिम् इच्छन्ति तर्हि नित्यं प्रातः प्रत्येकमपि गृहे यज्ञः भवेत्। आरोग्यतायाः सम्बन्धः यज्ञेन वर्तते असंख्याज्ञातसूक्ष्मजीवाणवः अस्मान् परितः वातावरणे तथा अस्माकं रोमकूपेषु रक्ते तथा अङ्गेषु भवन्ति। हवनेन एतेषां सर्वेषां नाशः भवति। असाध्यरोगाणामपि उपचारः हवनेन सम्भवति। अश्वत्थ-आम्र-बिल्व-पलाश-शमी-उदुम्बर-अशोक-पारिजात-आमलक-मौलश्रीवृक्षाणां समिधाभिः घृतेन सह हवनः क्रियते। एतत् सर्वम् अद्यत्वे विज्ञानसम्मतं वर्तते। यतः यज्ञानाम् उद्देश्यं पञ्चभूतानां शुद्धिः वर्तते, यत्तु अस्माकं पर्यावरणस्यैवाङ्गं वर्तते। यज्ञानां वैदिकोद्देश्यं पर्यावरणशुद्धिः सन्तुलनञ्च वर्तते। एवं मन्दिरेषु यज्ञैः पर्यावरणशुद्धिः भवति।

**वृक्षाः तथा तेषां पर्यावरणे प्रभावः**

**वटः** – वटः न्यग्रोधनाम्नापि ज्ञायते। वटवृक्षस्य विशेषता अस्ति यत् अस्मिन् सम्पूर्णजैवविविधता भवितुं शक्यते। अत्र पिपीलिकादारभ्य भिन्न-भिन्न पक्षिपर्यन्तं सर्वे आश्रयन्ति। वटवृक्षः कार्बनडाईआक्साइड $CO_2$ इत्यस्य अवशोषणं करोति। वटः ऑक्सीजन $O_2$ इत्यपि सर्वाधिकं त्यजति।

**अश्वत्थः** – अश्वत्थस्य पूजा सम्पूर्णदेशे भवति। अयं सर्वाधिकः शुभः तथा च दिव्यवृक्षः मन्यते। वैज्ञानिकैरपि एतत् स्वीकृतं यत् अनेन वृक्षेण उत्सर्जिता $O_2$ गैस इति शक्तिशालीनी, उत्तमा तथा शाखासु अधिका भवति। सूर्योदयात् पूर्वम् अमुम् वृक्षं परितः परिक्रमणं स्वास्थ्याय अत्यन्तं लाभप्रदं भवति।

**तुलसिका** – तुलसिका सुभगा, पावनी, पुण्या, वैष्णवी इत्यादिभिः नामभिरपि ज्ञायते। तुलसिकायाः वैज्ञानिकम्, औषधीयम् तथा आध्यात्मिकं महत्त्वं वर्तते। एषा विषाक्तकीटाणु-

1. काश्यपशिल्पम् 49, 57-58

रोगवर्धककीटाणुनां नाशं करोति। श्वाससम्बन्धिरोग-कुष्ठादिरोगाणाम् उपचारे तुलसिका लाभप्रदा भवति।

**निम्बः** – वृक्षोऽयं कीटनाशकरूपेण कार्यं करोति। पूर्णरूपे अस्य बीजानि जलं परिष्कुर्वन्ति। वायुं च शुद्धं करोति।

**आम्रः** – अस्य पत्राणि कीटनाशकरूपेण कार्यं करोति। आम्रः स्वास्थ्याय उत्तमः भवति। आम्रवृक्षस्य आयुः अत्यधिकं भवति। एतादृशाः अनेके वृक्षाः सन्ति ये ५००-६०० वर्षेभ्यः जीविताः सन्ति।

**कदलीवृक्षः** – कदलीफलं सम्पूर्णवर्षे उपलब्धः भवति। वृक्षोऽयं आवर्षं फलं ददाति। कदलीवृक्षस्य पत्राणाम् उपयोगः सज्जारूपेणापि प्रयुज्यते। वृक्षोऽयं सम्पन्नतायाः प्रतीकः वर्तते।

**नारिकेलः** – वृक्षोऽयं कल्पवृक्षरूपेण प्रसिद्धः वर्तते। एतेषां आयुः १००-१५० वर्षाणि यावत् भवति। नारिकेलस्य जलमपि स्वास्थ्यवर्धकं भवति। नारिकेलस्य आवरणकमपि अग्नि-प्रज्वलनाय उपयुक्तं भवति। ईन्धनरूपेणापि अस्य प्रयोगः भवति।

एतेभ्यः वृक्षेभ्यः अतिरिक्तम् अन्ये वृक्षा अपि सन्ति ये न केवलं पर्यावरणं शुद्धं कुर्वन्ति अपितु मानवानां कल्याणमपि कुर्वन्ति। मन्दिरस्य तथा तस्य समीपस्थवृक्षाः वातावरणं स्वच्छं शुद्धं च कुर्वन्ति। मन्दिरे एतेषां वृक्षाणां संरक्षणं भवति।

मनुष्यः मन्दिरे परमात्मनः दर्शनं करोति। परमात्मनः निवासः तस्मिन्नेव स्थाने भवति यत्र वातावरणं स्वच्छं पवित्रं तथा आनंदमयं भवति। न केवलं मन्दिरस्य एव समीपस्थवातावरणमपि स्वच्छं भवेत्। स्वच्छता शुद्धता च शुद्धपर्यावरणस्योदाहरणं अस्ति।

एवं मन्दिरेण पर्यावरणस्य संरक्षणं क्रियते। यज्ञस्य हवनसामग्री, धूपं, गन्धवर्तिकादयः मन्दिरस्य वातावरणं स्वच्छं, शुद्धं पवित्रञ्च कुर्वन्तीति।

**निष्कर्षः-** वास्तुशास्त्रस्य पर्यावरणस्य च सम्बन्धः अत्यन्तगहनः वर्तते। एवमेव पर्यावरणमन्दिरयोः सम्बन्धोऽपि अत्यन्तगूढः वर्तते। ब्रह्माण्डेऽस्मिन् प्रकृतिः एव सर्वश्रेष्ठा, बलवती च। प्रकृतिरेव सृष्टेः आधारः वर्तते। भूमिचयनाय, देवप्रतिमानिर्माणाय, यज्ञ-देवपूजनादीनां कृते प्रकृतेः महती आवश्यकता भवति। प्रकृतौ उपलब्धसंसाधानां प्रयोगं कृत्वैव मन्दिरनिर्माणं भवति। मन्दिरनिर्माणानन्तरं मन्दिरस्य वातावरणं वृक्षाः शुद्धं कुर्वन्ति। मन्दिरं केवलं पर्यावरणस्यैव न अपितु मानवजीवनकल्याणाय च अपि वर्तते।

❖ ❖ ❖

# श्रीमद्रामायणदिशा नगरवास्तुविचारः

**– ए. श्रीनिवास शर्मा**

**– प्रो. ए. श्रीपादभट्टः**

नगरनिर्माणविधानानि भारतदेशे वेदेषु तथा आगमशास्त्रे च वर्तन्ते। मयः, विश्वकर्मा इत्यादयः नगरनिर्माणविधानानि लोकाय प्रदत्तवन्तः । रामायणे अपि अयोध्यायाः तथा लङ्कायाः नगरवर्णनम् अद्भुतरूपेण कृतम् । नगरी कथं भवेत्, राजधानी कथं भवेत्, मुख्यतया राजधान्याः निर्माणं दुर्गेषु कुतः कर्तव्यम् ? ततः किं प्रयोजनम् ? रक्षणं कथं कर्तव्यम् इत्यादयः विषयाः अत्र प्रस्तूयन्ते ।

**नगरलक्षणानि -**

नगरस्य लक्षणानि कथं भवेयुरिति मयमते इत्थं प्रोक्तम् -

**उन्नतगोपुरयुक्ता नानाविधमालिकोपेता । सर्वसुरालयसहिता नानागणिकान्विता बहूद्याना ॥**[1]

उन्नतगोपुराः, विभिन्नप्रकाराः अट्टालकाः, समस्तदेवतामन्दिराणि, बहून्युद्यानानि यत्र विद्यन्ते तत्तु नगरमिति परिकीर्त्यते ।

**हस्त्यश्वरथपदातिबहुमुख्या सर्वजनयुक्ता । द्वारोपद्वारयुताभ्यन्तरतोऽनेकजवासा ॥**[2]

यत्र अश्व-गज-रथ-पदातिसर्वजनयुक्तं, द्वारोपद्वारयुतं नगरं भवति ।

**राजधानी लक्षणम् -**

**या नृपवेश्मसमेता सा कथिता राजधानीति ।**
**काननवनदेशे वा सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥**[3]
**क्रय-विक्रयकैर्युक्तं पुरमुदितं यत् तदेव नगरमिति ।**[4]

यस्मिन् राज्ये राजभवनं भवति सा राजधानीति कथ्यते । अरण्याः, जननिवासयोग्यप्रदेशाः, वस्तूनां क्रय-विक्रयणानि यत्र भवन्ति तत्तु नगरमित्युच्यते।

**राष्ट्रस्य मध्यभागे सज्जनबहुले नदीसमीपे च ।**

---

1. मयमतम्, 10-23
2. मयमतम्, 10-24
3. मयमतम्, 10-25
4. मयमतम्, 10-26/1

**नगरं केवलमथवा राजगृहोपेतराजधानी वा ॥**[1]

यस्मिन् प्रदेशे सज्जनाः, नद्यश्च भवन्ति तत्तु नगरम्। यदि नगरस्य मध्यभाग उन्नतशिखरयुतं राजगृहं भवति चेत् सा राजधानी भवति ।

**दुर्गलक्षणानि**

मयमतानुसारं दुर्गलक्षणानि -

**बहिरुदकं रहितवनं छन्नपथं दुष्प्रवेशं च । गोपुरमण्डपयुक्तं सोपानच्छन्नमच्छन्नम् ॥**[2]

**द्विकवाटचतुष्परिघार्गल हस्तोन्नतेन्द्रकीलयुतम् । सस्थूणमध्यमालयमिण्ठकसहितं सगूढसोपानम्॥**[3]

**द्वाराणि मण्डपसभाशालाकाराणि कार्याणि ।**[4]

दुर्गाणि कथं भवेयुरित्युक्ते दुर्गं परितः जलाशयानि, विस्तृतपन्थानः, दुष्प्रवेशमार्गाः, गोपुरयुतमण्डपाः, ससोपानसौधानि भवेयुः। न्यूनातिन्यूनं कवाटद्वयं, चतुर्षु दिक्षु परिघाः, अर्गलाः भवेयुः। सगूढसोपानानि, द्वाराणि, सभामण्डपानि भवेयुः।

**द्वारलक्षणम् -**

**दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुतं तु शालाढ्यम् । क्रयविक्रयकैर्युक्तं सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥**[5]

**दुर्गे यन्त्राणां प्रयोजनम्**

दुर्गेषु यन्त्राणामावश्यकता इति विचारः मयमते उपलभ्यते -

**सर्वस्याभ्यन्तरतः पांसुचयोपर्यनेकयन्त्रयुतम् ।**
**परितः परिखोपेतं पांसुचये संहताट्टालम् ॥**[6]
**चतुर्षु दिक्षु मृण्मयभित्तीनामुपरि आयुधयुतयन्त्राणि योजनीयानि।**
**अपराजितपृच्छे विविधयन्त्रलक्षणानि उपलभ्यन्ते ।**

लक्षणान्यनुसृत्य दुर्गाणि सप्तधा विद्यन्ते । तद्यथा –

**गिरिवनजलपङ्केरिणदैवतमिश्राणि सप्त दुर्गाणि ॥**[7]
**गिरिमध्यं गिरिपार्धं गिरिशिखरं पार्वतं दुर्गम् ।**
**अजलं तरुवनगहनं वनदुर्गं तदुभयं तु मिश्रं स्यात् ॥**

1. मयमतम्, 10-19
2. मयमतम्, 10-40
3. मयमतम्, 10-41
4. मयमतम्, 10-42/1
5. मयमतम्, 10-20
6. मयमतम्, 10-45
7. मयमतम्, 10-36

**दैवं तु सहजं दुर्गं पङ्कयुतं पङ्कदुर्गं स्यात् ।**
**नद्यब्धिपरिवृतं यज्जलदुर्गं निर्वनोदमिरिणं स्यात् ॥**

1. गिरिदुर्गम् । 2. वनदुर्गम् । 3. जलदुर्गम् । 4. पङ्कदुर्गम् । 5. इरिणदुर्गम् ।
6. दैवतदुर्गम् । 7. मिश्रदुर्गम् ।

सप्तानां दुर्गाणां लक्षणानि मानसारे इत्थं प्रतिपादितानि -

**पर्वतावृत्तमध्ये च पर्वतस्य समीपके । पर्वताग्रप्रदेशे तु गिरिदुर्गमिति त्रिधा ॥[1]**
**तलपर्जान्यान्तरयुतं गगनं च प्रवेशनम् । एतत्तु वनदुर्गं स्याज्जलदुर्गमिहोच्यते ॥[2]**
**समुद्रैश्च नदीभिश्च संवृतं जलदुर्गकम् । पर्वतकन्दरैर्युक्तं दुष्प्रवेशं च शत्रुभिः ॥[3]**
**दुर्गं तु कृत्वा नृपतिस्तिष्ठेत्तत्पङ्कदुर्गकम् ।[4] मन्त्रतन्त्रादिसामर्थ्यैः कृतान्तं देवदुर्गकम् ॥[5]**
**अनेकपर्वतोपेतं नानावनसमिश्रकम् । तत्रास्थितं तु तद्दुर्गं मिश्रदुर्गमिति स्मृतम् ॥[6]**
**सर्वेषामपि दुर्गाणां वप्रैश्च परिधैर्वृतम् । प्रवेशनिर्गमस्थाने द्वारैरपि समन्वितम् ॥[7]**

**मयमतानुसारं दुर्गप्रयोजनम्–**

**दुर्गं दुर्गममुक्तं दुर्लङ्घयं दुरवगाहं च ॥[8] रक्षार्थं च जयार्थं च ह्यरिभिरभेद्यं च दुर्गमिष्टं स्यात् ।[9]**

दुर्गं प्रवेशाय दुःशक्यं, दुर्जय्यम्, शत्रुभिरभेद्यं भवेत्, तादृशं दुर्गं रक्षणार्थं जयार्थञ्चोपयोगी भवति ।

**रामायणे वास्तुविमर्शः**

**लङ्कानगरवास्तु -**

लङ्कानगरवास्तु श्रीमद्रामायणे सुन्दरकाण्डे हनुमता धृष्टम्। तथैव युद्धकाण्डे समुद्रावतरणानन्तरं रामेण वर्णितम्।

**काञ्चनेनावृतां रम्यां प्रकारेण महापुरीम् । गृहैश्च गिरिसंकाशैः शारदाम्बुदसंनिभैः ॥[10]**
**पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम् । अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजशोभिताम् ॥[11]**

1. मानसारः, 10-46
2. मानसारः, 10-47
3. मानसारः, 10-48
4. मानसारः, 10-49/1
5. मानसारः, 10-51
6. मानसारः, 10-52
7. मानसारः, 10-53
8. मयमतम्, 10-48/2
9. मयमतम्, 10-49/1
10. रामायणम्, 5-2-16
11. रामायणम्, 5-2-17

**तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्किविराजितैः । ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव ॥[1]**

**गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभैः । ददर्श स कपिः श्रीमान्पुरीमाकाशगामिव ॥[2]**

**पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा । प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान्कपिः ॥[3]**

**सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम् । स्थलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः ॥[4]**

स्वर्णप्राकारमयी लङ्का शरत्कालमेघ इवोन्नतगिरिसदृशगृहैः सह रमणीयतया भाति। सा लङ्का विस्तृतैः प्रधानैः वीथिभिः सह दीव्यति । असंख्याकाट्टालकैः, दिव्यतोरणैः, चित्रविचित्रलतापङ्किभिः, तथैव पताकध्वजैः सह प्रकाशते । तथा प्रकाशमाना लङ्का स्वर्गस्थामरपुरीमिव देदीप्यते । शिखराग्रे स्वर्णयुक्तभवनैः सहाकाशनगरमिव भासमानां तां लङ्कां हनुमान् ददर्श । विश्वकर्मणा निर्मिता लङ्का रावणेन पालिता। स्वर्णमयी लङ्का सप्त उत अष्ट अट्टालकयुक्तभवनानि, स्फटिकयुक्तस्थलानि हनुमान् ददर्श ।

**लङ्कानगरे रावणभवनम् –**

**रूप्यकोपहितैश्चित्रैः तोरणैर्हेमभूषणैः । विचित्राभिश्च कक्ष्याभिद्वरिश्च रुचिरावृतम् ॥[5]**

**अर्धयोजनविस्तीर्णमायतं योजनं महत् । भवनं राक्षसेन्द्रस्य बहुप्रासादसंकुलम् ॥[6]**

रावणमन्दिरं स्वर्ण-रजतमयद्वारैः सह शोभते । चित्रविचित्राः अट्टकाः विराजन्ते । तन्मन्दिरं नैकप्रासादयुतम् अर्धयोजनविस्तीर्णम् एकयोजनमुन्नतम् ।

श्रीरामो वानरसेनाभिस्साकं सुवेलपर्वतशिखरमारुह्य लङ्कानगरस्य सौन्दर्यमित्थं दृष्टवान् -

**स्थित्वा मुहूर्ते तत्रैव दिशो दश विलोकयन् । त्रिकूटशिखरे रम्ये निर्मितां विश्वकर्मणा ॥[7]**

**ददर्श लङ्कां सुन्यस्तां रम्यकाननशोभिताम् । तस्य गोपुरश्टङ्गस्थं राक्षसेन्द्रं दुरासदम् ॥[8]**

श्रीरामश्चित्रविचित्रकाननयुतत्रिकूटपर्वतस्योपरि विश्वकर्मनिर्मितां रमणीयलङ्कां ददर्श । तदा राजगोपुरे राक्षसेन्द्रं रावणं वानरसेनाः दृष्टवन्तः ।

**दृढबद्धकवाटानि महापरिघवन्ति च। चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहान्ति च ॥[9]**

**तत्रेषूपलयत्राणि बलवन्ति महान्ति च। आगतं परसैन्यं तैस्तत्र प्रतिनिवार्यते ॥[10]**

---

1. रामायणम्, 5-2-18
2. रामायणम्, 5-2-19
3. रामायणम्, 5-2-20
4. रामायणम्, 5-2-49
5. रामायणम्, 5-6-4
6. रामायणम्, 5-9-2
7. रामायणम्, 6-40-2
8. रामायणम्, 6-40-3
9. रामायणम्, 6-3-11
10. रामायणम्, 6-3-12

**द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाः शिताः । शतशो रचिता वीरैः शतघ्यो रक्षसां गणैः ॥[1]**

**सौवर्णस्तु महांस्तस्याः प्राकारो दुष्प्रधर्षणः । मणिविद्रुमवैदूर्यमुक्ताविरचितान्तरः ॥[2]**

**सर्वतश्च महाभीमाः शीततोया महाशुभाः । अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः ॥[3]**

**लङ्कापुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा । नादेयं पार्वतं चान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम् ॥[4]**

**स्थिता पारे समुद्रस्य दूरपारस्य राघव । नौपथश्चापि नास्त्यत्र निरुद्देशश्च सर्वशः ॥[5]**

**शैलाग्रे रचिता दुर्गा सा पूर्देवपुरोपमा । वाजिवारणसंपूर्णा लङ्का परमदुर्जया ॥[6]**

लङ्कायाः द्वाराणि दृढबद्धानि, विपुलान्युन्नतानि चत्वारि सन्ति । तेषामुपरि शक्तियुक्तयन्त्राणि विलसन्ति। तानि यन्त्राणि लोहयुतानि शक्तियुक्तानि सदा सन्नद्धानि च। शक्तियुक्तशस्त्रान्, शिलाखण्डान् क्षिपन्ति ।

अतिभयङ्काराः शीततोययुक्तपरिखाः लङ्कायाः चतुर्षु दिक्षु विद्यन्ते । तासु परिखासु मकराः, मस्त्याः भ्रमन्ति स्म। परिखाणामुपरि यन्त्राधारितवारिधयः दरीदृश्यन्ते ।

लङ्कायाः उपरि विजृम्भणमसाध्यम्। नद्यः, कृत्रिमागाधाः, अचलाः, वनानि, प्राकारादीनि लङ्कायां विद्यन्ते इति हेतोः देवताः अपि प्रवेष्टुं न शक्नुवन्ति। लङ्काप्रापणं दुःशक्यम्। सा लङ्का त्रिकूटपर्वतस्याग्रे संरचिता ।

**श्रीरामभद्रस्य प्रासादवर्णनम् –**

सुमन्त्रस्य श्रीराममन्दिरदर्शनसन्दर्भे वाल्मीकिना प्रतिपादितं यथा-

**ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम् । रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ॥[7]**

**महाकवाटविहितं वितर्दिशतशोभितम् । काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम् ॥[8]**

**शारदाभ्रघुनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहोपमम् । मणिभिर्वरमाल्यानां सुमद्भिरलङ्कृतम् ॥[9]**

कैलासशिखरमिव देदीप्यमानं, इन्द्रभवनमिव सुशोभितयुतं, महाकवाटाभिहितं राममन्दिरं सुमन्त्रेण दृष्टम्। असङ्ख्याकाः वेद्यः, प्रमुखशिखाराणामुपरि स्वर्णमयमूर्तयः तस्मिन् भवने विराजन्ते । मेरुगृहसदृशस्य राममन्दिरस्य सिंहद्वारं नानाविधहेमरत्न- वज्रवैदूर्यसमलङ्कृतं विद्यते ।

**तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह । क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥[10]**

---

1. रामायणम्, 6-3-13
2. रामायणम्, 6-3-14
3. रामायणम्, 6-3-15
4. रामायणम्, 6-3-20
5. रामायणम्, 6-3-21
6. रामायणम्, 6-3-22
7. रामायणम्, 2-15-31
8. रामायणम्, 2-15-32
9. रामायणम्, 2-15-33
10. रामायणम्, 2-9-55

अयोध्याखण्डे मन्थरया प्रोत्साहिता मदगर्विता सा सुन्दरी कैकेयी क्रोधागारं प्रविवेश । पुरा राजमन्दिरेषु क्रोधागारस्यापि प्रामुख्यं विद्यते । तदेव बृहद्वास्तुमालायां प्रोच्यते-

**तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनस्य च मन्दिरम् ।**
**कामोपभोगशमनं वायव्योत्तरयोगृर्हम् ॥**[1]

पश्चिमवायव्यदिशि रोदनमन्दिरं भवतीत्यनेन श्लोकेन ज्ञायते ।

वास्तुशास्त्रे मयादयः, एकस्यां नगर्यां राज्ञः कति गृहाणि भवेयुः, राज्ञः कति, युवराजाय कति, मन्त्रिणां सेनाधिपतिप्रभृतीनां मुख्यानाम् अधिकारिणाम् कति गृहाणि इत्येवं परिमाणानि प्रदर्शितवन्तः ।

अपि च एकस्यां नगर्यां चातुर्वर्ण्यः कुत्र निवास्याः, कस्मिन् प्रदेशे किञ्जातीयकाः भवेयुः इत्येवं छायारूपेण बहुवर्णितं रामायणे वाल्मीकिना ।

तथैव मन्दिराणि कुत्र भवेयुः ? उद्यानानि कुत्र भवेयुः ? वणिजां व्यापारस्थानानि कुत्र भवेयुः ? कर्मकराः कुत्र भवेयुः ? सैनिकाः कुत्र भवेयुः इत्यादि विचाराः दृश्यन्ते ।

❖ ❖ ❖

1. बृहद्वास्तुमाला - 1/154

# वाल्मीकिरामायणानुसारं गृहकक्षाणां समीक्षा

**– श्रीमतीज्योतिशर्मा**

**– प्रो. अशोकथपलियालः**

लौकिकसाहित्ये वाल्मीकिरामायणं, महाभारतं, नाट्यशास्त्रं, शुक्रनीतिः, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्रं, बौद्धजातकम् इत्यादयः प्राचीनग्रन्थाः सन्ति, येषां समयः निश्चितरूपेण न ज्ञायते तथा चेषां निश्चिततिथीनामभावे परवर्तिग्रन्थेषु प्राप्तान् नामोल्लेखान् सङ्केतान् च आधारीकृत्य तर्क-वितर्काः क्रियन्ते। एतद्ग्रन्थेषु वास्तुसम्बद्धा या सामग्री उपलब्धा अस्ति, तस्याः ऐतिहासिकं महत्त्वं वर्तते। एवंविधकतिपयग्रन्थेषु रामायणे प्राप्तवास्तुकलायाः वर्णनपुरस्सरं समीक्षणङ्क्रियते-

भारतीयपरम्परायां रामायणस्य कालः त्रेतायुग-द्वापरयुगयोः सन्धिकालः मन्यते, परन्तु आधुनिकैः विद्वद्भिः तस्य मुख्यभागस्य रचनाकालः प्रायः ५०० ई.पू. इति स्वीकृतः। तदनुसारमस्य ग्रन्थस्य केचन अंशाः पश्चाद् योजिताः।[1] आदिकविना महर्षिवाल्मीकिना विरचितं रामायणं लौकिकसाहित्यस्य आदिकाव्यमिति नाम्नापि सम्बोध्यते। रामायणं २४००० पद्येषु निबद्धमेकं महाकाव्यमपि अस्ति।[2]

रामायणे प्रतिपादितप्रत्येकनिर्माणकार्यहेतोः दक्षवास्तुविदुषां कुशलशिल्पीनां प्राधान्यं प्रदत्तम् अस्ति। विविधमहत्त्वपूर्णनिर्माणकार्याणां सम्पादनात्परं शिल्पिनः वास्तुविदः नामोल्लेखसहितं सम्मानं दीयते स्म। रामायणकालीनजीवने मानवानां गृहविन्यासेऽपि वास्तुशास्त्रस्य प्रयोगः दृग्गोचरो भवति। रामायणे समावेशितायाः गृहवास्तुकलायाः ज्ञानात्प्राग् वास्तुपरिभाषाया अवगमनम् आवश्यकम्। वास्तुशब्दः **वस् निवासे** धातोः निष्पन्नः। अस्य व्युत्पत्त्यर्थः **वसन्ति प्राणिनो यत्र** अर्थात् यत्र मनुष्याः निवसन्ति इत्येवं कृतः।[3] नगर-गृह-भवनाद्यावासः यत्र मनुष्याः निवसन्ति, वास्तुनाम्ना ज्ञायन्ते।[4] वास्तोः वैदिकदेवता ऋग्वेदे वास्तोष्पति इति नाम्ना अभिहिता।[5]

ऋग्वेदे गृहवास्तुसम्बन्धे कथितं यद् यः मनुष्यः सर्वतः अत्यन्तं सावकाशं गृहं निर्माय वसति, सः निरोगी सन् स्वम् अन्यान् च जनान् सुखं प्रयच्छति। सुन्दरगृहार्थे सुवास्तुः[6] एवं गृहाभावार्थे अवास्तुः[7] इति शब्दप्रयोगः प्राप्यते। तत्र रामायणकालीनगृहनिर्माणकला मुख्यरूपेण युग्मगृहं, सामूहिकगृहं, व्यावसायिकगृहं, प्रशासनिकगृहं

---

1. भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास, पृ. 66
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 123
3. शब्दकल्पद्रुमः, भागः – 4, पृ.248
4. हिन्दीसंस्कृतकोश, पृ.923
5. ऋग्वेदः, 7.54.1
6. ऋग्वेदः – 8.19.37
7. अथर्ववेदः – 12.9.7

चेति चतुर्षु भागेषु विभक्तुं शक्यते। रामायणकालस्य गृहाणि वास्तुविद्भिः अत्यन्तं सुशोभितानि कृतानि। समस्तगृहेषु वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तानां प्रयोगः सम्यग्रूपेण दरीदृश्यते।

**1. युग्मगृहम्** – अयोध्यानगरी कौशलराज्यस्य इक्ष्वाकुवंशीयानां राज्ञां राजधानी आसीत्। एषा नगरी द्वादशयोजनदीर्घा एवं त्रियोजनविस्तृता आसीत्। अस्याः नगर्याः सम्पूर्णजनपदेन सम्पर्कं स्थापयितुं राजमार्गाः निर्मिताः।[1] प्रत्येकं वर्गस्य जनान् सुख-सौविध्यानि प्रदातुं गृहविन्यासेऽधिकमवधानं प्रदत्तमासीत्। नगरवासिनां कल्याणाय समुपयुक्तस्थानेषु आवासप्रदानार्थं महापथवीथिकादीनां निर्धारितविभाजनं कृतम्। नानावर्गानाम् अधिकारिभ्यः कर्मचारिभ्यश्च निवासस्थलव्यवस्थापि सुनिश्चिता आसीत्। अद्यतनवास्तुज्ञातृभ्यः अत्यन्तमहत्त्वपूर्ण-प्रेरणास्रोतसामग्री वर्तत इति वक्तुं शक्यते। रामायणकाले नृप-राजकुमारादयः वास्तुनियमान् जानन्ति स्म। यदा भगवान् श्रीरामः सीतालक्ष्मणाभ्यां सह चित्रकूटपर्वते आगतः, तदा तन्मनसि अवसथं निर्माय विश्रान्तेः विचारः आगतः। अतः दारुविशेषस्य परिचयवशात् लक्ष्मणं कथयति – 'हे सौम्य! त्वं वनात् श्रेष्ठानि दृढानि च दारूणि आनीय वासार्थम् अवसथनिर्माणं कुरुष्व'[2] इति।

काष्ठप्रयोगः वास्तुशास्त्रानुसारेणापि अवसथनिर्माणार्थं श्रेष्ठः मन्यते। अतः सिद्धं भवति यद् रामायणकाले गृहनिर्माणाय वास्तुशास्त्रनियमान् पालयन्ति स्म। किष्किन्धानगर्याः वर्णनमपि वास्तुशास्त्रस्य सुन्दरकलां प्रदर्शयति। भगवान् श्रीरामः पत्नीं सीताम् अन्विषन् लक्ष्मणेन सह किष्किन्धासमीपे पम्पासरः आगतवान्, तदा तस्य मित्रता महाराजेन सुग्रीवेण अभवत्। बालिवधानन्तरं सुग्रीवः किष्किन्धानगरे स्थातुं प्रार्थयति, परन्तु श्रीरामः स्वप्रतिज्ञाऽनुसारं मानवसुखसम्पन्ननगरस्थानस्य निषेधं कुर्वन् तत्रैव वने कस्याञ्चित् सुरम्यगुहायां तिष्ठामीति कथयति। भगवान् श्रीरामोऽपि वास्तुशास्त्रस्य मूलसिद्धान्तानुरूपं वायुजलादीनां सौलभ्यं दृष्ट्वा पर्वतीयभूभाग एव स्वस्य कृते गिरिगुहाचयनम् अकरोत्। यथा –

**इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता।**
**प्रभूतसलिला सौम्या प्रभूतकमलोत्पला॥**[3]

भगवतः श्रीरामस्य अनुजः लक्ष्मणः सुग्रीवस्य अन्तःपुरे गच्छन् सप्तकक्षाणाम् आवृत्तान् लङ्घयन् तद्भवनानां वास्तुशिल्पानि दृष्ट्वा अतिविस्मितोऽभवत्। विशिष्टावृत्तकक्षाणां वातायनयुक्तान्तःपक्षानाम् अनन्तरं यः राजकक्षः आसीत्, तस्मिन् समस्तवस्तूनां सुमनोहरव्यवस्था आसीत्। तत्र अन्तःपुरस्थितिवर्णनं कुर्वन् कथितं यद् रजत-सुवर्णपर्यङ्काः यथास्थानानुकूलं बहुमात्रायाम् आसन्। विविधश्रेष्ठासनानि महास्तरणोपेतानि आसन्। एतेन अन्तःपुरम् अत्यन्तं सुसज्जितं दृश्यते स्म।[4]

---

1. आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी। श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥
   राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता। मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥ - वाल्मीकिरामायणम्, बालकाण्डम् – 5.7.8
2. अयोध्याकाण्डम् – 56.19
   लक्ष्मणानय दारुणि दृढानि च वराणि च। कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मे अभिरतं मनः॥
3. किष्किन्धाकाण्डम्, 26.16
4. हेमराजपर्यङ्कर्बहुभिश्च वरासनैः। महास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृत्तम्॥ - किष्किन्धाकाण्डम्- 33.20

अन्तःपुरस्य सुसज्जितव्यवस्थां विज्ञाय स्पष्टं वक्तुं शक्यते यद् यैः वास्तुविद्भिः वानरपतेः तदन्तःपुरस्य अन्तःकक्षाणां निर्माणं कृतम्, ते वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तान् सम्यक् जानन्ति स्म।

रामायणकालीनगृहवास्तुकलायाः सुमनोहरं दर्शनं रावणस्य अन्तःपुरस्य सुन्दरप्राचीरेऽपि दृश्यते।[1] मातरं सीताम् अन्विषन् यदा हनुमान् रावणान्तःपुरे प्राप्तवान्, तदा सुन्दरप्राचीरस्य निरीक्षणं कुर्वन् दृष्टवान् यत् तत्प्राचीरस्य निर्माणं केनचिद् वास्तुशास्त्रमर्मज्ञेन साधारणसुवर्णेन सह जाम्बूनदकोटिसुवर्णयुक्तमुक्तामणिसंयोजनं कृत्वा कृतम्।[2] जाम्बूनदकोटिसुवर्णमित्युक्ते सुमेरुपर्वतनदेन निर्मितं सुवर्णमिति। एतत्सुवर्णम् अत्युत्कृष्टं मन्यते।

**2. सामुदायिकगृहम्** – अष्टपदाकारायाः अयोध्यापुर्याः निर्माणार्थं वास्तुशास्त्रीयनियमा एव सर्वोपरि आसन्। अस्याः नगर्याः केन्द्रस्थाने राजप्रासादं परितः राजमार्गा आसन्। राजमार्गैः युग्मगृहेषु, सामुदायिकगृहेषु, प्रशासनिकगृहेषु च गमनागमनं सुलभम् आसीत्। भवनानां शुद्ध्यर्थं तेषु स्वर्णमयलेपं दत्वा तन्नगरीं सुन्दररूपं प्रदीयते स्म। वास्तुशास्त्रस्य समतलभूमौ आवासनिर्माणस्य संस्तुतिः रामायणकाले नगरनियोजकैः वास्तुविशारदैरपि अङ्गीकृता। शिल्पिभिः समुचितरूपदानात्परमेषा नगरी नानावाद्ययन्त्रैः नदिता आसीत्।[3]

आधुनिककालस्य भवने यस्याः आन्तरिकसुसज्जाविषये कथ्यते, तस्याः सुनियोजन-निर्माण-कलात्मकसौन्दर्यादिना रामायणकालीनजनाः पूर्णरूपेण परिचिता आसन्। एतत्कालस्य श्रेष्ठजनेभ्यो धनिकेभ्यः प्रशासनिकाधिकारिभ्यः निर्मितभवनैः वास्तुविदां कुशलकार्याणां परिचयः प्राप्यते।[4]

ब्राह्मणवर्गाय नित्यहवननिमित्तं नगरस्य समुपयुक्तस्थलेषु वेदीनिर्माणं क्रियते स्म। रामायणकाले वास्तुविदः वसतिविधानमपि सम्यक् जानन्ति स्म। अतः ते आग्नेयादिदिक्षु तत्सम्बन्धिजनान् आवासस्थलानि दत्तवन्तः। ते विषयमिमं सम्यक् जानन्ति स्म यद् आवासनियोजनं यदि सम्यक् स्यात्तर्हि नगरे सुखसाधनैस्सह शान्तिरपि स्वयमेव आगमिष्यतीति। यथा –

**तस्मिन् पुरवरे दृष्टाः धर्मात्मानो बहुश्रुताः।**
**नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥[5]**

---

1. स हेमजाम्बूनदचक्रवालं महार्हमुक्तामणिभूषितान्तम्।
   परार्घ्यकालागुरुचन्दनार्हं स रावणान्तःपुरमाविवेश ॥ - सुन्दरकाण्डम्, 4-30
2. समासाद्य च लक्ष्मीवाँल्लङ्कां रावणपालिताम्। परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम्॥
   सीतापहरणात् तेन रावणेन सुरक्षिताम्। समन्ताद् विचरद्भिश्च राक्षसैरुग्रधन्वभिः॥
   काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्। गृहैश्च गिरसंकाशैः शारदाम्बुदसंनिभैः॥
   पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम्। अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजशोभिताम्॥
   तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्क्तिविराजितैः। ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव॥
   गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभैः। ददर्श स कपिः श्रीमान् पुरीमाकाशगामिव॥
   पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा। प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् कपिः॥ - सुन्दरकाण्डम्, 2.14-20
3. दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा। नदितां भृशमव्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम्॥ - बालकाण्डम्, 5.18
4. तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ - बालकाण्डम्,6.6
5. बालकाण्डम्, 6.6

सामुदायिकावासयोजनान्तर्गतं वास्तुविद्भिः त्रयाणाम् आश्रयाणां निर्माणं कृतम्। तत्र गृहनिर्माणकलायाः वास्तुशास्त्रीयसमस्तसूत्राणि प्रयुक्तानि। सामुदायिकनिवासेन तात्पर्यम् एतादृशैः गृहैः आश्रमैश्च वर्तते, यत्र सर्वे प्राणिनः सुरक्षां प्राप्य सानन्दं निवसितुं शक्नुयुः।[1] रामायणकालीनाश्रमेषु अग्निहोत्रं कृत्वा देवताः हव्यपदार्थैः सम्पूज्य तुष्टाः क्रियन्ते स्म। तदाश्रमाणां शोभा कमलपुष्पैः शोभायमानया पुष्करिण्या प्रवर्धते स्म।[2]

किष्किन्धापुर्यां वानराः आवासस्य सुन्दरव्यवस्थया सुखमयं जीवनं यापयन्ति स्म। अस्याः पुर्याः भवनानि विन्ध्यसुमेरुपर्वतसन्निभानि आसन्। भवनानि बहुतलानि निर्मीयन्ते स्म, यत्र वानराणामेकः समूह आश्रयं प्राप्य वसति स्म। तत्र सर्वत्र नदी-पर्वतादय आसन्, येन वानरप्रजादिभ्योऽनायासेन फलभोजनादीनि प्राप्यन्ते स्म। वानराणां प्रमुखाधिकारिणां गृहाणि राजमार्गस्य समीपे आसन्। लक्ष्मणः एतादृशानि शुभवास्तुगुणयुतानि वानराणामाकर्षकभवनानि दृष्ट्वा विस्मितोऽभवत्।[3] तत्र श्वेतवर्णिभव्यभवनेषु कृतां चित्रकलां दृष्ट्वा लक्ष्मणेन शिल्पीनां कलायाः प्रशंसा कृता।

**3. व्यावसायिकगृहम्** – अयोध्यानगर्यां व्यावसायिकगृहान्तर्गतं पण्यकेन्द्राणि समाहितानि। अन्तरापण इति शब्दोऽपि एतेषामेव व्यावसायिकगृहाणां पर्यायवाची। यथा -

**कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।**
**सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः॥[4]**

विविधव्यवसायैः तद्वासिनां प्रजानाम् आर्थिकविकासः सम्भवति स्म।[5] तत्काले करदातारः जनाः सामन्तराज्ञां समूहान् परितः सर्वदा तिष्ठन्ति स्म। विविधदेशीयाः वैश्याः अयोध्यानगर्याः शोभां वर्धयन्ति स्म।

**सामन्तराजसङ्घैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।**
**नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्॥[6]**

वास्तुशास्त्रनिर्देशानुरूपं रामायणकालीनवास्तुविद्भिः फल-पुष्पोत्पादकानां दुग्ध-दधि-घृतादिविक्रेतॄणां वणिजां व्यवस्था उत्तरपूर्वयोः मध्ये निर्धारिता।

गिरिगुहासु स्थितायाः किष्किन्धापुर्याः रमणीयता, तद्गृहकल्पनया वास्तुकला अत्यन्तं पल्लविता दृश्यते। यैः

---

1. शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा। मृगैर्बहुभिराकीर्णंपक्षिसंघैः समावृत्तम्॥ - अरण्यकाण्डम्,1.3
2. बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्। पुष्पैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया॥ - अरण्यकाण्डम्,1.6
3. विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैर्नैकभूमिभिः। ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः॥
   अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च। गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च॥
   विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमत। वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः॥
   कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा। दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः॥
   एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम्। ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि लक्ष्मणः॥ - किष्किन्धाकाण्डम्, 33.8-12
4. बालकाण्डम्, 5.10
5. सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्। उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसङ्कुलाम्॥ - बालकाण्डम्, 5.11
6. बालकाण्डम्, 5.14

वास्तुज्ञातृभिः एतद्गिरिगुहासु सन्निवेशिता रमणीया किष्किन्धापुरी निर्मिता स्यात्, तेऽवश्यमेव वास्तुशास्त्रे पारङ्गताः आसन्। एतैरेव दक्षैः आचार्यैः इमां पुरीं नवं भव्यं रूपं प्रदाय सा वैभवपूर्णा कृता। हर्म्य-प्रासाद-अट्टालिकाभिः एषा पुरी समावृत्ता आसीत्। विविधरत्नैः अस्याः शोभां प्रवर्धयन् समस्तकामनाफलैवृक्षैः सा नगरी सुशोभिता आसीत्–

**हर्म्यप्रासादसम्बन्धा नानारत्नोपशोभिताम्।**
**सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम् ॥**[1]

रावणस्य लङ्कापुर्यपि वास्तुशास्त्रस्य प्रवर्तकाचार्येषु मयेन निर्मिता। लक्ष्मणः अस्याः पुर्याः दर्शनं कुर्वन् अकथयत्– उन्नतशिखरयुक्तत्रिकूटपर्वतः विशालमेघमाला इव दृश्यते। यत्र बुद्धिमान् पराक्रमी हनुमान् रात्रौ प्रविष्टवान्।[2]

**4.** **प्रशासनिकगृहम्** – रामायणकाले प्रशासनिकगृहाणां निर्माणमपि वास्तुशास्त्रनिर्दिष्टानुसरम् आसीत्। वीरसैनिकेभ्यः अयोध्यानगर्यां कोशलराज्ये च सुव्यवस्थितनिवासव्यवस्था आसीत्। एतदुल्लिखन् महर्षिणा वाल्मीकिना कथितं यद् अयोध्यायाः वीरसैनिकाः स्वहस्तैः लक्ष्याणि अनायासेन भेदयन्ति स्म। सहस्रैः महारथिभिः एषा नगरी परिपूर्णा आसीत्। राज्ञा दशरथेनापि स्ववास्तुविशारदैः परामृश्य एतेषां वीरसैनिकानाम् आवासव्यवस्था सुनिर्धारिता।[3] रामायणकालीनकिष्किन्धायामपि प्रशासनिकभवनानां योजना दृश्यते स्म। सुग्रीवस्य राज्याभिषकसमये तस्य वास्तुकौशलस्य अभिव्यक्तिः प्राप्यते –

**इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानरर्षभः॥**
**प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां बालिपालिताम्।**[4]

उपर्युक्तविवरणेन स्पष्टं भवति यद् अस्मिन् काले गृहनिर्माणकलायां वास्तुशास्त्रनियमानाम् अनुपालनं क्रियते स्म। तत्र वास्तुशास्त्रेण अनुमोदितभूमौ जलाशय-नदी-भोजनादीनां व्यवस्थां दृष्टैव नानावर्गानाम् आवासस्थानानां कार्यं पूर्णरूपेण साधितम्। रावणस्य निवासभवनं लङ्कापुरीपर्वते स्थितम् आसीत्। लङ्कापुरीं परितः समुद्रः व्याप्तः। यः सुरक्षादृष्ट्या अत्यन्तम् उत्तम आसीत्। वस्तुतः रामायणकालीनगृहनिर्माणकला वास्तुशास्त्रस्य नियमानां सिद्धान्तानाञ्च अनुरूपा आसीदिति।

❖ ❖ ❖

1. किन्किन्धाकाण्डम्, 33.5
2. स लम्बशिखरे लम्बे लम्बतोयदसंनिभे। सत्वमास्थाय मेधावी हनुमान् मारुतात्मजः॥
   निशि लङ्कां महासत्वो विवेश कपिकुञ्जरः। रम्यकाननतोयाढ्यां पुरीं रावणपालिताम्॥ - सुन्दरकाण्डम्, 3.1-2
3. ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरापरम्। शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः॥
   सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने। हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलैरपि॥
   तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः। पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा॥ - बालकाण्डम् – 5.20-22
4. किष्किन्धाकाण्डम्, 26.18-19

# आमेरदुर्गस्थ शिलादेवीमन्दिरस्य स्थापत्यकला

**– प्रियाकौशिकः**
**– डॉ. योगेन्द्र कुमार शर्मा**

भारतीयस्थापत्यम् भारतीयसंस्कृतिः परस्परमनयोश्चनयोः परस्परं गहनसम्बन्धो वर्तते। अस्माकं भारतीयसंस्कृतेः स्थापत्यस्य च पार्थिव-अपार्थिवयोः मेलनम् एव वैशिष्ट्यम्। मन्दिरनिर्माणसन्दर्भे शास्त्रेषु वर्णितम् अस्ति यत् मानवानाम् ऐश्वर्यार्थम्, नगरादीनां शृङ्गारार्थम्, जनानां भुक्ति-मुक्तिश्च प्राप्यर्थम्, सर्वविधं सत्यार्थम्, लोकानां धर्माचरणाय देवजनानां क्रीडायै सर्वेषां कीर्ति-आयु-यशश्चवृद्ध्यर्थम्, तथा च राज्ञा कल्याणाय देवालयानां निर्माणं भवतीति।[1]

मनुष्यस्य प्रत्येकं गतिविधिषु क्रियाकलापेषु च भौगोलिकपरिस्थितीनां प्रत्यक्षप्रभावो दृश्यते। यदि कस्यचित् स्थानविशेषस्य स्थापत्यकलायाः अध्ययनं क्रियते तर्हि तदर्थमेतस्य ज्ञानं करणीयं भवति यत् तत्स्थापत्यकला तत्क्षेत्रविशेषस्य तत्कालस्य परिस्थित्या इतिहासेन च कथं प्रभाविता? कस्यचित् स्थानविशेषस्य भौगोलिकसीमाः वयं निर्धारयितुं शक्नुवन्ति किन्तु सांस्कृतिके गमनागमने बाधां न जनयति। धार्मिकसहिष्णुताकारणाद् भारते स्थापत्यकलायाः उत्कृष्टरूपं दृश्यते। भौगोलिकविविधताकारणात् जनसामान्ये अनेकलोकदेवतानां देवीनां महत्त्वं वर्तते। तेष्वेकोऽस्ति राजस्थानप्रदेशः। पुराकालादेव राजस्थानस्य जनाः स्वश्रेष्ठता-शौर्यता-बलिदानप्रधानभावनाकारणात् विश्वं चमत्कृतमकुर्वन् सम्प्रत्यपि कुर्वन्ति च। विभिन्नसम्प्रदायानुयायिभिः अत्र वासः क्रियते।

धर्मः शाश्वतः अपरिवर्तनशीलः नित्यः सत्यश्च वर्तते, अतः धर्मः सनातनः। एषः न म्रियते, न वा लुप्यते। धर्माभावे मानवता नश्यति। हिन्दूधर्मस्य क्षेत्रम् अत्यन्तं व्यापकं वर्तते। एतद्धर्मस्य अनुयायिषु शाकाहारिणः मांसाहारिणश्च, आस्तिकाः नास्तिकाश्च, भक्तिमार्गपराः ज्ञानमार्गपराश्च, एकेश्वरवादिनः बहुदेववादिनश्च इत्येवं नानाविधमतानुयायिनः सम्मिलिताः। राजस्थाने स्थिते आमेरस्थलेऽपि हिन्दूधर्मस्य शैव-शाक्य-रामोपासकादयः समुदायाः प्रचलिताः। एतस्य ज्ञानमस्मभ्यम् आमेरे स्थितैः विभिन्नमन्दिरैः यथा अम्बिकेश्वमहादेवमन्दिरं, श्रीजगत्-शिरोमणिमन्दिरं, रामेश्वरमन्दिरं, कृष्ण-मीरामन्दिरं, श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिरं, श्रीनरसिंहदेवजीमन्दिरं, गल्ताजीमन्दिरं, ताडकेश्वरजीमन्दिरं, शिलामातामन्दिरञ्च इत्यादिभिः प्राप्यते। शाक्तसम्प्रदायस्य अत्र विशेषमहत्त्वम् आसीत्।

शक्तिम् इष्टदेवीं मत्वा ये पूजयन्ति तेषां सम्प्रदायः शाक्त इति कथ्यते। प्राचीनभारतीयदेवसमूहेषु देवैः सह देवीनामपि महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। वैष्णवशैवसम्प्रदायाभ्यां सह शाक्तसम्प्रदायः जनसामान्ये अत्यधिकप्रचलितः।

---

1. सुरालयो विभुत्यर्थं भूषणार्थं पुरस्य तु। नराणां भुक्तिमक्त्यर्थं सत्यार्थं चैव सर्वदा ||
लोकानां धर्महेतुश्च क्रीडाहेतुश्च स्वर्भुवाम्। कीर्तिरायुर्यशोऽर्थं च राज्ञां कल्याणकारकः || -प्रा०म०, प्रस्तावनायाम्, पृ०-१

शक्त्या सह बहूनि नामानि संयुक्तानि सन्ति – दुर्गा, काली, भवानी, चामुण्डा, रुद्राणी, लक्ष्मीः, सरस्वती इत्यादीनि।[1]

शैवधर्मस्य शाक्तधर्मेण सह विशिष्टः गहनः सम्बन्धः वर्तते। शैवमतेन सः शाक्तधर्मस्य प्राचीनताऽपि वर्तते। वैदिकसाहित्येऽदिति, उषा, सरस्वती, श्रीः, लक्ष्मीः इत्यादीनां विषये विस्तृतं ज्ञानं प्राप्यते।[2]

पुराणेषु विन्ध्यपर्वतः देव्याः निवासस्थानं कथितम्।[3] पुराणैस्सह महाभारतेऽपि देवीमाहात्म्यस्य विस्तृतं विवरणं प्राप्यते। महाभारतपर्यन्तं शाक्तसम्प्रदायः समाजे सम्यक् आधारं प्राप्तवान्। एवं शनैः शनैः शक्तिपूजायाः विस्तारः जातः, तेन सम्प्रदायरूपं प्राप्तम्। अयमेव सम्प्रदायः कालानुसारं शाक्तसम्प्रदायरूपेण प्रख्यातोऽभवत्।

राजस्थानेऽपि शक्तिः जनसामान्ये अनेकनामभिः प्रसिद्धा वर्तते– रूपण-दुर्गा-हिङ्गलाज-चामुण्डा-पीपलाद-कालिका-जोगणिया-शीतला-वीजासनादि। शक्त्याः स्थानीयग्रामाणाम् अथवा सामाजिकपरम्पराणाम् आधारे अनेकनामानि दत्तानि।[4] अत्र शिवपूजाऽनुरूपैव शक्तिपूजाऽपि प्राचीना भवति। आरम्भत एव राजस्थानं वीराणां भूमिः वर्तते। राजस्थानस्य अर्थो भवति – राजभिः शासितं क्षेत्रम्।[5] राजशासनकाले अतिलघुराज्ञानां पार्श्वेऽपि न्यूनातिन्यूनमेकः दुर्गः आवश्यकः आसीत्, यतः ते स्वपरिवारस्य राजकोषस्य प्रजायाश्च रक्षां कुर्वन्ति स्म। एतद्वीरैः शक्तेः उपासना क्रियते स्म।

राजस्थानस्य प्राचीनराजधानी जयपुरतः प्रायः ११ किलोमीटर उत्तरभागे आम्बेरनगरे स्थितमासीत् यस्य विस्तारः प्रायशः ४ वर्गकि.मी. यावत् वर्तते। प्राचीनकाले कच्छवाहराजपूतानां राजधानी आमेर आसीत्। इमां परितः अरावलिपर्वतशृङ्खला विद्यते।[6] आमेरदुर्गस्य प्रथमप्राङ्गणं जलेबचौक इत्युच्यते। अस्य दक्षिणभागे शिलादेवीमन्दिरं स्थापितमस्ति। जलेबचौक इत्यस्य दक्षिणहस्तं निकषा एव एतत्तीर्थस्थलं वर्तते। मातुः प्रतिमा शिलायाम् उत्कीर्णा इत्यतः एषा शिलादेवीनाम्ना प्रसिद्धा। इयं कालीमाता नाम्नाऽपि ज्ञायते। मूलतः एतद् अम्बाया एव स्वरूपम् अस्ति।

1. श्रीवास्तव, के.सी. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. ८२९ - ८३०
2. ऋग्वेद, १०.१२५.३, पृ. ७५४
3. श्रीवास्तव, के.सी. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. ८३०
4. सिंह, राजबहादुर, मन्दिर संस्कृति, पृ. २१६
5. गुप्ता, डा. मोहनलाल, राजस्थान के ऐतिहासिक दुर्ग
6. सिंह, रनबीर, Heritage of Rulers Amber, पृ. ३८

लोकमतानुसारेण अम्बामातरं समर्पितमन्दिरात् अस्य दुर्गस्य नाम अम्बेर इति जातं, यत्कालान्तरेण आम्बेर आमेर वा अभवत्। शिलादेवी कच्छवाहराजवंशस्य कुलदेवी आसीत्। राजस्थाने प्रचलितं वर्तते यत् –

**सांगानेर का सांगा बाबा जयपुर का हनुमान ।**

**आम्बेर की शिला देवी लायो राजा मान ॥**

बङ्गालमध्ये ढाकासमीपे स्थितस्य जैसोरस्य राजा विक्रमादित्यः स्वपुत्रं प्रतापादित्यं १५८७ ई. मध्ये मुगलानां शासनपद्धतेः ज्ञानं सङ्गृहीतुम् आगरानगरं प्रेषितवान्। प्रतापादित्यः आगरातः बङ्गालदेशं प्रत्यागच्छन् आसीत् तदा तन्मार्गे मथुरायां कृष्णवर्णीयामेकां शिलां दृष्टवान् यस्य विषये प्रचलितम् आसीत् यत् कंसद्वारा देवक्याः पुत्री अस्यामेव शिलायां प्रक्षिप्य कंसेन वध चेष्टा कृता किन्तु सा कंसहस्तात् निःसृत्य आकाशे गता। प्रतापादित्यः तां शिलां जैसोरम् आनीतवान्। तत्पश्चात् १६ शताब्द्यां मानसिंहप्रथमद्वारा जैसोरस्य नृपं केदारं युद्धे पराजित्य इयं शिला आम्बेरम् आनीता तथा च १६०४ ईसवीमध्ये एतत्कृष्णशिलायां देव्याः प्रतिमां निर्मीय, ताम् आमेरदुर्गे प्रतिष्ठापिता। एषा अनन्तरं शिलामातारूपेण विख्याता।[1]

एतदतिरिक्तं प्रासादाद्बहिः मुख्यद्वारे प्राप्तशिलालेखादपि किञ्चित् ज्ञानं प्राप्यते। अत्र अङ्कितं वर्तते यद् इमां मूर्तिं महाराजमानसिंहः १६ शताब्द्याः अन्तिमे बङ्गप्रदेशस्य पूर्वभागात् आनीतवान्। प्रतापादित्यस्य राज्ये राज्ञा केदारेण सह युद्धं कृत्वा यदा सः प्रथमवारम् असफलः जातः तदा तेन काल्याः उपासना कृता। कालीदेवी प्रसन्ना भूत्वा तं स्वप्ने विजयस्य वरदानं दत्तवती। तत्फलस्वरूपं समुद्रे शिलारूपेण पतिता एषा प्रतिमा महाराजेन आमेरम्

1. क. राजस्थान के ऐतिहासिक दुर्ग, गुप्ता, डा. मोहनलाल, अ. २४, कच्छवाहों के दुर्ग, पृ. २५७
   ख. सिंह, रनबीर, Heritage of the Rulers of Amber Jaipur City, ३१०-३, पृ.४६

आनीता तथा च सा शिलादेव्याः नाम्ना प्रसिद्धा जाता। केषाञ्चन मतानुसारं राज्ञा केदारेण युद्धे राज्ञः मानसिंहात् पराजयः अङ्गीकृतः। तदा केदारेण महाराजस्य मानसिंहस्य विवाहः स्वपुत्र्या सह कारितः तथा च उपहाररूपेण एषा मूर्तिः प्रदत्ता। जनसामान्ये एषा शिलादेवीनाम्ना ज्ञायते परन्तु बङ्गाली जनाः जैसोरेश्वरी इति नाम्ना पूज्यन्ते।

मानसिंहप्रथमः देव्याः महान् उपासकः आसीत्। जनश्रुतेः अनुसारं यदा कालीमाता महाराजं मानसिंहप्रथमं स्वप्ने दर्शनं दत्तवती तदा तं नरबलिं प्रदानाय कथितवती देव्याः प्रतिमास्थापनात् परं नरबलिः देव्यै समर्प्यते स्म। पश्चात् सवाई जयसिंहद्वितीयेन नरबलिस्थाने अजबलिः दत्ता।[1] चैत्र (मार्च)-अश्विन (अक्टूबर) मासयोः नवरात्रेः अष्टम्यां बलिदानं दीयते स्म, यदधुना स्थगितं वर्तते।[2] अस्मिन् मन्दिरे न केवलं जयपुरस्य अपितु देश-विदेशात् भक्ताः समागच्छन्ति। भक्तजना अजबलिना सह मद्यमपि देवीं समर्पयन्ति, तदनन्तरं तत्प्रसादरूपेण स्वीकुर्वन्ति।

शिलामातुः दर्शनम् अत्यन्तं मनोहरं भवति। शिलादेव्या सह गर्भगृह एव श्रीगणेशः विराजते, दक्षिणभागे हिङ्गलाजमाता वर्तते। मन्दिरे कार्यरतस्य राजपुरोहितस्य मतानुसारं शिलारूपे उपस्थितायाः हिङ्गलाजमातुः प्रतिमा, एकपञ्चाशत्सिद्धशक्तिपीठेषु अन्यतमस्य बलूचिस्ताने पाकिस्ताने स्थितस्य शक्तिपीठस्य देव्याः पिण्डरूपस्यैव स्वरूपमस्ति।

शिलादेवीमन्दिरं प्राचीनभारतीयशिल्पशास्त्रस्य विविधसिद्धान्तानाम् आधारेण उत्तरभारतस्य नागरशैल्यां निर्मितम् अस्ति। नागरशैली आर्यशैल्याः परिवर्धितं रूपं वर्तते।[3] नागरशैल्याः नामकरणस्य श्रेयः नागेभ्यः दीयते।[4] यदा आर्यानाम् इष्टिकाकाठयोः वास्तुकला नागानां प्रस्तरकलाम् अवलम्बिता सा नागरशैलीरूपेण प्रसिद्धा जाता। नागरशैलीमन्दिराणि वर्गाकाराणि भवन्ति। वर्गाकारगर्भगृहस्य निर्माणम् उन्नतमीनारसदृशं भवति। पर्सी ब्राउनमतानुसारं नागरशेली एव उत्तरभारतीया आर्यशैली (North Indian Aryan style) वर्तते।[5] शास्त्रेषु नागरशैल्याः मन्दिराणां मुख्यरूपेण विंशतिः प्रकाराः कथिताः सन्ति – मेरुः, मन्दरः, कैलासः, कुम्भः, मृगराजः, गजः, विमानछन्दः, चतुरस्त्रम्, अष्टास्त्रं, षोडषास्त्रं, वर्तुलं, सर्वतोभद्रकं, सिंहः, नन्दनः, नन्दिवर्धनः, हंसकः, वृषः, गरुडः, पद्मकः, समुद्रश्च।[6]

1. सिंह, रनबीर, Heritage of the Rulers of Amber Jaipur City, ३१०-3, पृ.४७
2. सिंह, रनबीर, Heritage of the Rulers of Amber Jaipur City, ch-३, पृ.४७
3. उमाशंकर, राजस्थान के मंदिरो का वास्तुशास्त्रीय अध्ययन, अ. ३, पृ.७३
4. जायसवाल, के.पी.- एन् इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. ७२
5. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. ११३
6. समराङ्गणसूत्रधारः, अ. ६३.७-८

**शिलादेवीमन्दिरस्य प्रवेशद्वारम् -**

शिलादेवीमन्दिरनिर्माणाय श्वेतरक्तयोः वर्णयोः पाषाणानां प्रयोगः कृतः। जलेक चौक इत्यतः मन्दिरप्राङ्गणं यावत् सोपानानि न सन्ति, तत्र चतुर्दशपदात्मकः आरोहो वर्तते।

**पुरद्वारं तु गोपुरम्।**[1]

गोपुरस्यार्थः द्वारम्। जगत्याः चत्वरात् मन्दिरप्रवेशस्य एतदेव मुख्यं द्वारं भवति तथा च एतत्पुरतः सोपानानि निर्मितानि सन्ति। मुख्यद्वारम् अलङ्कृतदेहलिसहितं, तोरणसहितं वा भवति। प्रवेशद्वारं चतुष्किकायाम् अथवा अर्द्धमण्डपे उद्घाटितं भवति। शिलादेवीमन्दिरे चतुर्दशपदीतः प्राङ्गणे प्राप्यते, यत्र मन्दिरस्य प्रवेशद्वारं वर्तते। अस्य प्रवेशद्वारस्य उपरिभागे श्रीगणेशः विराजते। मुख्यद्वारं काष्टनिर्मितम् अस्ति, यत् सवाई मानसिंहेन तथा तस्य प्रथमद्वितीयपत्नीभ्यां च रजतलेपितं कारितम्। तस्मिन् रजतावरणे चित्रितकलाकृतौ देव्याः विभिन्नस्वरूपाणि दर्शितानि। वामभागे द्वारे क्रमशः निम्नदेवीनां चित्राणि सन्ति- १.श्रीकाली, २.श्रीतारा, ३.श्रीषोडशी, ४.श्रीकमला, ५. श्रीमातङ्गी, ६. श्रीभुवनेश्वरी, ७. श्रीबगलामुखी, ८.श्रीधूमावती, ९. श्रीत्रिपुरभैरवी, १०.श्रीछिन्नमस्ता च।

द्वारस्य दक्षिणभागे चित्रितानि देवीचित्राणि –

१. श्रीशैलपुत्री, २.श्रीब्रह्मचारिणी,
३. श्रीसिद्धिदात्री, ४. श्रीचन्द्रघण्टा,
५. श्रीकुष्माण्डा, ६.श्रीस्कन्दमाता,
७. श्रीमहागौरी, ८. श्रीकालरात्रिः,
९. श्रीकात्यायिनी, १०. सिंहः च।

मुख्यद्वारं धनुषाकारं वर्तते। एतत् तोरणेन अलङ्कृतम् अस्ति। अत्र भारतीयमुगलवास्तुशैल्याः तक्षणस्य उदाहरणानि दृश्यन्ते। यद् वृत्ताकारं पुष्पं वर्तते तद् भारतीयशैल्याः तथा च या पुष्पद्रोणी चित्रिता सा मुगलकालीना प्रतीयते। द्वारे मध्यभागे रक्तवर्णीया श्रीगणेशस्य चतुर्भुजप्रतिमा अस्ति, अस्य वामभागो वक्रो वर्तते। अस्य मन्दिरस्य मुख्यद्वारं नैर्ऋत्यकोणे (दक्षिण-पश्चिम) अस्ति।

**गर्भगृहम् –**

प्रासादनिर्माणे सर्वाधिकमहत्त्वपूर्णं स्थानं प्रतिमायाः वर्तते, यस्याः स्थापना गर्भगृहे क्रियते। गर्भगृहं भागत्रयात् पिहितं भवति तथा च एकस्मिन् भागे द्वारं भवति। अधिकांशतया गर्भगृहे प्रकाशस्य अभावो भवति।

1. शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय स्थापत्य, पृ.३४१

एतत्कक्षस्य मध्यभागे वेदिकायां प्रतिमा स्थाप्यते, यस्याः पुरतः गर्भगृहस्य द्वारं भवति। गर्भगृहस्य ऊर्ध्वं छत्रभागेऽलङ्करणमपि क्रियते। मन्दिरस्य मुख्यशिखरमपि गर्भगृहे निर्मीयते। गर्भगृहस्य प्रवेशद्वारस्य समक्षे अन्यमण्डपानां निर्माणं क्रियते।[1] शिलादेवीमन्दिरे शिलायां महिषासुरमर्दिन्याः आकृतिः उत्कीर्णा अस्ति। गर्भगृहेऽपि अस्मिन् एव रूपे माता पूज्यते। गर्भगृहं भागत्रयात् पिहितं भवति तथा च एकस्मिन् भागे देव्याः सम्मुखे द्वारं निर्मितम् अस्ति। गर्भगृहसंज्ञकस्य अस्य कक्षस्य मध्यभागे प्रायः १ फीट् मितायां उच्चवेदिकायां देव्याः प्रायः ५ फीट् मिता उन्नता प्रतिमा स्थापिता वर्तते।

भारते प्रतिमापूजायाः प्रचलनं अतिप्राचीनकालादेव प्राप्यते। भारतीयप्रतिमाणां वर्गीकरणं त्रिविधं कृतं वर्तते – ब्राह्मणप्रतिमा, बौद्धप्रतिमा[2], जैनप्रतिमा च। ब्राह्मणप्रतिमाः गोपीनाथरावद्वारा एवमेव वर्गीकृताः – १. चलप्रतिमा २. अचलप्रतिमा, ३. पूर्णप्रतिमा ४. अपूर्णप्रतिमा, ५. शान्तप्रतिमा ६. अशान्तप्रतिमा च।[3] चलप्रतिमाः अचलप्रतिमातः लघु भवन्ति। चलप्रतिमाणां निर्माणे भाररहितद्रव्याणां यथा स्वर्ण-रजत-ताम्रादीनां प्रयोगः क्रियते। अचलप्रतिमाः विशालाकाराः भवन्ति, यासां निर्माणे प्राय: पाषाणस्य प्रयोगो भवति। चलप्रतिमाऽचलप्रतिमयोः पुनः भेदः प्राप्यते।[4]

**चलप्रतिमाः –**

1. कोतुकवेर – एताः प्रतिमाः पूजायाम् उपयुज्यन्ते।
2. उत्सववेर – एतासां प्रयोगः उत्सवार्थम् अर्थात् पर्वविशेषे बहिः नेतुम्।
3. बलिवेर – एताः प्रतिमाः दैनिक-उपधारात्मकपूजायाम् उपहारार्थं प्रयुज्यन्ते।
4. स्नपनवेर – एताः प्रतिमाः प्रतिदिनं भोगार्थं स्नानार्थं च प्रयुज्यन्ते।

**अचलप्रतिमाः** – गर्भगृहे स्थापिताः प्रतिमाः सदैव यथास्थानं प्रतिष्ठिताः भवन्ति। एतासां भेदः निम्नप्रकारेण वर्तते –

1. स्थानकम् – एषा प्रतिमा मूलतः स्थितावस्थायां भवति।
2. आसन – एताः प्रतिमाः उपविष्टाः भवन्ति।
3. शयन – एताः विश्रामं कुर्वत्यः प्रतिमाः भवन्ति।[5]

---

1. वशिष्ट, नीलिमा – स्कल्पचर ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, पृ.१२६
2. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुकला, पृ.१९४
3. टी.ए. गोपीनाथ राव- एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आईकॉनोग्राफी, पृ. १७
4. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुकला, पृ. १९५
5. टी. ए. गोपीनाथ राव- एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आईकॉनोग्राफी, पृ. १७

शिलादेवीमन्दिरे चलप्रतिमा काचिद्भग्न वर्तते। अत्र अचलस्थानकप्रतिमा प्राप्यते या श्यामवर्णपाषाणे उत्कीर्णा अस्ति। सामान्यरूपेण इयं मूर्तिः तस्याः वाहन-आयुध-मुद्रा-अलङ्करण-भुजासङ्ख्याभिः ज्ञायते।[1] यस्मिन् वस्तुनि वाहने वा काञ्चिद् आकृतिम् उपविष्टां दृश्यते, ताम् आसनवस्तु कथ्यते। भारतीयमूर्तयः पीठ-सिंहासन-कट-गज-मृगासने अथवा व्याघ्र-चर्म-कमल-शिक्षा-पद्मपत्र-सुमेरु-पशु (गज-सिंह-अश्व-वृषभ-महिष-मृग-मेष-वराह-गर्दभ-शार्दुलादिनां) आसने पक्षी (मयूर-हंस-उल्लूक-गरुडादिनां) आसने जलचर (मकर-मीन-कच्छपादिनां) आसने वा स्थिताः प्रकल्प्यन्ते।[2] शिलादेवी महिषासुरमर्दिन्याः रूपे स्थापिता वर्तते, अतः देव्याः आसनवस्तु सिंहः अस्ति, परन्तु वेषेण पुष्पादिभिः आवरणितेन च सिंहः न दृश्यते।

प्रतिमायाः गुणं शक्तिं वा प्रदर्शयितुं तासां हस्तानाम् उपयोगः क्रियते, तथा च हस्तानां सङ्ख्यायामपि वृद्धिः कृता। एतद्धस्तेषु यानि वस्तूनि दर्शयन्ति, तानि कस्याश्चित् शक्तेः, क्रियायाः गुणस्य वा प्रतीकानि भवन्ति। शिल्पशास्त्रग्रन्थानुसारं देवतानां ३६ आयुधानि भवन्ति–चक्र-त्रिशूल-वज्र-धनुष-कृपाण-गदा-अङ्कुश-बाण-छुरिका-दण्ड-शक्ति-मुसल-परशु-कुन्त-रिष्टिका-खट्वाङ्ग-मुशुण्डी-कर्तिका-कपाल-सूची-खेट-पाश-बन्धन-सर्प-हल-मुद्गर-शङ्ख-शृङ्ग-घण्टा-शत्रुशिर-माला-पुस्तक-कमण्डल-कमल-पर्ण-योगमुद्राः।[3]

शिलामातुः अष्टभुजप्रतिमा गर्भगृहे प्रतिष्ठिता वर्तते। एतस्याः केवलं द्वयोः भुजयोः एव दर्शनं प्राप्यते, अन्यभुजाः पुष्पमालायाः अधः आच्छादिताः भवन्ति। शिलादेव्याः दक्षिणहस्तस्य उपरिस्तात् अधः क्रमशः खड्ग-तीर-त्रिशूल-चक्राणि तथा च वामभागे हस्ते क्रमशः खड्गराट्-धनु-अभयमुद्रा-मुण्डानि सन्ति।

मूर्तयः आसन-शयन-स्थानकाः इति त्रिविधाः भवन्ति। तेषुस्थानकप्रतिमायाः मुख्यमुद्राः भवन्ति –

1. समपाद – यत्र प्रतिमा समपादे स्थिता वर्तते।
2. अभङ्गः – यत्र प्रतिमा निर्बन्धं स्थिता वर्तते।
3. त्रिभङ्गः – यस्यां प्रतिमायां शिर-कटि-पादेषु वक्रता भवेत्।
4. अतिभङ्गः – यस्यां प्रतिमायां शरीरे वक्रता भवेत्।

1. अग्रवाल, गिर्राज, किशोर – भारतीय मूर्तिकला, पृ. ८८
2. अग्रवाल, गिर्राज, किशोर – भारतीय मूर्तिकला, पृ. ८८
3. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुकला, पृ. २३२

**हस्तमुद्राः –**

1. अभय – प्रतिमायाः दक्षिणहस्तः उद्घाटितः उत्थापितः च भवेत्।
2. वरद – प्रतिमायाः दक्षिणहस्त अधः उद्घाटितः च स्यात्।
3. ध्यान मुद्रा – प्रतिमायाः हस्तौ अङ्के स्थापितौ भवेताम्।
4. ज्ञानमुद्रा – उत्थापिते दक्षिणे हस्ते तर्जनी अङ्गुष्ठा च मिलितौ भवतः।

शिलादेव्याः स्थानकप्रतिमा अभङ्गा वर्तते। देवीप्रतिमायाः मुखं वामभागे अवनतम्, एतत्सम्बन्धे नैकाः कथाः प्रचलिताः सन्ति यासु काश्चन एवं सन्ति –

मानसिंहप्रतापादित्ययोः मध्ये युद्धम् अभवत्। प्रतापादित्येन यदा स्वविजयाय देव्याः स्तुतिः कृता तदा सा विमुखा जाता। तदारभ्य देव्याः मुखं वक्रं जातम्। अन्यकथानुसारं शिलादेव्यै मानसिंहद्वारा नरबलिः दीयते स्म परन्तु किञ्चित्कालात्परं नरबलिस्थाने महिषबलिः दत्ता इत्यतः देवी विमुखा जाता। स्वप्ने यदा राजा एतत् ज्ञातवान् तदा सः अजबलिदानम् आरब्धवान्।[1]

वैज्ञानिकपक्षानुसारं यदा कस्मिन् स्वहस्तप्रहारः क्रियते तदा सामान्यतः अस्माकं ग्रीवा एकतः नता भवति। देव्याः स्वरूपमपि महिषासुरमर्दिनी इत्यस्ति, अर्थात् महिषासुरस्य मर्दनं कुर्वन्ती असुरे प्रहारकाले हस्ते बलं दीयते, तस्मादेव तस्याः ग्रीवा एकत्र नता वर्तते। धार्मिकदृष्ट्या पश्यामश्चेत् भक्ते अनुग्रहकृपादृष्टिवशादपि देव्याः मुखं वामभागे नतमिति प्रतीयते।[2] अल्बर्ट हॉल म्यूजियम, जयपुरे द्वितीयशताब्द्याः मूर्तिः प्राप्ता अस्ति, या महिषासुरमर्दिन्याः वर्तते। अस्याः मुखं वामभागे नतम् अस्ति।

मूर्तेः उपरिभागे शिरसः उपरि वामतः दक्षिणं यावत् क्रमशः स्ववाहनेषु आरुढाणां श्रीगणेश-ब्रह्मा-शिव-विष्णु-सरस्वतीनां सुन्दरलघुमूर्तयः उत्कीर्णाः। शताधिकवर्षप्राचीनायाम् उत्कीर्णाः देवताः तथा च तेषाम् आयुधानि धूसरितानि जातानि अतः तत्परिचये भ्रमः उत्पद्यते। देव्याः आयुधानि मुकुटञ्च रजतेन निर्मितम् अस्ति। अत्र देव्याः चरणयोः उभयतः सिंहाः विराजमानाः सन्ति। परन्तु वामतः दक्षिणे स्ववाहनेषु आरूढाणां श्रीगणेश-ब्रह्म-शिव-विष्णु-कार्तिकेयानां सुन्दरलघुप्रतिमाः प्रतीयन्ते। "प्रासादमण्डपानुसारं" गर्भगृहं चतुष्कोणं चतुर्भुजं निर्मातव्यम्, तस्मिन् भद्र-सुभद्र-प्रतिभद्रादीनां भूछेदनिर्माणं शुभं भवतीति, दीर्घचतुर्भुजं गर्भगृहं दोषकारकं भवति। शिलामातामन्दिरस्य गर्भगृहं दीर्घचतुर्भुजं वर्तते परन्तु दारुणादि तथा बलभी (स्त्रीलिङ्ग) जातीनां प्रासादे गर्भगृहं दीर्घं भवति चेत् दोषः न।[3] अतः शिलादेवीमन्दिरमेतद् दोषात् मुक्तं वर्तते।

गर्भगृहस्य द्वारस्य चत्वारः भागाः भवन्ति- देहली अथवा उदुम्बरम्, द्वौ पार्श्वस्तम्भौ तथा च उत्तरङ्गमथवा शिरदलम्, एतेषां चतुर्णां भागानाम् अनेकप्रकारैः अलङ्करणं क्रियते। शिलादेवीमन्दिरस्य गर्भगृहस्य द्वारं काष्ठेन निर्मितम्। देहली अलङ्कृता अस्ति, यस्यां कमलपत्रस्य आकारः दृश्यते।

1. द्विवेदी, पण्डित गङ्गाधर, दुर्गा सप्तशती, पृ.२५
2. द्विवेदी, पण्डित गङ्गाधर, दुर्गा सप्तशती, पृ.२५
3. प्रासादमण्डन, अ.३. प.३३-३४, पृ.५६-५७

पार्श्वस्तम्भेषु सुन्दरचित्रकला उत्कीर्णा वर्तते तथा च उत्तरङ्गे तक्षणं कृतं वर्तते। उत्तरङ्गस्य मध्यभागे कमलपुष्पं वर्तते। गर्भगृहस्य प्रवेशद्वारस्य उभयतः प्राचीरे कदलीफलपादपानाम् आकृतयः सन्ति। उत्तरङ्गस्य उपरिभागे कृता सुन्दरकलाकृतिः भारतीयमुगलशैल्यां कृतेति प्रतीयते। यत्र कदलीफलेन सह विशालपत्राणि द्वारस्य शोभां वर्धयन्ति। गर्भगृहस्य द्वारं काष्ठेन निर्मितं वर्तते। यत्र कासस्य आवरणं वर्तते। अस्मिन् जालमयं नक्षत्रचित्राणि उत्कीर्णानि सन्ति।

गर्भगृहे प्रतिष्ठितायाः शिलादेव्याः वामभागे श्रीगणेशः तथा दक्षिणभागे हिङ्गलाजमाता च वर्तते। तत्र नियुक्तराजपुरोहितमतानुसारं हिङ्गलाजमाता भर्तुः रक्षणकर्त्री इत्येवं स्त्रीभिः पूजिता। मातुः प्रतिमा अष्टधातुभिः निर्मिता। एषा चतुर्भुजा प्रतिमा, यस्याः हस्ताः आयुधरहिताः वर्तन्ते। एषा वरदप्रतिमा। अस्याः स्थानक-अचलप्रतिमायाः वाहनम् आसनं वा वस्तुभिः देवीधृतवस्त्रैः न ज्ञायते। एषा प्रतिमा प्रायः १ फीट् उन्नतवेदिकां प्रतिष्ठिता वर्तते। अस्या प्रतिमायाः औच्च्यं प्रायशः २.५ फीट् भवेत्।

वामभागे प्रतिष्ठिता श्रीगणेशस्य प्रतिमा प्रायः २ फीट् उन्नता अस्ति, या अन्यप्रतिमादृशा समोच्चवेदिकायां स्थापिता। श्रीगणेशमूर्तिः श्वेतचारुप्रस्तरेण (Marble) निर्मिता, रक्तवर्णेन अलङ्कृता च वर्तते। श्रीगणेशस्य शुण्डः वामभागे वर्तते। गर्भगृहे श्रीगणेशस्य हिङ्गलाजमातुश्च प्रतिमा पृथक्-पृथक् वेदिकायां प्रतिष्ठिता वर्तते। गर्भगृहे द्वारमेकमेव वर्तते, तथा अन्यवातायनादिकं नास्तीत्यतः महामण्डपात् साक्षात् श्रीगणेशस्य हिङ्गलाजमातुः वा दर्शनं न भवति।

**अन्तरालम् –**

यस्मिन् कक्षे गर्भगृहस्य द्वारम् उद्घाट्यते, सः कक्षः अन्तराल इति कथ्यते। यदि मन्दिरे प्रदक्षिणापथः भवति तर्हि तस्य प्रवेशः निष्क्रमञ्च अन्तराले उद्घाट्यते। एतत्पुरतः महामण्डपं भवति, यस्य स्तम्भाः एतत् महामण्डपात् पृथक् कुर्वन्ति। अन्तरालस्य विस्तारः महामण्डपस्य विस्तारात् न्यूनः तथा अस्य दीर्घता महामण्डपसदृशा अथवा ततः न्यूना अधिका वा भवितुम् अर्हति।[1] अस्मिन् मन्दिरे अन्तरालस्य अभावः वर्तते, परन्तु लोहनिर्मितयवनिकयाः गर्भगृहमहामण्डपे पृथक् क्रियते। गर्भगृहे दर्शनार्थिनां प्रवेशः वर्जितः तथा लोहनिर्मित जालाद् बहिः स्थित्वैव भक्ताः भगवत्याः दर्शनं प्राप्नुवन्ति। एतस्यैव लोहदण्डपूत्याः पुरोहिताः देव्यै नैवेद्यं समर्प्य भक्तान् प्रसादं यच्छन्ति। अन्तरालस्य विस्तारः महामण्डपस्य अपेक्षया न्यूनः वर्तते तथा दीर्घता समाना अस्ति।

**महामण्डपम् –**

अन्तरालस्य अग्रिमभागः महामण्डपमिति उच्यते। दार्घतायां विस्तारतायां च अयं प्रासादस्य अतिबृहत्

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण – नागर शेली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. १७

कक्षः भवति। एतदनेकस्तम्भेषु आधारितं वर्तते। अस्य दक्षिणवामयोः भित्तिषु क्वचित्क्वचित् द्वाराणि निर्मीयन्ते। यत्र द्वाराणि न सन्ति तत्र गवाक्षाः निर्मीयन्ते, यतः महामण्डपे पर्याप्तप्रकाशः पतति। महामण्डपं पर्याप्तम् उन्नतं भवति। एतस्य वितानं सामान्यतः वृत्ताकारम् अथवा वर्गाकारं वर्तते। उद्गतं यदा भवति तदा वृत्ताकारं भवतीति। अस्मिन् विताने सामान्यतः कलापूर्णं तक्षणं क्रियते। अस्य मन्दिरस्य महामण्डपम् अत्यन्तं मनोहरं वर्तते, यत् शुक्लचारुप्रस्तरेण निर्मितं अस्ति। अस्मिन् दक्षिणे वामे च द्वे द्वारेस्तः, एकस्मात् द्वारात् मन्दिरकार्यालयः वर्तते तथा च अन्यद्वारात् पार्श्ववीथी गम्यते, यत् सोपानपर्यन्तं गच्छति। एतस्य प्रयोगः भक्तजनानां कृते वर्जितः। गर्भगृहद्वारस्य पुरतः महामण्डपे एकं द्वारं वर्तते यतः सोपानभ्य अधः अवतीर्य एकस्मिन् अन्धकारे कक्षे गन्तुं शक्नुमः विभिन्नावसरेषु मन्दिरे यज्ञः अनुष्ठीयते। महामण्डपस्य दक्षिणे वामे च भागे कमलवाहिनी अष्टादशभुजदेव्याः तथा दशभुजदेव्याः काल्याः चित्रम् अङ्कितं वर्तते। एतन्मन्दिरस्य महामण्डपे वितानस्य अभावो वर्तते। महामण्डपम् उपरिस्तात् रिक्तं वर्तते, तत्रः स्पष्टम् आकाशः दृश्यते।

**अर्द्धमण्डपम् –**

एतत् महामण्डपस्य पुरतः स्थितम् अस्ति तथा च अस्मात् लघु भवति। अस्मिन्नपि लघु वितानं वर्तते, तदुपरि शिखरमपि भवति। अतिबृहन्मन्दिरेषु नृत्य-मण्डपं, रङ्ग-मण्डपम् इत्यादीनि मण्डपानि अपि निर्मीयन्ते।[1] वस्तुतः अस्मिन् मन्दिरे अर्द्धमण्डपं न लभ्यते, परन्तु महामण्डपं प्रवेशद्वारेण सह यत्र योजयति तत्र पार्श्ववीथीम् अथवा लघुकक्षान् अर्द्धमण्डपस्य उपाधिः दीयते। एतत् स्तम्भैः महामण्डपात् पृथक् दृश्यते। अत्र वृत्ताकारं वितानं वर्तते।

समेषां मण्डपानां गरिमा तथा गवाक्षाणां सौन्दर्यं स्तम्भवशाद् भवति। स्तम्भभागेषु आधारस्थाने कुम्भिका ततः स्तम्भः, भरणी, शीर्षम्, उच्छालकं च भवन्ति। स्तम्भस्य यद् आसनं भवति यत्र स्तम्भः तिष्ठति तत् कुम्भिका इत्युच्यते। तदुपरिभागः स्तम्भ इति कथ्यते। अयं स्तम्भः चतुराकारः, षट्कोणीयः, अष्टकोणीय अथवा गोलाकारश्चापि भवितुम् अर्हति। स्तम्भस्य ऊर्ध्वशिरः भरणी कथ्यते, यस्याः अधोभागः आमलकं तथा च ऊर्ध्वभागः पद्मम् इति कथितः। भरणी स्तम्भात् किञ्चित् बृहद् सन्ति। भरण्याः ऊर्ध्वं तच्छीर्षं भवति। एतच्चतुर्भागात् स्तम्भाद् अग्रे गतं भवति। तत्र कलश-देवी-देवातानां मूर्तयः उत्कीर्णाः भवन्ति। स्तम्भः सामान्यतः शीर्षे समाप्तिं याति, किन्तु यत्र तद् अधिकम् उन्नतं कर्तव्यं भवति, तत्र तस्य शीर्षे अन्यस्तम्भः योज्यते, यः मुख्यस्तम्भात् प्रायः 1 विस्तारं यावत् दीर्घः भवति। एतस्मिन्नपि शीर्षं वर्तते।[2]

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण – नागर शेली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. १७
2. चतुर्वेदी, श्रीनारायण – नागर शेली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. २१-२२

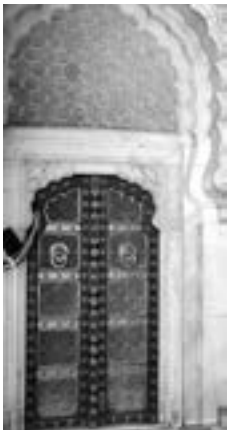

अस्मिन् मन्दिरे प्रायः २८ स्तम्भाः निर्मिताः सन्ति। सम्पूर्णप्रासादः चारुप्रस्तरेण निर्मितः। अस्य स्तम्भाः अतीव आकर्षकाः सन्ति। कुम्भिकायां सुन्दरचित्रकला उत्कीर्णा अस्ति। वृत्ताकारस्तम्भे वृत्ताकारपुष्पाणि निर्मितानि सन्ति। भरण्यां कुम्भिकावदेव तक्षणं वर्तते। शीर्षे देवी-देवतानां मूर्तिः उत्कीर्णा नास्ति, परन्तु धनुषाकारः उत्तरङ्गः वर्तते, यत्र वृत्ताकाराणि अष्टदलकमलानि तथा वृषभ-पुष्पादीनां चित्राणि उत्कीर्णानि सन्ति। महामण्डपस्य सौन्दर्यं अतीवमनोहरं वर्तते।

**शिखरम् –**

मन्दिरे शिखरस्य अभावः वर्तते, यथा वयमन्यप्रासादेषु पश्यामः। अत्र गर्भगृहे यस्मिन् स्थले देवी प्रतिष्ठिता, तदुपरि एव प्रथमतले एकं निर्माणम् अस्ति। एतन्निर्माणस्य मुख्यं कारणमिदं सम्भवति यद् देव्याः प्रतिमायाः ऊर्ध्वभागे किमपि गमनागमनं न स्यात्। सम्भवतः आमेरदुर्गवदेव अस्मिन् प्रासादे विभिन्नकाले नवनिर्माणकार्याणि कृतानि स्युः, यतः एताः विभिन्नताः दृश्यन्ते। राजामानसिंहप्रथमद्वारा मूर्तिप्रतिष्ठा कृता। तथा सवाईमानसिंहद्वितीयेन तथा तस्य भार्याभ्याम् अस्य प्रासादस्य सौन्दर्यीकरणं कृतं, यत्र तक्षणयुतचारुप्रस्तरः, रजतलेपितद्वाराणि, अन्यपूजासंबन्धिवस्तूनि सन्ति।[1]

मन्दिरनिर्माणकलाकार्ये राजस्थानस्य स्थानम् अग्रे वर्तते। समयस्य परिस्थितेः कारणात् राजस्थानीकलायाः स्वरूपेषु परिवर्तनं दृश्यते। प्रासादः आमेरदुर्गे स्थितः वर्तते। राजभवनेषु देवालयानां निर्माणविषये विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् इति ग्रन्थे लिखितमस्ति यत् विजयप्राप्त्यर्थं सन्तानप्राप्त्यर्थं च राजप्रासादेषु विशेषरूपेण वायव्यकोणे ईशान्यकोणे च कुलदेवतामन्दिरस्य निर्माणं कर्तव्यम्।[2] शिलादेवीमन्दिरे वयमेतस्य अभावं पश्यामः।

एते देवालयाः प्राचीरसहिताः निर्मातव्याः तथा च पूर्वाभिमुखाः पश्चिमाभिमुखाः च निर्मातव्या इति विधानम्। एतत्समीपे शालानिर्माणं कर्तव्यं तथा च गोपुरनिर्माणमपि।[3] देव्याः एतन्मन्दिरं प्राचीरयुतमस्ति। प्रवेशद्वारस्य दक्षिणभागे शालाः निर्मिताः, याः वर्तमानकाले कार्यालयाय अथवा पुरोहितावासाय प्रयुज्यन्ते। प्रासादे देवतालक्षणानुसारमेव छत्र-खड्गादिचिह्नानि निर्मितानि स्युः।[4]

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण – नागर शेली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. २१-२२
2. भूपहर्म्यस्य वायव्यामैशान्यां वा विशेषतः। कुलदेवाय स्थाप्यो जनसन्तानसिद्धये॥
3. प्राकारसंयुतः प्रायः पूर्व-पश्चिमवक्त्रकः। पार्श्वशालासमायुक्तो गोपुरेव च भासुरः॥ वि. वा. अ. ३५-३६, श्लो.३.
4. खड्गवेदी पुरः स्थाप्या यदि कालीवेशनम्। तत्पुरः सा प्रकर्तव्या शान्तिकुम्भसमन्विता॥ वि.वा. अ. ३५-३६, श्लो.६

एवं कथ्यते यत् पूर्वमेषा प्रतिमा पूर्वाभिमुखी प्रतिष्ठिता आसीत्। यदा महाराजेन सवाई जयसिंहेन जयपुरनगरस्य स्थापनायाः परं निर्माणकार्ये व्यवधानं जातं यतोहि एतद्भागे शिलामातुः वक्रा दृष्टिः अपतत्, तदा जयपुरस्य तन्त्रशास्त्रज्ञैः सवाईजयसिंहं परामर्शः दत्तः यत् शिलामातुः उत्तराभिमुखं प्रतिष्ठाकरणेनैव जयपुरनगरस्य निर्माणं सम्भवति। तदा सवाईजयसिंहद्वारा प्रतिमा वर्तमानगर्भगृहे उत्तराभिमुखं प्रतिष्ठापिता।[1] महाकाल्याः देवालयस्य पुरोभागे खड्गवेदी स्थापनीया तथा कालीदेवी शान्तिकुम्भसहिता निर्मातव्या।[2] देवीमन्दिरे स्वर्णनिर्मिते द्वे द्वारे भवेतां तथा तयोर्मध्ये उदुम्बर (देहली) तलस्य रचना भवेत्। एवमेव देवीसम्मुखं होमकुण्डरचना अर्थात् साक्षीवेदीनिर्माणं कर्तव्यं, यत्र राज्ञेन धर्मस्य रक्षणाय मङ्गलकामना भवेत्।[3] गर्भगृहसमक्षे यः कक्षः निर्मितः, सः साक्षिवेदीयुतः भवति। अत्र नृपादिभिः धर्मस्य मङ्गलकामनायै यज्ञादिकं क्रियते। वर्तमानकाले अस्य प्रयोगः यजने नवरात्रेषु कलशस्थापनार्थं क्रियते।

विश्वकर्मप्रकाशे शिखररचनाविधानं कृतम्,[4] परन्तु अत्र शिखरतुल्या आकृतिः न दर्शिता भवति तथा च गर्भगृहे तलद्वयं निर्मितम्। देवी यस्यां वेदिकायां स्थापिता अस्ति, तच्चतुस्तम्भमण्डपं वर्तते, यत् शिखरवद् भवति। प्रासादे देवतालक्षणानुसारमेव छत्रखड्गादिचिह्नानां निर्माणं भवितव्यम्।[5] उपर्युक्तवेदिकामध्यात् रजतछत्रं देव्याः उपरि अवलम्बितं वर्तते, यत्तत्सौन्दर्यस्यवृद्धिं करोति।

क्षत्रियाणां राज्ञां वा गृहेषु पृथग्रूपेण कालीदेव्याः निवेशनं सम्भवति, यत्र राजपरिवारः प्रतिदिनं पूजां कर्तुम् अर्हति। यस्य पुरतः वेदीयुक्तं परिष्कृतं क्षत्रपट्टं स्यात्। एवं रचना कर्त्रे विजय-आरोग्य-सन्तान-ऐश्वर्याणां कारणीभूता कथिता।[6]

**निष्कर्षः –**

मया सर्वेक्षणात्मकशैल्याम् आमेरस्थितशिलादेवीमन्दिरस्य वास्तुशास्त्रीयाध्ययनं कृतमस्ति, अनेन प्राप्तं यदस्मिन् नागरशैल्यां निर्मितप्रासादे विभिन्नाङ्गानि स्थापत्यकलायाः सिद्धान्तानुरूपाणि निर्मितानि सन्ति।

1. रजतनिर्मितद्वारम् अत्यन्तम् आकर्षकं वर्तते, यस्मिन् समस्तदेवीदेवतानां मनोहरदर्शनेन सह श्रीगणेशस्यापि दर्शनं प्राप्यते। शास्त्रेषु एतत्स्वर्णनिर्मितमिति कथितम् (सन्दर्भसंख्या ३४)
2. प्रवेशद्वारस्य शिरदलस्थं भव्यं तक्षणं दर्शकान् आकर्षयति ।
3. मन्दिरस्य मण्डोवर-महामण्डप-अर्द्धमण्डप-प्रवेशमण्डपानां भित्तिषु नानाऽलङ्करणानि, देवीदेवतानां चित्राणि, तक्षकार्याणि सर्वजनचित्ताकर्षकाणि सन्ति।

---

1. http://web.archive.org/web/2017//15212620/http://www.missionkuldevi.in/2014
2. तत्रैव
3. सौवर्णद्वारयुगलं तन्मध्ये देहलीतलम्। साक्षिवेदकल्पनं तु तत्रत्यं क्षात्रमङ्गलम्॥ वि. वा. अ. ३५-३६, श्लो. ६
4. विमानशिखरोपेत.....। वि.वा. अ. ३५-३६, श्लो. ४
5. ...छत्रखड्गादिचिह्नितः॥ वि.वा. अ. ३५-३६, श्लो. ४
6. क्षत्रियाणां गृहे कार्यं पृथक्कालीनिवेशनम्।
   सपूर्ववेदिकं क्षत्रपट्टेनापि परिष्कृतम्।
   जयारोग्यसुतैश्वर्यकारणं परिकल्प्यत्॥ - वि.व. अ.३५-३६, २०१४

4. महिषासुरमर्दिन्यै समर्पितस्यास्य मन्दिरस्य गर्भगृहं साधारणमपि भव्यं वर्तते। गर्वगृहं देव्याः रजतच्छत्रं अधिकं शोभायमानं करोति। एतेन सह देव्याः शिलोत्कीर्णा सुन्दरप्रतिमा आकर्षणं अधिकं।
5. गर्भगृहस्य द्वारसज्जा भिन्ना वर्तते, या कदलीवृक्षैः भूषिता अस्ति।
6. देवी या शक्तेः प्रतीकं वर्तते, तस्याः आभूषण-आयुध-आसनवस्तूनां निर्माणं शास्त्रानुसारं कृतम्। देव्याः त्रिनेत्रप्रतिमा वर्तते।
7. एतस्य मुख्याकर्षणं वर्तते यदत्र भित्तिषु स्तम्भेषु अद्भुतानि तक्षकार्याणि वर्तन्ते, यन्मुगलकालीनशैल्याः उदाहरणम् अस्ति।
8. मन्दिरे विशालशिखरस्य अभावः वर्तते, परन्तु चारुप्रस्तरस्य चतुस्स्तम्भमण्डपे शिखरं निर्मितम् अस्ति।
9. शिलादेवी स्वप्रारम्भिककाले पूर्वाभिमुखी स्थापिता आसीत्, परन्तु पश्चात्काले सा उत्तराभिमुखी प्रतिष्ठिता। (सन्दर्भसंख्या ३२)
10. मन्दिरनिर्माणकलाम् अवलोकयामश्चेत् बहिर्भागः गर्भगृहाद् भिन्नः प्रतीयते। सम्भवतः प्रासादनिर्माणम् एककाले न जातम् अपितु भिन्न-भिन्नकाले नानाराजभिः कृतम्, मूलनिर्माणं तैः न स्पृष्टम्।

❖ ❖ ❖

# द्वार-मर्मस्थानयोः सम्बद्धाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च

**– अनिलकुमारदेसायिः**
**– डॉ. कृष्णकुमारभार्गवः**

गृहनिर्माणं कथं करणीयम् इति वास्तुशास्त्रं बोधयति। वास्तुशास्त्रे नैके सिद्धान्ताः सन्ति। वास्तुशास्त्रीयेषु सिद्धान्तेषु द्वारनिर्णयः तथा मर्मस्थानविषयकः सिद्धान्तश्च प्रधानं भवति। गृहस्य द्वाराणि कुत्र कुत्र भवेयुः ? कुत्र कुत्र न भवेयुः ? इति वास्तुशास्त्रे निर्दिष्टमस्ति। केषुचित् स्थानेषु निर्मितानि द्वाराणि शुभानि भवन्ति। पुनश्च केषुचित् स्थानेषु निर्मितानि द्वाराणि अशुभदानि भवन्ति। अशुभस्थानेषु निर्मितानि द्वाराणि वास्तुदोषं जनयन्ति। अतः अशुभस्थानेषु द्वाराणि निर्मितानि चेत् तदुद्भवदोषस्य परिहाराय वास्तुशान्त्यादिकं करणीयं भवति। एवञ्च मर्मस्थानानामपि पीडा न करणीया। यदि मर्मस्थानानां पीडा कृता तर्हि वास्तुदोषः सम्भवति। तदानीं वास्तुशान्तिः करणीया भवति। अस्मिन् शोधपत्रे स्थूलतया द्वार-मर्मस्थानयोः सम्बद्धाः वास्तुदोषाः तेषां निवारणोपायाश्च प्रतिपादिताः।

**कूटशब्दाः** – द्वारम्, द्वारवेधः, वंशसूत्रम्, सम्पातः, मर्मस्थानम्

**द्वारनिर्णयः –**

बृहत्संहितायां वास्तुविद्याध्याये गृहं परितः ३२ स्थानेषु (बाह्यकोष्ठस्थानां ३२ देवतानां स्थानेषु संस्थितानां द्वाराणां स्थानेषु) यस्मिन् यस्मिन् स्थाने द्वारं निर्मितं चेत् किं किं फलं भवतीति कथितमस्ति। तद्यथा- अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।

**क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण ॥**[1] इति।

**पूर्वस्यां दिशि** – शिखी, पर्जन्यः, जयन्तः, इन्द्रः, सूर्यः, सत्यः, भृशः, अन्तरिक्षम् - एतेषां देवानां स्थानेषु कृतानां द्वाराणां यथाक्रमम् अनिलभयं, स्त्रीजननं, प्रभूतधनता, नरेन्द्रवाल्लभ्यं, क्रोधपरता, अनृतत्वं, क्रौर्यं, चौर्यं चेति फलानि सम्भवन्ति। दक्षिणस्यां दिशि – अनिलः, पूषा, वितथः, बृहत्क्षतः, यमः, गन्धर्वः, भृङ्गराजः, मृगः - एतेषां देवानां स्थानेषु कृतानां द्वाराणां क्रमेण अल्पसुतत्वं, प्रेष्यं, नीचत्वं, भक्ष्यपानसुतवृद्धिः, रौद्रं, कृतघ्नता, अधनं, सुतवीर्ययोः नाशः – एतानि फलानि सम्भवन्ति। पश्चिमायां दिशि – पिता, दौवारिकः, सुग्रीवः, कुसुमदन्तः, वरुणः, असुरः, शोषः, पापयक्ष्मा – एतेषां देवानां स्थानेषु कृतानां द्वाराणां क्रमेण सुतधनयोः अप्राप्तिः, सुतार्थफलसम्पत्, धनसम्पत्, नृपतिभयं, धनक्षयः, रोगः – एतानि फलानि सम्भवन्ति। उत्तरस्यां दिशि – रोगः, सर्पः, मुख्यः, भल्लाटः, सोमः, भुजगः, अदितिः, दितिः – एतेषां देवानां स्थानेषु कृतानां द्वाराणां क्रमेण वधबन्धः, रिपुवृद्धिः, सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्, पुत्रधनाप्तिः, सुतेन साकं वैरं, स्त्रिया दोषाः, नैः स्वम् – एतानि फलानि सम्भवन्ति।

अत्र येषु येषु स्थानेषु शुभफलानि कथितानि तेषु एव स्थानेषु द्वाराणि कार्याणि। येषु येषु स्थानेषु

1. बृहत्संहिता - वास्तुविद्याध्यायः - ७० तः ७३ श्लोकाः

अशुभफलानि कथितानि तेषु स्थानेषु द्वाराणि न करणीयानि। अशुभस्थानेषु द्वाराणि कृतानि चेत् वास्तुदोषः सम्भवति। एतादृक्स्थितौ वास्तुशान्तिः करणीया भवति।

**द्वारवेधदोषः -**

बृहत्संहितायाम् आचार्यवराहमिहिरेण द्वारवेधदोषः कथितः। तद्यथा -

**मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम् ।**
**उच्छ्रायाद् द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय ॥**[1] इति।

मार्ग-तरु-कोण-कूप-स्तम्भ-भ्रमैः विद्धं द्वारम् अशुभदं भवति। किन्तु द्वारस्य उच्छ्रायात् द्विगुणमितां भूमिं त्यक्त्वा मार्ग-तरु-कूप-स्तम्भ-भ्रमाः भवन्ति चेत् दोषाय नैव भवति। द्वारस्य उच्छ्रायात् द्विगुणमितात् भूमितः न्यूनदूरे मार्ग-तरु-कूप-स्तम्भ-भ्रमाः भवन्ति चेदपि अनिवार्यतया तत्र द्वारं करणीयं चेत् वास्तुशान्तिः करणीया भवति।

वराहमिहिराचार्यः द्वारवेधे विशेषफलं कथयति -

**रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा ।**
**पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिः स्राविणि प्रोक्तः ॥**
**कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।**
**स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे ॥**[2] इति।

रथ्या अर्थात् मार्गेण यदि द्वारं विध्यते तर्हि गृहस्वामिनः नाशाय भवति। तरुणा विद्धं द्वारं बालकानां दोषदं भवति। पङ्केन विद्धं द्वारं शोकं जनयति। द्वारे जलनिर्गमनमार्गे विद्धे सति धनव्ययः सम्भवति। द्वारे कूपेन विद्धे सति अपस्मारः सम्भवति। द्वारे सुरप्रतिमाभिः विद्धे सति गृहस्वामिनः विनाशः सम्भवति। द्वारे स्तम्भेन विद्धे सति स्त्रीदोषाः सम्भवन्ति। द्वारे ब्राह्मणाभिमुखे सति कुलस्य नाशो भवति। द्वारवेधदोषः कुत्र न भवति ? कुत्र च भवति?

**पृष्ठतः पार्श्वयोर्वापि न वेधं चिन्तयेद्बुधः। प्रासादे वा गृहे वापि वेधमग्रे विनिर्दिशेत् ॥**[3]

प्रासादस्य गृहस्य वा पार्श्वतः पृष्ठतश्च पूर्वोक्तः द्वारवेधदोषो न भवति। केवलं प्रासादस्य गृहस्य वा अग्रतः एव द्वारस्य वेधदोषो भवति।

वेधदोषसूचकवस्तूनि (पूर्वं द्वारवेधप्रकरणे "रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय ...." इत्यादिना यानि यानि वस्तूनि कथितानि तानि) प्रासादस्य गृहस्य वा अग्रतः भवन्ति चेदेव दोषः इति वक्तव्यः। किन्तु पार्श्वयोः पृष्ठतश्च दोषः न भवति।

**द्वारसम्बद्धानि अशुभफलानि -**

द्वारसम्बद्धानि कतिचन अशुभफलानि वराहमिहिराचार्येण कथितम्। तद्यथा -

**उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।**

---

1. बृहत्संहिता - वास्तुविद्याध्यायः - श्लोकः ७४
2. बृहत्संहिता – वास्तुविद्याध्यायः - ७५, ७६ श्लोकौ
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् - 86/391

**मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च ॥**
**द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय सङ्कटं यच्च ।**
**आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति ॥**
**पीडाकरमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेदभावाय ।**
**बाह्याविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा ॥**[1] इति।

गृहस्य द्वारे स्वयमेव उद्घाटिते सति उन्मादः जायते। द्वारे स्वयमेव पिहिते सति कुलस्य नाशः सम्भवति। वास्तुशिल्पशास्त्रेषु उक्तप्रमाणात् अधिकप्रमाणेन द्वारे कृते सति नृपभयं सम्भवति। वास्तुशिल्पशास्त्रेषूक्तप्रमाणात् अल्पप्रमाणेन द्वारे कृते सति दस्युभयं व्यसनं च सम्भवति। द्वारस्योपरि यद्द्वारं कृतं तत् श्रेयसे नैव भवति। यच्च द्वारं उक्तपृथुत्वेनाल्पं तदपि शिवाय नैव भवति। अतिविपुलं द्वारं दुर्भिक्षं जनयति। कुब्जं द्वारं कुलस्य नाशं करोति। उदुम्बरेण अतिपीडितं द्वारं गृहस्वामिनः पीडाकरं भवति। अन्तर्गृहाभ्यन्तरे विनतं द्वारं गृहस्वामिनः मरणाय भवति। बाह्यविनतं द्वारम् अन्यदेशवासं जनयति। द्वारे दिग्भ्रान्ते सति दस्युभिः पीडा जायते।

गृहस्य मूलद्वारम् अर्थात् प्रधानद्वारम् अन्यद्वारैः रूपसमृद्ध्या समानं न अभिसन्दधीत। अर्थात् मूलद्वारस्य यादृशी रचना कृता तादृशी रचना अन्यद्वारेषु न कार्या; मूलद्वारात् किञ्चित् न्यूनम् अलङ्कारादिकं वैभवं, विस्तारदैर्घ्यपृथुत्वाणां प्रमाणं च कार्यमित्यर्थः। तथा मूलद्वारं मङ्गलैः घटैः (कलशैः), श्रीफलादिभिः फलैः, पत्रैः, लतादिभिः, प्रमथगणादिभिः, सिंहव्यालहंसजीवजीवकैश्च उपचितं कुर्यात्। यथोक्तं बृहत्संहितायाम् –

**मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरभिसन्दधीत रूपर्ध्या ।**
**घटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मङ्गलैश्चिनुयात् ॥**[2] इति।

यदि मूलद्वारस्य अपेक्षया अन्यद्वाराणि अधिकानि वैभवयुक्तानि कृतानि तर्हि वास्तुदोषाः सम्भवन्ति। तदानीं वास्तुशान्तिः करणीया भवति।

**कोणेषु कृतस्य द्वारस्य फलम् -**

**द्वारमायामतः कार्यं पुत्रपौत्रधनप्रदम् ।**
**विस्तारकोणं द्वारं यद् दुःखशोकभयप्रदम् ॥**[3]

इत्युक्तरीत्या दैर्घ्ये अथवा विस्तारे एव द्वारनिर्माणं कार्यम्। कोणेषु द्वारस्थापनं न कार्यम्। यतो हि विस्तारे दैर्घ्ये वा निर्मितं द्वारं पुत्रपौत्रधनप्रदं भवति। किन्तु कोणे निर्मितं द्वारं दुःखशोकभयप्रदं भवति। प्रमादवशात् कोणे द्वारं कृतं चेत् तस्य द्वारस्य भञ्जनं कृत्वा शुभस्थाने द्वारं करणीयं भवति।

**भित्तिमध्ये कृतस्य द्वारस्य फलम् –**

1. बृहत्संहिता – वास्तुविद्याध्यायः - ७७ तः ७९ श्लोकाः
2. बृहत्संहिता - वास्तुविद्याध्यायः - श्लोकः ८०
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् - 86/370

**भित्तिमध्ये कृतं द्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम् ।**
**आवहेत्कलहं शोकं नारीर्वा सम्प्रदूषयेत् ॥**[1]

इत्युक्तरीत्या भित्तिमध्ये द्वारनिर्माणं क्रियते चेत् गृहस्वामिनः द्रव्यस्य धान्यस्य च विनाशो भवति। तथा कलहः, शोकः, नारीणां दूषणम् इत्यादिकानि अनिष्टफलानि सम्भवन्ति। अतः भित्तिमध्ये द्वारनिर्माणं नैव कार्यम्। यदि प्रमादवशात् भित्तिमध्ये द्वारं कृतं तर्हि तस्य द्वारस्य भञ्जनं कृत्वा शुभस्थाने द्वारं करणीयं भवति।

**द्वारस्योपरि कृतस्य द्वारस्य फलम्**

**द्वारस्योपरि यद्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम् ।**
**न कार्यं व्ययदं यच्च सङ्कटं तद्दरिद्रकृत् ॥**[2]

इत्युक्तरीत्या द्वारस्योपरि अन्यद्द्वारं न कार्यम्। द्वारस्य सम्मुखमपि अन्यद्द्वारं न कार्यम्। यतो हि तथा क्रियते चेत् सङ्कटं दारिद्र्यञ्च सम्भवति। यदि तथा कृतं तर्हि शाश्वतरूपेण एकस्य द्वारस्य पिधानं करणीयं भवति।

**द्वारवेधदोषाणां परिहारः -**

द्वारवेधदोषेनापि वास्तुदोषाः उत्पद्यन्ते। द्वारस्य कृते यस्य कस्यापि प्रकारकस्य बाधा द्वारवेधः इत्यभिधीयते। अतः यदि द्वारवेधदोषो वर्तते तर्हि द्वारं न निर्मातव्यम्। यदि तथा सम्भवं न भवति तर्हि द्वारे ताम्रस्य एकं स्वस्तिकं योजनीयं भवति। गृहस्य मध्यभागे किमपि द्वारं न निर्मातव्यम्। द्वारस्य उभयोरपि उद्घाटकयोः (तरफ) हस्तिनः आकृतिम् अथवा अन्याः माङ्गलिकाः आकृतीः (मङ्गलकलशः, रिद्धि-सिद्धी, हस्तमुद्रा ( हाथ के छाप), ॐ, श्रीः, गणेशस्य आकृतिः इत्यादिकानि) निर्मीयते चेत् द्वारवेधदोषाणां वारणं भवति।

**मर्मस्थानम् –**

**सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम्।**
**मर्माणि तानि विन्द्यान्न तानि परिपीडयेत् प्राज्ञः ॥**[3]

इति बृहत्संहितोक्तरीत्या वंशानां ये सम्पाताः पदानां यानि च समानि मध्यानि तानि सर्वाणि 'मर्माणि' विन्द्यात्। तानि वास्तुपुरुषस्य मर्मस्थानानि भवन्ति प्राज्ञः तानि न परिपीडयेत्। यदि तानि मर्मस्थानानि पीडयेत् तर्हि दोषः सञ्जायते। ते वंशसम्पाताः (मर्मस्थानानि) के इति वराहमिहिराचार्यः वक्ष्यति

**रोगाद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितथात्।**
**मुख्याद् भृशं जयन्ताच्च भृङ्गमदितेश्च सुग्रीवम् ॥**
**तत्सम्पाता नव ये तान्यतिमर्माणि सम्प्रदिष्टानि।**

---

1. उद्धृतम् - वास्तुरत्नाकार - 7/57
2. तत्रैव - 7/58
3. बृहत्संहिता – वास्तुविद्याध्यायः - श्लोकः ५७

**यश्च पदस्याष्टांशस्तत्प्रोक्तं मर्मपरिमाणम् ॥**[1] इति।

रोगादारभ्य वायुं यावत् तिर्यक् सूत्रं नयेत्। एवं पितृतः हुताशनं यावत् अन्यत् तिर्यक् सूत्रं नयेत्। वितथात् शोषं यावत् तिर्यक् सूत्रं सन्दद्यात्। मुख्यात् भृशं यावत् तिर्यक् सूत्रं नयेत्। जयन्तात् भृङ्गं यावत् तिर्यक् सूत्रं नयेत्। तथा अदितेः सुग्रीवं यावत् तिर्यक्सूत्रं नयेत्। तानि सर्वाणि सूत्राणि मर्मसूत्राणि इत्युच्यन्ते। एतेषां मर्मसूत्राणां परस्परं नव सम्पाताः भवन्ति। तानि नव सम्पातस्थानान्येव अतिमर्माणि इति सम्प्रदिष्टानि भवन्ति। पदप्रमाणस्य कोष्ठप्रमाणस्य यः अष्टमो भागः सैव मर्मस्य परिमाणमिति प्रोक्तम्।

**तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यैः पीडितानि शल्यैश्च।**
**गृहभर्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति ॥**[2]

इत्युक्तरीत्या तानि मर्मस्थानानि यदि अशुचिभाण्डककीलस्तम्भाद्यैः शल्यैश्च पीडितानि भवन्ति तर्हि गृहभर्तुः तत्तुल्ये अङ्गे पीडां प्रयच्छन्ति। अतः मर्मस्थानवेधः भवति चेत् वास्तुदोषः सम्भवति। वास्तुशान्त्या सर्वत्र वास्तुदोषाणां परिहारः भवति।

वास्तुपुरुषस्य मर्मस्थाने किमपि निर्माणं न कार्यम्। मर्मस्थाने यदि किमपि निर्मीयते तर्हि वास्तुदोषः सम्भवति। अत एव अस्य वास्तुदोषस्य वारणार्थमेव प्राचीनकालिकभवनेषु मर्मस्थानं रिक्तमेव भवन्ति स्म। किन्तु आधुनिककाले गृहनिर्माणार्थं चयितस्य भूखण्डस्य प्रत्येकमपि भागस्य उपयोगः करणीयः इति मनस्थित्या जनाः भूखण्डस्य मध्यभागं (ब्रह्मस्थानं) सामान्यतः रिक्तं न त्यजन्ति। तत्र शौचालयस्य अथवा, स्तम्भस्य वा, अन्यत्किमपि वा निर्माणं क्रियते तदा वास्तुदोषः सम्भवति। अतः ब्रह्मस्थाने यावच्छक्ति किमपि निर्माणमकृत्वा रिक्तमेव त्यक्तुं प्रयत्नं कुर्यात्। येन वास्तुदोषः न सम्भवति। तत्र ब्रह्मस्थाने तुलसीकुण्डं स्थापयितुं शक्यते। यदि गृहार्थं चयितं स्थलमेव अल्पं भवति, ब्रह्मस्थानं रिक्तं त्यक्तं चेत् गृहे स्थलावकाशः न्यूनो भवति चेत् ब्रह्मस्थाने Hall इत्यादिकं स्थापयितुं शक्यते। अनेन वास्तुदोषस्य प्रमाणं न्यूनं भवति। किन्तु तत्र भित्तिः, शौचालयः, स्तम्भः इत्यादिकानां निर्माणं न कार्यम्। यतो हि तत्र भित्त्यादीनां निर्माणेन वास्तुदोषस्य आधिक्यं भवति। केवलं hall निर्मीयते चेत् तत्र भूमेः खननरूपपीडा आधिक्येन न भवति। किन्तु भित्तिः, शौचालयः, स्तम्भः इत्यादीनां निर्माणेन भूमेः खननरूपा पीडा जायते। अतः यदि तादृक्स्थलाभावो भवति तर्हि केवलं ब्रह्मस्थाने सामान्यं hall एव निर्मातव्यम्। अन्यत्किमपि न निर्मातव्यमिति अभिप्रायः।

**निष्कर्षः -** बहुविधवास्तुदोषाः सन्ति। तेषु वास्तुदोषेषु द्वार - मर्मसम्बद्धवास्तुदोषाः। वास्तुशान्त्या एतेषां दोषाणां परिहारः भवतीति।

❖ ❖ ❖

1. बृहत्संहिता - वास्तुविद्याध्यायः - ६१, ६२ श्लोकौ
2. बृहत्संहिता – वास्तुविद्याध्यायः - श्लोकः ५८

# राहुमुखविचार का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विमर्श

– प्रो. वासुदेव शर्मा

ॐ ह्रीं नमो भगवन् वास्तुपुरुष महाबलपराक्रम सर्वदेवाश्रितशरीर ब्रह्मपुत्र सकलब्रह्माण्डधारिन् भूम्यर्पितमस्तक-पुरपत्तनप्रासादगृहवापीरूपादि-सन्निवेश-सांनिध्यकर-विश्वम्भर-परमपुरुषस्वरूप-शङ्ख-चक्रशार्ङ्गधनुः कर-वरदाभयहस्तवास्तो नमस्ते नमस्ते।[1]

वास्तुशास्त्र अपनी तीन शक्तियों की प्रधानता के कारण विश्व में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला शास्त्र है। इसकी तीन शक्तियों में अध्यात्म बल काल का चिन्तन आत्मा और मन के समन्वय के एक वैज्ञानिक आधार पर प्रयोग करने के कारण दार्शनिक स्वरूप को परिभाषित करता है। आत्मा और मन भारतीय दर्शनशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय रहा है। विभिन्न शक्तियों के साथ आत्मबल का अधिष्ठाता सूर्य तथा इन्द्रियों के राजा के रूप में मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा कालबल के प्रयोग का मुख्य आधार है। **"सूर्य आत्मा जगतः"**[2] तथा **"चन्द्रमा मनसो जातः"**[3] इत्यादि मन्त्र इस ही चिन्तन का साक्ष्य हैं।

आत्मानुसंधित्सु दार्शनिक वैज्ञानिकों (ऋषिप्रवरों) की दीर्घकालीन सुनिश्चित चिन्तनधारा ज्योतिषशास्त्र के कालतत्त्वचिन्तन के साथ मिलकर वास्तुशास्त्र के लिये उपयोगी कालबल का निर्धारण ही वास्तुशास्त्र का दार्शनिक (आध्यात्मिक विज्ञान) स्वरूप है। इस विज्ञान का चिन्तन देवयोनि और असुरयोनि दोनों प्रकार के विचारकों ने किया। इसके कारण ही विश्वकर्मा ओर मय की परम्परा वास्तुविद्या को पोषित करती रही।

यद्यपि जीवन की सर्वांगीणता को निर्मित करने वाले आत्मा, मन, बल, बुद्धि, अहंकार आदि जो अतिसूक्ष्म विचारतन्तु या पञ्चतत्त्व[4] हैं उन्हीं का प्राकृतिक अध्ययन कर देवी और आसुरी सम्पत्[5] के विचारार्थ वैज्ञानिक विचार ही दर्शनशास्त्र है। प्रयोगात्मक अध्ययन (मानव के लिये उपयोगी आवास व्यवस्था के लिये) करना ही वास्तुशास्त्र के आध्यात्मिक विज्ञानमय स्वरूप का मूल है।

---

1. पृ.65, वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह, खेमराज श्रीकृष्णदास मुंबई प्रकाशन, संस्करण 1993 ई.
2. ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 115, मन्त्र 1
3. पुरुषसूक्त मन्त्र 12 (ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 90, मन्त्र 13)
4. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
   अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (श्री मद्भगवत् गीता, अध्याय 7, श्लोक 4-5)
5. अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
   तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
   दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
   दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। (श्री मद्भगवत् गीता, अध्याय 16, श्लोक 2-3-4-5)

ज्योतिषशास्त्र ही भगवान् वास्तु का नेत्र हैं[1] जो कि भूत भविष्य वर्तमान त्रिकालाबाधित दृष्टि का प्रतीक है। भगवन् वास्तु का शङ्ख-चक्र-शार्ङ्गधनुःकर स्वरूप भगवान नारायण का ही स्वरूप है। भगवान् नारायण ही साक्षात् विग्रहवान धर्म हैं। "नारायण पराः वेदाः" इत्यादि वाक्य नारायण को ही वेद का अनिर्वचनीय[2] स्वरूप मानते हैं अतः श्रीमद् भागवत का वेदस्तुति परक पथ इसका ही मुक्तकण्ठ से समर्थन करता है। भगवान नारायण की ही सूक्ष्मकला सर्वत्र देवालय, आराम (वाटिका), गेहविधि, जलाशय आदि के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली काल की कलनात्मक विधि **"कालः कलयतामहम्"** के अनुसार नारायणमय वास्तु का सूक्ष्म स्वरूप है। **"नक्षत्राणामहम् शशि"** इत्यादि वाक्य भी चन्द्रमा को नक्षत्रों की विशिष्ट अधिपतित्वता का द्योतक हैं।

वास्तुशास्त्र के लिये आध्यात्मिक विज्ञानमय पथ का विचार करने पर गृहनिर्माणार्थ खात के प्रसंग में दिक् निर्णय का विचार राहुमुख ज्ञान से किया जाया है। यह राहुमुख एक प्रतीकात्मक शब्द है। ज्योतिषशास्त्रानुसार– **"तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः"** इत्यादि वाक्य राहु को तम, स्वर्भानुः सिंहिका पुत्र तथा विधुन्तुद के रूप में परिभाषित करते हैं। यद्यपि ज्योतिष शास्त्रीय राहु वक्रगति, क्रूरग्रह, चन्द्रमा को पीडा देने वाला एक असुर परिभाषित किया गया है। सिद्धान्त ज्योतिष का वैज्ञानिक पथ **"विमण्डले भवृत्तस्य सम्पातः पात उच्यते"** इत्यादि निर्णयानुसार विमण्डल (चन्द्रभ्रमण मार्ग) में भवृत्त क्रान्तिवृत सूर्य के भ्रमण मार्ग का सम्पात ही पात अर्थात् राहु का स्थानमय क्षेत्र है। यहां सूर्य का भ्रमणमार्ग आत्मतत्त्व के अधिष्ठाता का विमण्डल चन्द्रमण्डल के भ्रमणमार्ग मनस्तत्व के सञ्चालन के स्थान का सम्पात ही अन्धकार मय राहु का स्थान है। ज्योतिषशास्त्रीय व्याख्या ही वास्तुशास्त्रीय चिन्तन के दिक्, देश और काल त्रिविध तत्त्वों का मूलाधार है। यहाँ राहुमुख ज्योतिषशास्त्रानुसार एक राशी पर मध्यम मानानुसार 11/2 वर्ष संचरण करता है। ज्योतिषशास्त्र का राहु पौर्णमासी पर चन्द्रमा को तथा अमावस्या पर सूर्य को अन्धकार (तम) से आवृत करने की क्षमता रखने वाली अमृत पान से अमरता को प्राप्त हुई आसुरी शक्ति (अन्धकार) का प्रतीक है। वहीं यह केवल मुख की आकृति कला राहुमुख गृहनिर्माणोपयोगी भूमि पर आत्मा और मन की संलग्नता से भूखण्ड को अपना मान लेते ही प्रभावी होकर क्रमशः देवालय, गेहविधि और जलाशय निर्माण का संकल्प लेते ही वक्रगति से प्रभावी हो जाता है। तथा देवालय निर्माण में जीवात्मा और परमात्मा के विशिष्ट सम्बन्धवशात् मीन राशि से गेहविधि में आत्मतत्त्व के अधिष्ठाता सूर्य का अपना गृह सिंह के वश तथा जलाशय निर्माण में दुःख के अधिष्ठाता शनि ग्रह की राशि जलतत्व की विशिष्टता की द्योतक मकर राशि वश तीन तीन राशियों के क्रमवशात् गृहनिर्माणोपयोगी भूमि में शम्भु दिशा ईशानकोण से आरम्भ कर वक्रगति द्वारा अपनी स्थिति को प्रगट करता है।[3] दर्शनशास्त्र जहां आत्मतत्त्व, मनस्तत्व के विशिष्ट चिन्तनवश मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ,काम,मोक्ष की विशिष्ट चिन्तन धारा में धर्मशास्त्र के विधि निषेधों द्वारा मानव जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है वहीं वास्तुशास्त्र गेहनिर्माणोपयोगी भूमि जो कि पञ्चमहाभूतों में गुरुत्वशक्ति, चुम्बकीय

---

1. वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्यौतिषं मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
   संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिः चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः॥ (सिद्धान्त शिरोमणि, मध्यमाधिकार, श्लोक 11)
2. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ (श्री मद्भगवत् गीता, अध्याय 15, श्लोक 15)
3. देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
   मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्टविदिक् शुभा भवेत्॥ (मुहूर्त चिन्तामणि, वास्तु प्रकरण, श्लोक 19)

शक्ति का साक्षात् प्रत्यक्षस्वरूप है उसके चार कोण जिसमें शिवतत्त्व कल्याणमय पक्ष की विशिष्ट दिशा (विदिशा) शम्भु दिशा ईशान कोण के दिक् तत्त्व, कालतत्त्व के अधिष्ठाता भगवान भास्कर की विभिन्न नक्षत्राधिष्ठातृत्व (स्थिति) वश उत्पन्न राशिप्रदेश में सञ्चारवशात् प्रकाशक पदार्थ की विलोमदिशा में चलने वाली अन्धकार (छाया) की गणना राहुमुख के रूप में कर उसके पृष्ठविदिक् में खात करने का निर्देश करता है। यहां राहुमुख ज्ञान के दो पक्ष अतिमहत्त्वपूर्ण हैं। **"राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः"** तथा **"खाते पृष्ठविदिक् शुभा भवेत्"**। वस्तुतः खातारम्भ गृहारम्भ का अतिमहत्वपूर्ण पक्ष है जिसमे अधोगति और ऊर्ध्वगति दो क्रियाओं का सम्बन्ध हैं। मानवजीवन की अधोगति किसी भी रूप में किसी को भी स्वीकार्य नहीं है अतः अधोगति में मुख्य चिन्तन तमोगुणी प्रवृत्ति या प्रकृति के निराकरणार्थ किया जाने वाला शिव चिन्तन ही प्रधान है। शिवतत्त्व को प्रभावित करने वाला तमस्तत्त्व ही जीवन के कल्याण का बाधक है।

वास्तुशास्त्र देवालय, गेहविधि और जलाशय निर्माण के प्रारम्भ में ही खातारम्भ के लिये विदिक् निर्धारणार्थ प्रकाश के तेजोभूत पुञ्ज भगवान भास्कर के राशि संचरण के आधार पर तीन तीन माह के लिये ईशानदिशा से प्रारम्भ कर भूखण्ड के चतुर्दिक में वक्री गति भ्रमण करने वाले राहुमुख का प्रतिपादन कर पृष्ठविदिक् में ही खातारम्भ (अधोमुख क्रिया) का निर्देश कर शुभत्व का चिन्तन करता है। यहाँ हम प्रत्येक क्रिया देवालय निर्माण, गृहनिर्माण (आवासीय गृह), जलाशय निर्माण के प्रसंगों का वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास इस लेख के माध्यम से कर रहे हैं। जिसमें ज्योतिष शास्त्र, वास्तुशास्त्र, स्वरशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रों का सहयोग चिन्तन की शोधपरक पृष्ठभूमि के लिये आवश्यक है। यहाँ सर्वप्रथम देवालय निर्माणार्थ **"देवालये मीनार्कतस्त्रिभे"** मीनराशी के सूर्य से वर्षान्त पर्यन्त सूर्य का संचरण क्रमशः **"पूर्वाभाद्रपदा पादमेकम् उत्तराभाद्रपदा रेवन्यन्तं मीनः" "अश्विनी भरणी कृतिका पादमेकं मेषः" "कृतिकायास्त्रयः पादाः रोहिणी मृगशिरोऽर्धं वृषभः"** उक्त नक्षत्रों के एकसूत्रगत भूकेन्द्राभिप्रायिक साक्ष्य के अनुसार भूमण्डल पर पड़ने वाली सूर्य किरणों के अन्तर्गत अभीष्ट भूखण्डाभिप्रायिक कोणजन्य विशिष्ट स्थिति द्रष्टा ऋषि महर्षियों वास्तुविद्या प्रणेता कालद्रष्टा चिन्तकों के अनुसार तीन मास के लिये राहुमुख का प्रभाव ईशान कोणस्थ शिवतत्त्व को प्रभावित कर उस कोण में खातक्रिया को निषिद्ध कर उससे अग्रिम कोण (वामावर्त) में भी खातारम्भ का निषेध करता है। केवल पृष्ठविदिक् अग्निकोण को ही तदर्थ शुभ मानता है। **"वर्णा विप्रमुखाः झषादिह"** के अनुसार मीन राशि ब्राह्मण वर्ण ब्रह्मज्ञान परायण **"ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"** से प्रारम्भ कर देवालय निर्माण के प्रमुख अधिकारीगण विप्रवर्ण के निर्धारणार्थ राश्यधिष्ठातृदेव देवगुरु बृहस्पति की मीन राशि को मुख्य **"मत्स्यो घटी नृमिथुनं सगदं सवीणम्"** के अनुसार उभयोदय मुखपुच्छ संलग्न भगवान् विष्णु के प्रथमावतार मत्स्यावतार की राशि से प्रारम्भ कर तीन सौर मास की अवधि का निर्धारण **"त्रिभिर्मासैः अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते"** के अनुसार मध्यम मार्ग निर्धारण कर राहु की मध्या गति को स्वीकार कर युगकाल (बृहत्काल निर्धारणार्थ) अवधि को भी **"षष्ठांशः सन्ध्ययोः स्वकः"** के नियम अनुसार दो दिशाओं की सन्धि को राहु की मध्यम कालावधि (राशि संचरण अवधि) को अष्टादश मास स्वीकार कर संधि हेतु षष्ठांश का नियम सूर्य प्रणीत नियम व सिद्धान्तानुसार पुराणानुमोदन के उपरान्त तीन मास हेतु सन्धि में राहुमुख का वास उचित ही प्रतीत होता है।

आत्मतत्त्व एवं तमस्तत्त्व तथा दिक् तत्त्व की सन्धि विदिक् क्रम के साक्षी साक्षात् ईशान ही **"ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्"** सदाशिव तत्व असुरसत्ता सैंहिकेय की मुख स्थिति विष्णुभगवान् के सुदर्शन चक्र (ऋषि महर्षियों के तपो शक्ति के साक्षात् स्वरुप) से उत्पन्न अमृतयुक्त राहुमुख के प्रथमाधार हो सकते हैं। दक्ष प्रजापति (ब्रह्मा के लोकसृष्टा पुत्र) की 12 कन्याओं[1] में परिगणित सिंहिका का पुत्र सैंहिकेय **(सिंहिकायाः अपत्यं पुमान्)** राहु ही अमृतास्वाद वशात् राहुमुख के रूप में प्रगट हुआ। यही राहु ग्रह[2] रूप में सैंहिकेय कहलाया। राहु को छाया ग्रह मानने के सिद्धान्त तथा **"तामस कीलक संज्ञया राहुसुताः केतवस्त्रयस्त्रिंशत्"** संहिता ग्रन्थों का राहु की समष्टिगत प्रभाव सत्ता के फलों के प्रतिपादन में **"त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवाः"** के देवों की 33 कोटियों के समान असुरों में अमृतपान से अमर सैंहिकेय (ग्रह) की भी 33 कोटियो के 33 पुत्रों का विचार संहिता शास्त्र के मर्मज्ञ ऋषि मुनियों का एक विहंगम अवलोकन प्रतीत होता है। पृष्ठभूमि वास्तुशास्त्र की हो या स्वरशास्त्रानुसार भूबल विचार की सर्वत्र प्राज्ञ ऋषियों का तमस् तत्त्व के निग्रहार्थ उपाय व चिन्तन ही दृष्टि गोचर होता है। "तत्र गन्धवती पृथ्वी" या "शब्दगुणकम् आकाशम्" इत्यादि दार्शनिक चिन्तन भी पृथ्वी तत्त्व में तमस्तत्त्व का गन्ध अनुसार भी चिन्तन कर वास्तुशास्त्र में भू खातार्थ प्रयोग को प्राथमिकता देता है।

स्वरशास्त्र जीवनक्षेत्र में विजयार्थ **राहु कालानल भूमि**[3] में विचारणीय सूर्य चन्द्र के तेज उष्णशीत तेज का विचार तम निग्रहार्थ ही प्रयत्न है जो कि भूबल से जयप्रद है। इसके अतिरिक्त स्वरशास्त्र का ऋक्ष राहु, मास राहु, पक्ष राहु, दिन राहु, खण्ड राहु, अर्धयाम राहु, गूढार्ध राहु, मुहूर्त राहु, कुलिक राहु के अन्तर्गत खण्ड राहु का विचार दिशा व तिथि कृष्ण शुक्ल पक्ष सापेक्ष्य ही किया जाता हैं।

**ऐन्द्रयां कृष्णे तृतीयायां सप्तम्यां शूलिनो दिशि ।**
**दशम्यां धनदाशायां वायव्यां भूतवासरे ॥**
**शुक्लपक्षे तु वारुण्यां चतुर्थ्यां समुदेत्यसौ ।**
**नैऋत्ये च तथाष्टम्यां एकादश्यां यमे दिशि ॥**
**आग्नेये पञ्चदश्यां च मासराहूदये सति ।**
**खण्डगत्या भ्रमत्येवं खण्डराहुस्तथोच्यते ॥**[4]

---

1. अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका मुनिः । प्रबोधा सुरसा क्रोधा विनता कद्रुरेव च ॥
   दक्षस्यैता दुहितरः कन्या द्वादश भारत । नक्षत्राणि च भद्रं ते सप्तविंशतिरूर्जिताः ॥ (हरिवंश पुराण, भविष्यपर्व, अध्याय 14, श्लोक 30-31)
2. दनायुषायास्तनया व्याधयश्चाधयस्तथा । सिंहिका ग्रहमाता च गन्धर्वजननी मुनिः॥ (तत्रैव श्लोक 61)
3. राहुकालानले चक्रे कृत्वा चन्द्रदिवाकरौ, वदनाद्यङ्गभेदेन कथयिष्यामि भूबलम्।
   राहोर्मुखस्थितश्चन्द्रः पृष्ठभागे जयप्रदः, ग्रह्यसम्पुटगो युद्धे वामाग्रे च जयावहः।
   कपालपुच्छयोश्चन्द्रो सव्यमार्गे जयप्रदः, भानुः सर्वत्र सर्वाङ्गे जयदः पृष्ठदक्षिणे॥
   (नरपतिजयचर्या, भूबलाध्याय, श्लोक 151-152-153)
4. तत्रैव श्लोक 164-165-166, करणराहु

इस प्रकार वास्तुशास्त्रवत् "पृष्ठविदिक् शुभा भवेत्" की परम्परा या विचार सरणि स्वरशास्त्र के अष्टविध राहु[1] में सम्मुख व वामस्थ राहु पराजय के लिये तथा दक्षिणपृष्ठस्थ विजय के लिये स्वीकार किया गया है।

राहु मुख विचार समग्र अधोमुखी क्रियाएं जिनका सम्बन्ध वास्तुशास्त्र से है यथा वापी, कूप आदि हेतु खात देवतागार खनन, निधि खनन, खनी बिलप्रवेश आदि में आवश्यक है तथापि मुहूर्तशास्त्र का वचन है– **"मूलाहिमिश्रमधोमुखं भवेत्"** मूल, अहि (आश्लेषा), मिश्र (कृतिका, विशाखा), उग्र (पूर्वात्रय, मघा, भरणी) ये नक्षत्र अधोमुख संज्ञक हैं। गरुडपुराण का भी वचन है –

**भरणी कृतिका श्लेषा मघा मूल विशाखकाः ।**
**तिस्रः पूर्वास्तथा चैव अधोवक्त्राः प्रकीर्तिताः ॥**
**एषु वापी कूप तडागादि खननं च तृणादिकम् ।**
**देवतागारखननं निधानखननं तथा ।**
**गणितं ज्योतिषा रम्भं खनी बिलप्रवेशनम् ।**
**कुर्याऽधोगतान्मेव कार्याणि वृषभध्वजः ॥**

वास्तुपुरुष स्वयम् अधोमुख हैं तथा खात क्रिया, स्तम्भ स्थापन, भित्ति आदि का मर्मस्थलों से सम्बन्ध का विज्ञान भी महत्वपूर्ण है। देवालय के लिये मीनार्क से किया जाने वाला यह राहुमुख विचार तमस्तत्व के अन्धकासुर पर सूर्य तेज द्वारा **"धिक्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलाबलम्"** आदि विश्वामित्र वशिष्ठ आदि के उपाख्यान से सिद्ध ब्रह्मतेज द्वारा ही ब्रह्मपुत्र वास्तु पुरुष के दार्शनिक स्वरूप को एक दिव्यदृष्टि द्वारा सिद्ध करता है।

❖ ❖ ❖

1. सम्मुखी वामसंस्था वा यस्येयं राहुमण्डली, पराजयो भवेत्तस्य वादे द्यूते रणादिषु ।
यस्य दक्षिणपृष्ठस्था ह्येषा राहुपरम्परा, सहस्त्रं च शतेनापि परसैन्यं निकृन्तति ॥ (तत्रैव, अष्टविधराहु फल श्लोक 174-175)

# वास्तु और पर्यावरण

**– प्रो. अमित कुमार शुक्ल**

आज के इस भौतिकतावादी युग में सुख की लालसा में प्रत्येक मनुष्य परेशान है। मानव जीवन में अनेक प्रकार के संघर्षो के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति शान्ति की तलाश में लगा हुआ है । वास्तुशास्त्र ज्योतिषशास्त्र की वह शाखा है जो मानव की सुख प्राप्ति की कामना को मार्ग प्रदान करती है। देवों का आशीर्वाद तथा ऋषि मुनियों के दीर्घकालिक अनुसन्धान से प्राप्त इस विद्या का उद्देश्य मानव कल्याण रहा है-

**"वास्तुशास्त्र प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया "**[1]

विश्वकर्मा प्रकाश ग्रन्थ के अनुसार भगवान शंकर ने सर्वप्रथम इसका ज्ञान प्रदान किया था। उसके पश्चात् गर्ग, पराशर, बृहद्रथ आदि ने इसको प्रसारित किया ।[2]

मत्स्यपुराण में भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, यम, नारद, मय, शौनक गर्ग बृहस्पति, वासुदेव आदि अट्ठारह (१८) आचार्यों को वास्तुशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में वास्तु शब्द का अर्थ है निवास करने योग्य भूमि । 'वसति वासे' नामक धातु से उत्पन्न वास्तु शब्द का अर्थ है "जिसमें मनुष्य रहते है ।" सामान्यरूप से वास्तु निर्माण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वास्तुशास्त्र है । यथा-

**देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि ।**
**निवास भूमिशिल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञमितीर्यते ।**[3]

पर्यावरण शब्द 'परि' उपसर्ग तथा 'आवरण' शब्द से मिलकर बना है जिसका अर्थ ऐसी वस्तुओं का समुच्चय से है, जो किसी व्यक्ति या जीवधारी को चारों ओर से आवृत्त किया हो। पर्यावरण उन सभी भौतिक रासायनिक और जैविक कारकों की समष्टिगत इकाई है, जो किसी जीवधारी या परितन्त्रीय जनसंख्या को प्रभावित करते हैं । हमारे जीवन के सभी क्रिया कलाप इसी पर्यावरण के अन्तर्गत होते हैं । "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" इस सिद्धान्त के अनुसार पंचमहाभूतों से निमित प्रकृति में साहचर्य सम्बन्ध है। इस सम्पूर्ण चराचर जगत में जीवन का आधार ऊर्जा है । सम्पूर्ण जड़ चेतन पर तीन प्रकार की ऊर्जायें अपना सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रभाव डालती है । ये तीन प्रकार की ऊर्जायें निम्नप्रकार से हैं-

1. ब्रह्माण्डीय ऊर्जा 2. वायुमण्डलीय ऊर्जा 3. भूगर्भीय ऊर्जा

ये सभी ऊर्जायें अदृश्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अधीन अनवरत अपना अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव

---

1. विश्वकर्मप्रकाश 1/5
2. विश्वकर्मप्रकाश 1/ 3
3. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् 7/1

प्रत्येक जीव जन्तु पर डालती रहती हैं। वास्तुशास्त्र में इन ऊर्जाओं का मानव की ऊर्जा के स्तर से तालमेल बैठाने का उपक्रम है। पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) में से पृथ्वी अर्थात् भूमि, जल, और वायु का वास्तुशास्त्र में विशेष विचार किया गया है। वास्तुशास्त्र में इन पंचतत्त्वों के क्षेत्र निर्धारित है। इन दिशा क्षेत्रों के माध्यम से यह निर्धारित किया गया है कि किस तत्त्व को भवन में कितना स्थान दिया जाये जिससे मानव का कल्याण हो। इन तत्त्वों का पर्यावरण में संतुलित स्तर पर पाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। चूंकि पर्यावरण का सीधा सम्बन्ध मानव तन्त्र से है अतः इन तत्त्वों का पर्यावरण में अत्यन्त कम या ज्यादा होना प्रत्यक्षतः मानव तन्त्र को प्रभावित करता है।'

वास्तुशास्त्र में सर्वप्रथम पृथ्वी तत्त्व के रूप में भूमि का विशेष रूप से विचार किया गया है। आवास निर्माण के क्रम में भूमि परीक्षण की अनेक विधियां वास्तुशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित है। रंग, स्वादादि और आकृति के आधार पर भूमि का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। वास्तु की संरचना करते समय भूमि की आकृतियों का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि इन आकृतियों के अनुसार ही उस भवन में निवास करने वालों का हिताहित होता है। ये आकृतियां प्रमुख रूप से सोलह (16) प्रकार की है। (1) समायत, (2) समचतुरस्र, (3) वृत्त, (4) भद्रासन, (5) चक्र, (6) विषम भुज, (7) त्रिकोण, (8) शकट, (9) दंड, (10) पणव, (11) मुरज, (12) बृहन्मुख, (13) व्यजन, (14) कूर्मपृष्ठ, (15) धनुष और (16) सूर्प । इन आकृतियों में आयत, चतुरस्र, भद्रासन एवं वृत्त में निर्मित वास्तु के अन्तर्गत निवास करने वालों को समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है। व्यक्ति धनी, यशस्वी एवं अनेक विद्याओं में सम्पन्न रहकर स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है। इन आकृतियों को गृहस्थों के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर माना गया है।[1]

इसी प्रकार पर्यावरण की दृष्टि से भी भूमि की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है। भूमि में विकार उत्पन्न होने पर अन्न, जल, तथा मानव में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होने लगती है। केमिकल, प्लास्टिक, तथा अन्य रासायनिक पदार्थों के अंधाधुंध प्रयोग से भूमि तत्त्व दूषित हो रहा है जो अनेकों प्रकार की समस्यायें उत्पन्न कर रहा है।

पंचतत्वों में द्वितीय तत्त्व जल का वास्तुशास्त्र में अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है । जल की शुद्धता और पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी का दो तिहाई भाग जल होते हुए भी सम्पूर्ण विश्व में पेयजल की समस्या स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। वास्तु की दृष्टि से जल किस दिशा में होना चाहिए? इसका गंभीर विवेचन ग्रन्थों में किया गया है। जल भण्डारण का स्थान मानव जीवन पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव डालता है। यदि अग्नि, सूर्य, यम इत्यादि देवताओं के भाग में या ब्रह्म स्थान पर जल का स्त्रोत हो या जल इक्ट्ठा किया गया हो तो इससे उस आवास में रहने वाले सदस्यों में अनेक दुष्प्रभाव दिखाई पड़ते है । यथा मुहूर्तचिंतामणि ग्रन्थ में कहा गया है-

**कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्य्यबुद्धिः ।**
**सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम् ।।**[2]

1. वास्तुसौख्यम् - अध्याय 7, श्लोक - 222
2. मुहूर्तचिन्तामणि वास्तुप्रकरण श्लोक 20

पर्यावरण की दृष्टि से वर्तमान में भूमि के ऊपर तथा भूगर्भ में स्थित जल दिनों दिन प्रदूषित होता जा रहा है। कल-कारखानों से निकलने वाला प्रदूषित जल नदियों को तथा खेती में प्रयोग किये जा रहे रसायनिक कीटनाशक भूगर्भीय जल को प्रदूषित कर रहे हैं। जलतत्त्व प्रदूषित होने से मानव पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। वास्तु के सम्बन्ध में जल को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो जलस्रोत का निर्माण जिस भी स्थान पर किया जाता है वहाँ आर्द्रता के स्तर में वृद्धि होती है जिससे वायु का घनत्व बढ जाता है एवं हवा ठंडी और आर्द्र होती है। ये हवा दिशा के अनुसार मनुष्य के शरीर एवं मस्तिष्क को प्रभावित करती है। यदि जलस्रोत अग्निकोण में हो तो पुत्रों को, दक्षिण में हो तो महिलाओं को और नैर्ऋत्य में हो तो स्वास्थ्यहानि एवं मानसिक शांति को भंग करता है। वायव्य कोण में जलस्रोत घर में शत्रुता को आमन्त्रण देता है। यदि जल स्रोत उत्तर दिशा में हो सुख और सम्पत्तिवर्धक होता है। भवन में जल का प्रवाह हमेशा दक्षिण से उत्तर की ओर अथवा पश्चिम से पूर्व की ओर होना चाहिए ।

वास्तुशास्त्र की दृष्टि में अग्नितत्त्व का भी अत्यन्त महत्त्व है। अग्नितत्त्व से उत्पन्न होने वाली ऊर्जाएं इस पृथ्वी पर मनुष्य के लिये बहुत ही प्रभावकारी है । गृहवास्तु में रसोईघर का सीधा सम्बन्ध अग्नितत्त्व से होता है। वास्तु में दक्षिणपूर्वी कोण को अग्नि का स्थान या अग्निकोण कहते है । अग्नितत्त्व का स्थान देते समय वायुतत्त्व का भी विशेष ध्यान रखा गया है क्योंकि वायु के प्रवाह पर ही अग्नितत्त्व निर्भर करता है । वास्तु में रसोईघर यदि दक्षिणपूर्वी दिशा में है तो हवा का प्रवाह दक्षिण व पूर्व दोनों ही दीवारों पर होना चाहिए। वहीं यदि रसोई उत्तरपश्चिम दिशा में है तो यह उत्तर और पश्चिम की दीवार पर होना चाहिए । इसका कारण यह है कि दक्षिणपश्चिम से चलने वाली हवाएं पूर्व से प्रवेश कर दक्षिण से निकल जाए अथवा उत्तरपूर्व से चलने वाली हवाएं उत्तर से प्रवेश कर पश्चिम में निकल जाए । इस प्रकार अग्नितत्त्व का सही तरीके से समायोजन वातावरण में अग्नि की ऊर्जा को व्यवस्थित रखता है । यदि यह समायोजन व्यवस्थित न हो तो गर्मी से उत्पन्न होने वाली अनेक बीमारियां उस गृह में रहने वाले व्यक्तियों को होने की संभावना रहती है।

वास्तुशास्त्र में भूमितत्त्व के बाद सर्वाधिक विचार वायुतत्त्व का किया गया है। वायु मानव जीवन के लिये आधार है। वास्तुशास्त्र में वास्तु के आस-पास के वातावरण को शुद्ध रखने के लिये वृक्षों का विशेष रूप से विचार किया गया है। गृहनिर्माण के क्रम में दिक्साधन हेतु शङ्कुनिर्माण के लिये किन वृक्षों की लकड़ी ग्राहय है? उसका विचार करते हुए "मयमतम्" में कहा गया है-

**दन्तं वै चन्दनं चैव खदिरः कदरः शमीः ।**
**शाकश्च तिन्दुकश्चैव शङ्कुवृक्षा उदीरिताः ।।**[1]

अर्थात् दन्त (मौलसिरी), चन्दन, खैर, कदर, शमी, शाक (सागौन ) तथा तेन्दू के वृक्ष शंकुवृक्ष कहलाते है वास्तुशास्त्र में वृक्षों का विचार मुख्यतः दो कार्यों हेतु किया गया है। प्रथमतः गृहनिर्माण में प्रयोग हेतु विचार करते हुए "मयमतम्" में कहा गया है-

**पुरुषः खदिरः शालो मधूकः चम्पकस्तथा ।**
**शिंशपार्जुनाजकर्णी क्षीरिणी पद्मचन्दनौ ।**
**पिशितो धन्वनः पिण्डी सिंहो राजादनः शमी ।**

1. मयमतम् दिक्परिच्छेद, श्लोक संख्या- ६

**तिलकश्च द्रुमाश्चैते स्तम्भवृक्षाः समीरिताः ।।**
**निम्बासनशिरीषाश्च एकः कालश्च कट्फलः ।**
**तिमिसो लिकुचश्चैव पनसः सप्तपर्णकः ।।**
**भौमा चैव गवाक्षी चैत्यादयश्चोर्ध्वभूरुहाः ।**[1]

इसी प्रकार विश्वकर्माप्रकाश में वर्णों के अनुसार ग्राह्य वृक्षों का वर्णन किया जाता है । यथा-

**सुरदारुचन्दनशमी मधूकास्तरवस्तथा ।**
**ब्राह्मणानां शुभा वृक्षाः सर्वकर्मसु शोभनाः ।।**
**क्षत्रियाणां खदिरविल्वार्जुनशिंशिपा ।**
**शालतूनीकसरला नृपवेश्मनि सिद्धिदाः ।।**
**वैश्यानां खादिरं सिन्धुस्यन्दनाश्च शुभावहाः ।**
**तिन्दुकार्जुनसर्जाश्च वैसराम्राश्च कण्टकाः ।**
**ये चान्द्रे क्षरिवृक्षाच्य ते शूद्राणां शुभावहाः ।**[2]

अर्थात् देवदारू, चन्दन, शमी, महुआ के वृक्ष ब्राह्मणों हेतु, खैर, बेल, अर्जुन, शिरस, शाल क्षत्रियों हेतु शाल, तूनी, सरल राजाओं के लिये, खैर, सिन्धु, स्यन्दन वैश्यों के लिये तथा तिन्दुक, अर्जुन, शाशा, आम, काटों वाले वृक्ष तथा दूध युक्त वृक्ष शूद्रों हेतु शुभ होते हैं ।

इसी क्रम में वास्तुराजवल्लभ नामक ग्रन्थ में भी ग्राह्यवृक्षों का विचार करते हुए कहा गया है कि खैर, अर्जुन, कटहल, श्रीपर्णी, चन्दन, देवदारू, सागौन, पद्मक्षक, तिन्दुकी के वृक्ष गृहनिर्माण में शुभद होते हैं। यथा-

**शाकः शालमधूकसर्जखदिरा रक्तासनाः शोभना ।**
**एकोऽसौ सरलोऽर्जुनस्य पनसः श्रीपर्णी शिंशिपाः ।।**
**हारिद्रस्त्वपि चन्दनः सुरतरु पद्माक्षकस्तिन्दुकी ।**
**नैतेऽन्येन युता भवन्ति फलदाः शाकादयः शोभनाः ।।**[3]

इसी प्रकार प्रायः सभी वास्तुग्रन्थों में त्याज्य वृक्षों का भी वर्णन उपलब्ध होता है । "वास्तुमण्डन" नामक ग्रन्थ में त्याज्य वृक्षों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसे वृक्ष जो चैत्य, प्रासाद, श्मशान के निकट हो या जिन पर प्रेतों का वास हो, जिनमें गांठ, ब्रण या कोटर हो, जिन वृक्षों पर लतायें हों, स्वयं सुख गये हों, पक्षियों के घोसलें हो वे त्याज्य होते हैं। इसी प्रकार जिन वृक्षों में देवताओं का वास हो, नदियों के संगम के किनारे के वृक्ष अथवा आँधी-तूफान बिजली, अग्नि आदि से हत वृक्ष भी त्याज्य है ।[4]

---

1. मयमतम् पादप्रमाणद्रव्यपरिग्रहणविधानम्, श्लोक संख्या - ६४, ६५, ६६
2. विश्वकर्मप्रकाश नवमाध्यायः श्लोक संख्या - १-४
3. वास्तुराजवल्लभ अध्याय ५ श्लोक संख्या - १७
4. वास्तुमण्डनम् अध्याय ४ श्लोक संख्या १०६ - १०८

इसी प्रकार मयमतम्[1] में भी देवालय, प्रेतस्थल, प्रधानमार्ग के समीप के वृक्ष, जले हुए, आपस में लिपटे हुए तथा पक्षियों के घोसलों से युक्त वृक्षों को त्याज्य कहा गया है । विश्वकर्मप्रकाश में त्याज्य वृक्षों से होने वाले कष्टों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

**श्मशानेनाग्निना चैव दूषितेऽप्यथवा भुवा ।**
**वज्रेण गर्हितं चैव वातभग्नं तथैव च ॥**
**मार्गवृक्षं पुराछत्रं चैत्यं कल्पञ्च दैवकम् ।**
**अर्धभग्नार्धदग्धाश्च अर्धशुष्कास्तथैव च ॥**
**व्यङ्गा कुब्जाश्च काणाश्च अतिजीणस्तथैव च ।**
**त्रिशीर्षा बहुशीर्षाश्च अन्यवृक्षेण भेदिताः ॥**
**स्त्रीनाम्नाश्च ये तरवस्ते वर्ज्या गृहकर्मणि ॥**[2]

वर्जित वृक्षों का प्रयोग करने पर होने वाले कष्टों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि दूध वाले वृक्ष दूध का, फल वाले वृक्ष सन्तान नाश करते हैं। कौवे से युक्त वृक्ष धन, गृद्ध युक्त वृक्ष महारोग और श्मशान के वृक्ष मृत्यु का कारण होते हैं । इसी प्रकार बिजली से हत, आँधी में गिरे हुए वृक्ष, कुल्यवृक्ष (नदी के किनारे स्थित), देवस्थान के वृक्ष क्रमशः वज्रभय, वायुभय, कुलनाश, भय, मृत्यु तथा धननाश के कारण होते हैं।[3] इनके अतिरिक्त विश्वकर्माप्रकाश, मयमतम्, बृहत्संहिता, बृहद्वास्तुमाला आदि ग्रन्थों में भी त्या0ज्य वृक्षों का फलसहित विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

वास्तुशास्त्र में गृहनिर्माण में प्रयोग के अतिरिक्त वास्तु के चारों दिशाओं में उगे हुए वृक्षों का वास्तु का जो प्रभाव होता है उनका भी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। यथा-

**आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदा क्षीरिणोऽर्थनाशाय ।**
**फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम् ॥**[4]

अर्थात् गृह के समीप स्थित काँटे वाले वृक्ष शत्रुभय, दुग्धयुक्त वृक्ष धननाश, फल वाले वृक्ष सन्तानक्षय का कारण होते हैं । इसी प्रकार का वचन "वास्तुमण्डनम्" नामक ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है।[5] वास्तुराजवल्लभ में भी कहा है-

**वृक्षाः क्षीरसकण्टकाश्च फलिनस्त्याज्या गृहाद् दूरतः ।।**[6]

इसी प्रकार का मत मत्स्यपुराण में भी प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि यदि गृह के निकट काँटे वाले या दूध वाले या फलदार वृक्ष हो तो वे क्रमशः पत्नी तथा सन्तान की हानि करते हैं । यदि उन पेड़ों को काटना संभव

1. मयमतम् 15 अध्याय, श्लोक संख्या ७१ से ७७ तक
2. विश्वकर्मप्रकाश नवमोऽध्यायः श्लोक संख्या - ११, १२, १३, १४
3. विश्वकर्माप्रकाश नवमोऽध्यायः श्लोक संख्या - १५-१७
4. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याऽध्यायः श्लोक संख्या - ८४
5. वास्तुमण्डनम् प्रथम अध्याय श्लोक संख्या ७४
6. वास्तुराजवल्लभ प्रथम अध्याय श्लोक संख्या - २८

न हो तो उनके बीच में अन्य पेड़ लगा देने से उनका दुष्प्रभाव कम हो जाता है। यथा—

**"कण्टकी क्षीर- वृक्षश्च आसनः सफले द्रुमः ।**
**भार्याहानौ प्रजाहानौ भवेतां क्रमशस्तदा ।**
**न छिन्द्याद् यदि तानन्यान्तरे स्थापयेच्छुभान् ।।**[1]

इसी प्रकार किस दिशा में कौन से वृक्ष शुभ होते हैं उनका वर्णन करते हुए बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने कहा है-

**याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते ।**
**उद्गादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्था ।।**[2]

अर्थात् दक्षिण में प्लक्ष, पश्चिम में वट, उत्तर में गूलर तथा पूर्व में पीपल अशुभ होते हैं किन्तु उत्तर में पलाश, पूर्व में वट, दक्षिण में गूलर तथा पश्चिम में पीपल शुभ होते हैं। यही मत मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा मयमतम् में भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार मयमतम् में सुखकारी वृक्षों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि खर्जूर, अनार, रम्भा, केतकी के वृक्ष सुखदायक होते हैं। यथा—

**खर्जुरदाडिमीरम्भा केलिवदरीबीजपूरिकाः।**
**केतकी चेक्ष्वारूढा स्वयं गेहेन सौख्यदाः ।।**[3]

मत्स्यपुराण का भी वचन है-

**पुन्नागाशोकबकुलशमीमिवचम्पकान् ।**
**दाडिमीपिप्पलीद्राक्षास्तथा कुसुममण्डपान् ।।**
**जम्बीरपूगपनसद्रुमकेतकीभिर्जातिसरोजशतं पत्रिकामल्लिकाभिः।**
**नारिकेलकदलीदललताभिर्युक्तं तदत्र भवनं श्रियमातननोति ।।**[4]

स्पष्ट है कि वास्तु तथा पर्यावरण पर वृक्षों का अत्यधिक प्रभाव होता है। अतः मानव को जीवन में सुख-शान्ति तथा समृद्धि के लिये वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तानुसार गृह वृक्षों का प्रयोग करके पर्यावरण को बचाने का प्रयास करना चाहिये ।

इसी क्रम में ध्वनि का भी वास्तु तथा पर्यावरण में विशेष महत्व है। विभिन्न प्रकार की ध्वनियों मानव मस्तिष्क और पर्यावरण को प्रभावित करती है । ऊर्जा की सूक्ष्म तरंगो के रूप में ध्वनि मन-मस्तिष्क की तरंगों को प्रभावित करती है । व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य उन तरंगों के कारण प्रभावित होता है एवं फिर वही स्थूल रूप में विभिन्न उपद्रवों के रूप में भी प्रकट होता है। ध्वनि अपने आप में एक बहुत ही महत्वपूर्ण शक्ति है। यह एक ओर नादब्रहम, शब्दब्रह्म, संगीत का रूप लेकर मनुष्य की प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। वहीं दूसरी ओर प्रकृति

1. मत्स्यपुराण २२५ श्लोक संख्या २१-२२
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याऽध्यायः श्लोक संख्या - ८५
3. मयमतम् प्रथम अध्याय श्लोक संख्या- ७६
4. मत्स्यपुराण २५५ श्लोक संख्या २३-२४

के विरूद्ध होने पर मनुष्य को पागल भी बना देती है। ध्वनि का प्रभाव समवेत स्वर में उच्चारित मंत्र के माध्यम से विभिन्न रोगों के उपचार में देखा जा सकता है। संगीत का समष्टि पर प्रभाव आदिकाल से माना गया है। हम जानते हैं कि ध्वनि ऊर्जा है एवं मनुष्य का भौतिक शरीर चुम्बकीय एवं आकाशीय ऊर्जाओं से घिरा है। अतः ऊर्जा तरंगों का संगीत की तरंगों द्वारा संतुलन संभव है। हमारे शास्त्रीय संगीत में ऋषियों ने गहन अध्ययन कर विभिन्न स्वरों के समुच्चय की व्यवस्था की, जिन्हें राग के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार सात मुख्य, पाँच विराग कुल 12 स्वर स्थानों को आधार बनाया गया है। शरीर में ऊर्जा वाहिनी वाली 12 मुख्य नाड़ियाँ हैं । इसी प्रकार से स्वर 22 श्रुतियों पर आधारित है। जो योगशास्त्र में वर्णित 22 ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से मेल खाते हैं। यह तो हम सभी अनुभव करते हैं कि कहीं कोई दुर्घटना होती है तो वहाँ का वातावरण कई घण्टों तक बोझिल रहता है एवं इसके विपरीत पूजा स्थल, अच्छे संगीत कार्यक्रम के बाद घण्टों तक वातावरण खुशनुमा रहता है। पूजास्थल हमेशा शान्ति प्रदान करते हैं जबकि श्मशान घाट में मुर्दे के बिना भी उजाड़ वातावरण बना रहता है । इसी आधार पर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करने वाले ऊर्जा असंतुलन को उन्हीं रोगों पर कार्यशील रागों का प्रयोग कर प्रभावी संतुलन प्राप्त किया गया है।

इसी प्रकार रंगों के माध्यम से भी वास्तु में पर्यावरण शोधित किया जाता है । प्रकृति के रंगों का रहस्य बड़ा गहरा और दुरूह है । आकाश नीला दिखता है, तो हम मान बैठते हैं। परंतु यदि सचमुच आकाश का रंग नीला है तो फिर वह रात को भी नीला ही दिखना चाहिये । वस्तुतः यह नीला रंग आकाश का नहीं है । जैसा कि आप जानते हैं, सूर्य बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी, और लाल इन सब रंगो की लहरे प्रसारित करता है। इन सात रंगो का मिश्रण ही सफेद रंग है। सूर्य की सफेदी वास्तव में सात रंगो की लहरों का समिश्रित रूप है। उन सातों लहरों में से लालिमा वाली लहरें जो बड़ी लंबी हैं, वातावरण को पार कर दूर ऊपर चली जाती है, नीले रंग की लहरें जो अपेक्षाकृत छोटी होती है हवा के परमाणुओं से टकरा कर हमारी और चली आती है इसलिए हमें आकाश नीला नीला दिखता है। जब सूर्य ठीक सिर पर होता है, तब हमें आकाश में रंगो का वह मेला देखने को नहीं मिलता जो सुबह या शाम को देखनें को मिलता है। क्योंकि जब मध्याह्न में सूर्य किरणें ऊपर से आती है, तो वे वातावरण में तैरते रहने वाले विविध पदार्थों की कम से कम स्थूल तह को पार करती है। परंतु जब सूरज उगता है या डूबता होता है, तब उसकी किरण वातावरण से दिगन्त तक समरूप से प्रवेश करती है, जिससे उन्हें धूलिकणों को बड़ा गहरा परदा पार करना पड़ता है। उस अवस्था में नीलें रंग की लहरें तो धूलिकणों अथवा बादलों से टकरा कर बिखर जाती है, परंतु लाल रंग की लम्बी लहरें उन्हें पार कर हमारी आँखों तक पहुँच जाती है। यही कारण है कि सूर्य के उदय और अस्त के समय आसमान पर नयानाभिराम लालिमा का साम्राज्य छा जाता है। आकाश धूल या जल के कणों से जितना ही अधिक पूरित होगा उतनी ही गहरी लालिमा प्रातः काल एवं संध्या में होगी ।

प्रकृति भवन के सब विभवों से सुन्दर **सरस सबेरा** कवि ने कहा है और उसकी बात भी सत्य है । प्रातःकाल और सन्ध्या का रंग प्रकाश और अंधकार का सम्मोहक है। वस्तुतः इस हेतु प्रातःकाल और सन्ध्या का नहीं अपितु आकाश-व्यापी धूलिकणों का आभारी होना चाहिए । यदि पृथ्वी के चारों ओर का वातावरण पूर्णतया विशुद्ध होता है, अर्थात् उसमें धूल व अन्य पदार्थों के कणों का सर्वथा अभाव होता है तो न उषा सूर्य का स्वागत करती, न सन्ध्या उसे विदा देती । तब अचानक ही दिन का प्रकाश धरती पर फैल जाता और अचानक ही उसका लोप भी हो जाता। रंग की लहरों के विक्षेप-विलास का सबसे रोचक रूप है इन्द्रधनुष । वायुमण्डल में स्थित जलकिरण, सातों रंगों

की लहरों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं । कभी कभी कुछ विशेष स्थानों पर जलकणों का कुछ इस प्रकार का जमाव हो जाता है कि, उसके अलग-अलग भाग अलग-अलग रंगों की लहरों को अलग- अलग ग्रहण करते है और मिल कर सतरंगे दिखनें लगते हैं । फव्वारे की धारा की तरह ये जलकण निरंतर बदलते रहते हैं, परंतु जो भी कण उस स्थान-विशेष से होकर गुजरते हैं वे यह रंगीन परिधान पहनते हैं और अपनी छवि हमें दिखाते हैं । वातावरण में पृथ्वी के धूलिकण तो उपस्थित हैं ही, स्वंय सूर्य भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण धरती पर भेजता रहता है। ये कण भी कभी-कभी बड़ा अद्भुत दृश्य उत्पन्न करते हैं और यह दृश्य दृष्टिगोचर होता है ध्रुव–प्रदेश पर प्रकाश-धारा के रूप में । इस प्रकाश-धारा के सौन्दर्य की समता अत्यन्त शोभाशाली सूर्यास्त से ही हो सकती है । उत्तरी ध्रुववृत में उत्तरी प्रकाश धारा और दक्षिणी ध्रुववृत में दक्षिणी प्रकाश धारा प्रकट होती है। उत्तरी प्रकाश धारा, पर्वत–शृङ्खला पर धधकती आग के समान प्रकट होती है और बढ़ती-बढ़ती कभी विशाल कमान का आकार धारण कर लेती है, तो कभी परदे के समान लटकती दिखती है । यह रंगीन कमान बहुधा अत्यन्त चञ्चल होती है, उसका श्वेतपीत वर्ण लाल व हरे रंग से रञ्जित हो जाता है। उसमें से किरणें ऊपर उछलती हैं, विलीन होती हैं, पुनः अग्रसर होती है । सारा उत्तरी आकाश मनमोहक रीति से फहराती रंग-बिरंगी ध्वजाओं एवं फीतों से परिपूर्ण हो जाता है । प्राचीन ऋषियों ने **सूर्य को सर्वलोकस्य चक्षु** अर्थात् सारे संसार की आँख कहा है। वही सूर्य इन रंगों का जनक भी है। अपनी रंग की लहरों से धूल के कण, पुष्प की पंखुड़ी, पक्षियों के परों को चुम्बित कर वह जिस रूप राशि का सृजन करता है वह तो वर्णनातीत ही है। इस प्रकार हम देखते है कि वास्तु और पर्यावरण में गहरा संबंध है। प्रकृति पृथ्वी का पर्यावरण है। जीवन की उत्पत्ति का कारण है। ब्रह्माण्डीय विद्युत चुम्बकीय एवं पृथ्वीय ऊर्जा जीवन में अस्तित्व के लिये सहयोग करती है। मनुष्य प्रकृति, भवन तथा भूमि के मध्य तारतम्य स्थापित कर जीवन को खुशहाल बनाने के लिय बाहरी व आन्तरिक ऊर्जाओं में समन्वय अत्यावश्यक है, यही वास्तु परिदृश्य में आता है। वास्तु भवन बनाने का विज्ञान तथा मानव निर्मित पर्यावरण एवं पंचतत्त्वों - पृथ्वी, वायु, प्रकाश (सूर्य तथा अग्नि), जल एवं आकाश द्वारा उत्सर्जित ऊर्जाओं के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की कला है, ताकि मनुष्य को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तु और पर्यावरण के मध्य अभेद सम्बन्ध है । मानव को वास्तु के समस्त लाभों को प्राप्त करने के लिये पर्यावरण का विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

❖ ❖ ❖

# अन्तरिक्ष नाड़ी का अंशानुक्रम विभाग

**– विद्यावाचस्पतिः प्रो. सुन्दरनारायणझाः**

यह सर्वविदित है कि विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत वेद हैं। वेदमन्त्र में निहित गुप्त रहस्यों को प्रकट करने के लिए ऋषि-महर्षियों का अवतरण होता रहा है। न केवल महर्षियों का अपितु आवश्यकतानुसार देवगणों का आविर्भाव भी इस भारत भूमि पर होता रहा है। यथा-

**गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।**
**स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात् ॥**[1]
**इत्थं यदा-यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।**
**तदा-तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥**[2]
**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।**
**परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां**
**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥**[3]

एवंविध अनेकों उदाहरण हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि देवगण यहाँ विशेषकर भारत की धरती पर अवतरित होते रहे हैं तथा तदर्थ अभिलषित रहते हैं।

आज जब सम्पूर्ण विश्व भौतिकता की चकाचौंध में अपना स्वत्व खोकर स्वार्थवादी तथा विनाशकारी विचारधाराओं से ओत-प्रोत, वेदार्थप्रतिपादन या तज्जन्य ज्ञान का अवगाहन किम्वा उसे स्वीकार करने में असमर्थ होकर दिशाविहीन हो चुका है, उसके लिए वेदकालीन समाज, वैदिक आचार-विचार, वेदनिर्दिष्ट दिनचर्या तथा वेदोक्त शासनपद्धति की परम आवश्यकता प्रतीत होती है। **वसुधैव कुटुम्बकम्** जैसे महान् विचारों के अनुरूप समस्त प्रजा का जीवन हो, तप-जप-त्यागपूर्वक **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**[4] इस वैदिक धारणा के अनुसार समस्त प्रजा संघटित तथा **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**[5] इस सांमनस्य सूक्त के मन्त्रनुसार समाज के प्रत्येक वर्ग साथ-साथ चलते हुए अपने-अपने नियत तथा अधिकृत कर्म को करते हुए यदि चलते रहें तो जो दुरवस्थाएँ आज विकराल

---

1. विष्णुपुराण-2/3/24
2. मार्कण्डेयपुराण, सावर्णिक मन्वन्तर,देवी माहात्म्य, दुर्गा (सप्तशती-11/54-55)
3. श्रीमद्भगवद्गीता-4/7-8
4. शु.य.सं.- 32/8
5. ऋग्वेद- 10/181/2

भाल कलिकाल रूपी हमारे सामने मुँह बाये खड़ी हैं, निश्चित रूप से हमलोग उससे उबर सकते हैं। आवश्यकता है आज की युवा पीढ़ी को इस ओर लाने की जिससे हमारे समाज के दुर्गुणों को कम किया जा सके तथा वेदबोधित मार्ग का अनुसरण कर आध्यात्मिक उन्नति को संग्रहीत कर सद्गुणों को विकसित किया जा सके।

ध्यातव्य हो कि इस संसार से दुर्गणों का सर्वथा विनाश कदापि सम्भव नहीं तथापि उनकी वृद्धि को अवश्य रोका जा सकता है। एतदर्थ वैदिक मार्ग को समझना तथा उसका अनुपालन करना एक मात्र समुचित साधन है। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**[1] वेदोक्त मार्ग के अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग हमें उस महत्त्वपूर्ण स्थान पर नहीं पहुँचा सकता। हमारी शिक्षा-पद्धति इस प्रकार की हो जिसमें चारित्रिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आदि कौशलों के विकास से सम्बन्धित पाठों का सन्निवेश हो। मात्र धनार्जन को मूल मानकर बनाया गया पाठ्यक्रम भारतीय सभ्यता एवं संस्कारों को बल नहीं दे सकता। यह कार्य किसी एक व्यक्ति से भी सम्भव नहीं। जबतक हमारा समाज इस ओर सामूहिक रूप से अग्रसर नहीं होगा तब तक कोई भी महान् से महान् व्यक्ति इन बिगड़े हालातों में सुधार नहीं ला सकता। हमारे पुराने एवं नये ऋषिमुनिगण, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर इत्यादि अनेकों अवतारों के पात्र इस समाज को सुधारने के लिए ही अवतार ग्रहण किये थे। परन्तु यह समाज जहाँ पहले था उसी विश्राम स्थल पर आज भी खड़ा है। सब अवतारी पुरुष आये अपना-अपना मार्गदर्शन किये तत्काल कुछ प्रभाव भी हुआ पश्चात् हम वहीं के वहीं हैं। तात्पर्य है कि किसी एक में ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं कि वो युगधर्म को, मानवीय स्वभाव को किं वा मानव समाज को पूरा का पूरा सुधार सके। देवासुर संग्राम की कथा हमलोग जो सुनते पढ़ते आये हैं वह आज भी यथावत् चल रहा है। इसीलिए वेदों में वृष्टि की क्रिया को संग्राम के रूप में वर्णित किया गया है। यह देवासुर संग्राम नित्य निरन्तर इस विश्व में चलता आ रहा है। इन रहस्यात्मक बातों से हमें सीख लेकर एक ऐसा वैदिक मार्ग अपनाना चाहिये जिससे समस्त विश्व का कल्याण हो सके।

प्रस्तुत विषय जीवशरीरविज्ञान से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। हमारे पूर्वाचार्य चरक-सुश्रुतादि शरीरवैज्ञानिकों ने इस तथ्य पर पर्याप्त शोध किया है। वर्त्तमानकालिक शरीरविज्ञानियों के लिए वे सिद्धान्त पथ-प्रदर्शक हैं। यद्यपि आधुनिक चिकित्साशास्त्र जो पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों पर आधारित है प्राचीन पद्धतियों से पूर्णतः सहमत नहीं है। किन्तु यह तो परम सत्य है कि पाश्चात्य जो कोई भी शास्त्र या पद्धतियाँ हैं वे सब प्राचीन भारतीय पद्धतियों तथा शोधों के आधार पर ही बनी और टिकी हुई हैं। भले ही कोई पुत्र या पौत्र अपने पिता या पितामह की सत्ता को न माने किन्तु यह तो सर्वविदित ही है कि इस संसार में जो भी मानव उत्पन्न हुआ है उसका कोई न कोई पिता तथा पितामह तो है ही। इस परम्परागत विचार के अनुसार यह तो सत्य ही है कि जब इस संसार में ज्ञान का सूर्योदय हुआ तो सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। सब देवों के अवतार भी भारत में ही हुए। ऋषि-मुनियों के वेदात्मक ज्ञान का प्रसारण भी भारत में ही हुआ। इस प्रकार यह सिद्ध है कि आधुनिक समस्त गतिविधियों के मूल स्रोत प्राचीन भारतीय पद्धतियाँ ही हैं। उन प्राचीनाचार्यों के सिद्धान्त न केवल मार्गदर्शक हैं अपितु समस्त रहस्यात्मक तथ्यों के नियामक भी हैं। इस प्रकार इन रहस्यों के अन्वेषण आधुनिक विज्ञानविदों के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने किसी शरीर के लिए प्राण। जिस प्रकार शरीर प्राणरहित होकर गतिहीन तथा अनुपस्थित सा ही रहता हैं उसी प्रकार पूर्वाचार्यों

1. शु.य.सं. - 31/18

के सिद्धान्तों की स्वीकृति के बिना आधुनिकविज्ञान मृतशरीर की भाँति दृश्य होते हुए भी क्रियाशीलता से सर्वथा विञ्चित ही रहेगा।

अतः आवश्यक है कि उन प्राचीन सिद्धान्तों के स्वाध्याय की पारम्परिक व्यवस्था को विश्वस्तर पर पुनः प्रतिष्ठित किया जाय, जिससे हमारा हर सम्भव कल्याण हो सकेगा।

अन्तरिक्षनाड़ी का ज्ञान करने से पूर्व जीवशरीरस्थ नाड़ियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस बात को कठोपनिषदादि भी पुष्ट करते हैं। यथा- **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**[1] अर्थात् जो इस मर्त्य भुवन में है वह उस (स्वर्गादि) लोक में भी है जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार इहलौकिक जीवशरीर के नाड़ियों का ज्ञान प्राप्त हो जाने से अन्तरिक्ष की नाड़ियों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा किसी भी अज्ञात तत्त्व का ज्ञान करना सरल भी हो जाता है।

**शरीरस्थ नाड़ियों का विवेचन-**

श्रीशंकरसेन कविराजकृत नाड़ीप्रकाश नामक ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में-

**सार्द्धत्रिकोट्यो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम् ।**
**नाभिकन्दनिबद्धास्तास्तिर्यगूर्द्ध्वमधः स्थिताः ॥**
**द्विसप्ततिसहस्रन्तु तासां स्थूलाः प्रकीर्तिताः।**
**देहे धमन्यो धन्यास्ताः पञ्चेन्द्रियगुणावहाः ॥**[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ (नाडीप्रकाश) में जगज्जननी माता पार्वती तथा भूतभावन भगवान् शिव का संवाद है। माताजी द्वारा नाड़ी विषयक रहस्य की जिज्ञासा करने पर भगवान् शिव ने उन्हें उपर्युक्त वाक्य कहा है। उक्त श्लोक के अनुसार हमारे शरीर में स्थूल एवं सूक्ष्म सब मिलाकर कुल साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ विद्यमान हैं। वे सभी नाड़ियाँ हमारे शरीर के मध्य अर्थात् नाभि कन्द में निबद्ध होकर शरीर के ऊपर नीचे के समस्त भागों में व्याप्त हैं। उनमें से बहत्तर हजार (72000) नाड़ियाँ स्थूल कही गई हैं, शेष तीन करोड़ उनचास लाख अट्ठाइस हजार (3, 49, 28, 000) नाड़ियाँ सूक्ष्म एवं अतिसूक्ष्म रूप से व्याप्त हैं। उक्त समस्त नाड़ियों में तीन इडा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा प्रधान हैं। इनके स्थान के विषय में षट्चक्रभेद नामक ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक में कहा गया है कि-

**मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहराशिरे सव्यदक्षे निषण्णे ।**
**मध्ये नाड़ी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा ॥**[3]

अर्थात् मेरुदण्ड के बाह्यप्रदेश में वाम-दक्षिण भागों में चन्द्र एवं सूर्यात्मक दो नाड़ियाँ इडा और पिङ्गला नामक स्थित हैं। उन दोनों नाड़ियों के मध्य सूक्ष्मभाव से सुषुम्णा स्थित है। इस विषय में योगस्वरोदय में कहा गया है कि-

1. कठोपनिषद्-1/2/10
2. नाडीप्रकाश, प्रथम उद्योत
3. षट्चक्रभेद, श्लोक-2 (उल्लेख- वाचस्पत्यम्, पृष्ठ-5322)

**मेरुबाह्ये इडा नाड़ी पिङ्गलया समन्विता ।**
**सुषुम्णा भानुमार्गेण ब्रह्मद्वारावधिस्थिता ॥**[1]

उक्त विवरण एवं प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केशान्तस्थित ब्रह्मरन्ध्र द्वारा मेरुदण्ड के बीच में होकर जो सूर्य की रश्मि आती है उसे सुषुम्णा कहते हैं। वही ब्रह्मनाल भी कहलाता है। इस सुषुम्णा के दक्षिण भाग में इडा है, जो चन्द्रमा से सम्बन्धित है तथा मेरुदण्ड के वामभाग में पिङ्गला है जो सूर्य से सम्बन्धित है। इस विषय में योगार्णव में कहा गया है कि-

**इडा च श्रितचन्द्राभा तस्या वामे व्यवस्थिता।**
**पिङ्गला सिक्तरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमाश्रिता।।**[2]

तत्त्वान्तर में कहा गया है- **इडायां सश्रितश्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः।**

**तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्**[3] इस श्रुति वचन के अनुसार परमात्मा इस जीव शरीर का निर्माण करके इसमें स्वयं प्रवेश करते हैं। जब इस जीवशरीर में परमात्मा का आगमन होता है तब जीव का जन्म होता है। **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।**[4] इस भाग्वाद्वचन के अनुसार जीव शरीर में आत्मभाव से प्रविष्ट ब्रह्म इसमें से बाहर निकलता है। इस विषय में श्रीमान् ओझाजी कहते हैं कि-

**हृदयादुत्क्रममाणो ब्रह्मग्रन्थ्यनुगतो वा स्यात् ।**
**स ब्रह्मरन्ध्रमनु वा ततोऽधरा वा गतिर्वोध्वा ॥**[5]

अर्थात् जिस समय वह आत्मा इस हृदयस्थान से उत्क्रममाण (निकलने वाला) होता है- उस समय यदि वह ब्रह्मग्रन्थि में से होकर निकलता है तो उसको अधोमार्ग में जाना पड़ता है एवं यदि ब्रह्मरन्ध्र में से होकर जाता है तो उसकी यह गति ऊर्ध्वा गति कहलाती है। तात्पर्य यही है कि हृदय से नीचे की नाड़ियों से पितृपथ एवं गुदा द्वारा जाने से महा अधमाधम लोक एवमेव पिङ्गलादि नाड़ियों से जाने से देवपथ एवं सुषुम्णा में जाने से अमृतत्व (ब्रह्मपथ) की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-

**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।**
**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वघ्यन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥**[6]

अर्थात् हृदयप्रदेश से उत्क्रान्त यह आत्मा यदि माथे में होकर जाता है तो इस मूर्द्धा से जाता हुआ यह सीधा सूर्यलोक में जाता है। इसका कारण यही है कि यह जो आत्मा है- वह सूर्य से उत्पन्न हुआ है। **सूर्य आत्मा**

---

1. योगस्वरोदय- (उल्लेख- वाचस्पत्यम्, पृष्ठ-5323)
2. योगार्णव- (उल्लेख- शब्दकल्पद्रुम, पिघळला नाडी निरूपण भाग-3/137)
3. तैत्तिरीयोपनिषद्-2/6/1
4. श्रीमद्भगवद्गीता-2/27
5. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 22-शरीरादात्मोत्क्रमदिग्विभाग श्लोक-1
6. कठोपनिषद्- 2/3/16_ छान्दोग्योपनिषद्- 8/6/6

**जगतस्तस्थुषश्च।**[1] अतः सूर्य किरणों से सदा बद्ध रहता है। जब यह इस शरीर को छोड़ता है तो यह सूर्यज आत्मा सूर्यकिरणों की पकड़ से आकर्षित होकर उसी दिशा में चला जाता है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत हृदय से उत्क्रान्त यह आत्मा मूलाधार से जाता हुआ सूर्य से विरुद्ध इस पृथ्वी पर जाता है, क्योंकि यह जो सूर्यज आत्मा है वह पृथ्वी की जो इडा नाड़ी है उसमें बद्ध रहता है, अतः उसके आकर्षण से उसे विवशतापूर्ण पृथ्वी की ओर जाना पड़ता है। इसी गति के लिये **असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः**[2] यह श्रुति कहती है। ओझाजी कहते हैं –

**हृदयादात्मोत्क्रान्तो मूलाधारानुगस्त्विमां याति।**
**सूर्यज आत्मा त्विडया दिशि हि पृथिव्या धृतस्तत्र ।।4।।**[3]

इसी प्रकार हृदय से उत्क्रान्त यह आत्मा यदि वामभाग से शरीर छोड़ता है तो यह आत्मा उस सत्यमार्ग से पितृयाणमार्ग पर जाता है। अर्थात् वामाङ्गों से जिसके प्राण निकलते हैं वह पितृपथ में जाता है। जैसा कि ओझाजी कहते हैं-

**हृदयादात्मोत्क्रान्तो वामाङ्गेभ्यस्तनुं त्यजति।**
**आत्मा स तेन सत्येनाध्वानं याति पितृयाणम्।।5।।**[4]

एवमेव यदि हृदय से उत्क्रान्त यह आत्मा शरीर के दाहिने भागों से निकलती है तो यह निकली हुआ आत्मा उस सत्यमार्ग से देवयान में जाता है। जैसा कि ओझाजी लिखते हैं-

**हृदयादात्मोत्क्रान्तो दक्षिणगात्रेभ्य उत्क्रमते।**
**आत्मा स तेन सत्येनाध्वानं देवयानमियात्।।6।।**[5]

अर्थात् दक्षिणभाग से प्राण निकलने वाले का आत्मा देवयान में जाती है। यद्यपि यह विषय बहुत व्यापक है, इस सन्दर्भ में अनेकों प्रमाणवाक्यों को भी उपस्थापित किया जा सकता है। तथापि वेदों में यत्र-तत्र वर्णित विषयों का एकत्र विवेचन ओझाजी ने किया है। अत एव उनके वचनों को कहकर ही मैं अपने शोध को पर्याप्त मानता हुआ अधिक प्रलाप नहीं कर रहा हूँ।

उपर्युक्त प्रकार से शरीरस्थ नाड़ियों के अनुसार ही अन्तरिक्षनाड़ी का ज्ञान किया जा सकता है। चूँकि दर्शनादि शास्त्रें का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि- **यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे** अर्थात् जो यहाँ है वही वहाँ भी है। ज्योतिर्विद भी **खगोल के ज्ञान हेतु भूगोल का ज्ञान आवश्यक है** ऐसा मानते हैं। अर्थात् भूगोल में जो है वही खगोल में भी है। यह अन्तरिक्षनाड़ी विज्ञान वास्तविक रूप में खगोल से सम्बन्ध रखता है।

---

1. ऋग्वेद- 1/115/1
2. ईशोपनिषद्-3, शु.य.सं. - 40/3
3. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 22-शरीरादात्मोत्क्रमदिग्विभाग श्लोक-4
4. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 22-शरीरादात्मोत्क्रमदिग्विभाग श्लोक-5
5. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 22-शरीरादात्मोत्क्रमदिग्विभाग श्लोक-6

**अन्तरिक्षनाड़ी का विवेचन–**

अन्तरिक्षनाड़ी के विषय में पं. मधुसूदन ओझाजी ने संशयतदुच्छेदवाद ग्रन्थ में कहा है कि-

**यावत् खगोलं परितोऽवलोके तत् पञ्चधा भक्तमितः प्रतीमः।**
**पृथ्वी परिक्रामति सूर्यमेतं येनाध्वना मध्यमभाग एषः।।1।।**[1]

अर्थात् यह खगोल पाँच भागों में विभक्त है। इसकी मध्य रेखा विषुवत् है। विषुवत् के 24° उत्तर एवं 24° दक्षिण क्रान्तिवृत्त है जो पृथ्वी के परिभ्रमण का मार्ग है। अतः इसे भूमार्ग कहा जाता है। खगोलात्मक वृत्त 360° का है। उसके मध्य विषुवत् के उत्तर एवं दक्षिण (24° ×2=48°) जो भूभ्रमणमार्ग है वह 48 अंशात्मक मध्य भाग है। किन्तु विषुववृत्त 48 अंशात्मक होता हुआ भी वृत्तात्मक रूप में 360° का ही होगा। चूँकि किसी भी वृत्त का मान 360 अंश ही होता है।

**भूमार्गतो भूः कुटिला ध्रुवद्वयान्तर्वैषुवं मध्यममण्डलं भुवि।**
**ततश्च वृत्तत्रयमस्ति दक्षिणे तथोत्तरे सप्तसु दृश्यते रविः।।2।।**[2]

अर्थात् भूमार्ग के तिर्यक् (तिरछे) स्वरूप होने के कारण पृथ्वी तिरछी भ्रमण करती है। दोनों ध्रुवों के मध्य विषुव है। विषुव के उत्तर एवं दक्षिण तीन-तीन वृत्त हैं। इस प्रकार तीन उत्तर, तीन दक्षिण एवं एक मध्य कुल सातमण्डल बनते हैं। इन सातों मण्डलों में सूर्य दिखलाई देता है। इसी रहस्य को ऋग्वेद में **सप्तदिशो नाना सूर्याः**[3] कहा गया है।

**खगोल के विभाग–**

इसके बाद अब जिज्ञासा होती है कि विषुवत् रेखा के उत्तर एवं दक्षिण में जो तीन-तीन गोल हैं वे कितने अंशों पर अवस्थित हैं? इसका समाधान देते हुए श्रीमान् ओझाजी कहते हैं कि-

**द्वादशाष्टचतुरंशतः क्रमाद्वैषुवादुदगवाक् त्रयम् त्रयम्।**
**छन्दसां भवति तैश्च सप्तभिश्छन्दितो रविरुदूह्यते हयैः॥3॥**[4]

उक्त कथनानुसार विषुवत् रेखा के उत्तर 4°, 8° एवं 12° (चार, आठ एवं बारह अंशों) पर तथा दक्षिण 4°, 8° एवं 12° (चार, आठ एवं बारह अंशों) पर तीन-तीन मण्डल हैं, जो कुल मिलाकर क्रान्तिवृत्त 24° चौबीस अंश सहित सात मण्डल हो जाते हैं। ये ही सातों मण्डल सप्तच्छन्द कहे जाते हैं।

**सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्ते वामतो धुराम् ।**
**गायत्री चैव त्रिष्टुप् च अनुष्टुब्जगती तथा ॥**
**पङ्क्तिश्च बृहती चैव उष्णिक् चैव तु सप्तमम् ।**

---

1. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-1
2. सांशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-2
3. ऋग्वेद- 9/114/3
4. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-3

**अक्षे चक्रं निबद्धन्तु ध्रुवे त्वक्षः समर्पितः।।**
**सहचक्रो भ्रमत्यक्षः सहाक्षो भ्रमति ध्रुवः।।**[1]

इन सात छन्दरूपी अश्वों से युक्त रथ पर सवार होकर भगवान् आदित्य सभी लोकों में भ्रमण करते हैं। भोजप्रबन्ध के अनुसार भगवान् आदित्य के रथ का स्वरूप-

**रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।**
**रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसःक्रियासिद्धः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।।**[2]

अर्थात् सूर्य के रथ में मात्र एक ही पहिया है। साँपों की रस्सियों से सातों छन्दरूपी अश्व बँधे हुए हैं। उनका सारथि भगवान् विष्णु के वाहन **गरुड़** का भाई **अरुण** है, जिसे पैर नहीं हैं। रथ का जो मार्ग है उस मार्ग का कोई आधार नहीं अतः निरालम्ब मार्ग पर उनका रथ अर्थात् आकाश में विचरण करता हुआ प्रतिदिन अपार नभ को पार करता है। इस पद्य में यह शिक्षा दी गई है कि बड़े जनों की क्रियासिद्धि साधनों से नहीं अपितु आत्मबल से होती है। इस रहस्य को वेदों में इस प्रकार कहा गया है-

**आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेयन्नमृतं मर्त्यञ्च।**
**हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।**[3]

अर्थात् सबके प्रेरक सूर्यदेव स्वर्णिम रथ में विराजमान होकर अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष-पथ में विचरण करते हुए देवों और मानवों को उनके कार्यों में लगाते हुए समस्त भुवनों का दर्शन करते हुए आगे चल रहे हैं। जब वे प्रातः उदयाचल से अपनी यात्रा आरम्भ कर सायंकाल अस्ताचल को जाते हैं तब वे तीनों वेदों के साथ रहते हुए कभी भी वेदों से रहित नहीं रहते। इस बात को तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है-

**ऋग्भिः पूर्वा दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्य अह्नः।**
**सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः।।**[4]

इस प्रकार वेदों को अपना पाथेय बनाकर भगवान् आदित्य प्रतिदिन प्रातःकाल से सायंकाल तक अपने समस्त गतिविधियों को चलाते हुए सत्य के नियामक बने हुए हैं। अर्थात् वेदोक्त मार्ग का जो भी अनुसरण करता है वह ऋत एवं सत्य का पोषक तथा नियामक होता है, यह इस उद्घोष से स्वतः ज्ञात होता है। अब यहाँ पुनः यह विचार करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में तीन सनातन ब्रह्म हैं। इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं-

**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।**
**दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्।।**[5]

अर्थात् हम सब जानते हैं कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ ये तीन विश्व हैं। इन तीनों विश्व के अधिष्ठाता

1. वायु पुराण- 51/64-66
2. भोजप्रबन्ध
3. ऋग्वेद-1/35/2
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण-3/12/9/1
5. मनुस्मृति-1/23

क्रमशः अङ्गिरा, वायु एवं आदित्य हैं। निरुक्तकार भगवान् यास्क ने भी **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।**[1] इन तीनों सनातन ब्रह्म के संयोग से यह पञ्चपर्वा विश्वमण्डल बना हुआ है। इस प्रकार पृथिव्यात्मक विश्व का नर अग्नि, अन्तरिक्षात्मक विश्व का नर वायु तथा द्युलोकात्मक विश्व का नर आदित्य हैं। इन तीनों नरों से बने तीनों विश्वमण्डलों का संगठित रूप ही वैश्वानर है। चूँकि यह **वैश्वानर** तीनों विश्व के नरों के मेल से बना है, अतः वैश्वानर कहलाता है। उसी वैश्वानर अग्नि की चर्चा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीतोपनिषद् में कहा है-

**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।**
**प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।**[2]

यह वैश्वानर अग्नि जिस प्रकार से मानव शरीर के मध्यस्थान में निवास करती है उसी प्रकार खगोल के मध्य 48° अड़तालीस अंशात्मकभूमार्ग के मध्यभाग में सुषुम्णा रूपसे विद्यमान रहता है। अब पितृयाण एवं देवयान की चर्चा की जाती है।

**देवयान एवं पितृयाण का विवेचन-**

क्रान्तिवृत्त से उत्तरभाग में 18 अंशात्मक मार्ग को देवयान तथा क्रान्तिवृत्त से दक्षिणभाग में 18 अंशात्मक मार्ग को पितृयाण कहा जाता है। इस विषय में ऋग्वेद में कहा गया है-

**द्वे सुती अ शृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।**
**ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।**[3]

सूर्य की जो नाड़ी चन्द्रकक्षा का स्पर्श करती हुई जाती है उसे सुषुम्णा, जो सूर्यनाड़ी सुषुम्णा के ऊपर की ओर जाती है वह पिङ्गला तथा सूर्य की जो नाड़ी सुषुम्णा के नीचे की ओर गई है वह इडा कहलाती है। इडा सोममयी है इस विषय में ओझाजी कहते हैं-

**इडास्ति सा सोममयी तु नाडी सोमा य ऊर्ध्वादथ आचिता स्युः।**
**सोम्या हि सर्वे पितरस्ततोऽयं मार्गः प्रसिद्धः पितृयाणनाम्ना।।8।।**[4]

शतपथब्राह्मण के प्रथमकाण्ड में इडायाग प्रसङ्ग में इडा का स्वरूप सोममय बताया गया है। यह जो इडा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा नाड़ी रूप का यहाँ वर्णन किया गया है वह उसी इडा का स्वरूप है। अतः इडा का सोममयत्व स्वतः सिद्ध है। अन्तरिक्ष में उत्तर से दक्षिण की ओर जानेवाली नाड़ी इडा नाम से जानी जाती है। यह पितरों का मार्ग है। चूँकि पितर **सोम्यासः पितरः**[5] इस श्रुतिवचन के अनुसार सोममय हैं। अतः इडा नामक नाड़ी के मार्ग से पितरों का आवागमन होता है। वस्तुतः सोम उत्तर से दक्षिण की ओर जाता है, अत एव सोमाभिप्राय से दक्षिणमार्ग पितृयाण कहलाता है। क्रान्तिवृत्त से दक्षिण 18° अठारह अंशात्मक मार्ग कृष्णमार्ग पितृयाण है।

1. निरुक्त, दैवतकाण्ड, 7/5
2. श्रीमद्भागवद्गीता-15/14
3. ऋग्वेद- 10/88/15
4. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-8
5. ऋग्वेद-10/15/8

**यथा त्वधस्तात् पितृयाण उक्तस्तथोपरिष्टादिह देवयानः।**
**अष्टादशांशा अयनादिहोर्ध्वाः स देवयानः स च शुक्लमार्गः।।14।।**[1]

अर्थात् जिस प्रकार क्रान्तिवृत्त के दक्षिणभाग को पितृयाण कहा गया उसी प्रकार इसके उत्तरभाग में देवयान समझना चाहिये। क्रान्तिवृत्त से उत्तर जो 18° अठारह अंशात्मक मार्ग है वह शुक्लमार्ग देवयान है।

**सा पिङ्गला सूर्यमयी तु नाडी तत्रदितेया ध्रुवमाचिताः स्युः।**
**ये देवयानावधयो निरुक्ताः सप्तर्षयस्तेऽप्युपलक्षकाः स्युः।।15।।**[2]

अर्थात् जो सूर्यनाड़ी सुषुम्णा के ऊपर की ओर जाती है वह पिङ्गला है। अर्थात् सुषुम्णा मध्य में, उसके दक्षिण इडा एवं उत्तर पिङ्गला नामक नाड़ी है। पिङ्गला सूर्य की साक्षात् रश्मि है, अत एव अधिक धवलता से युक्त है। स्पष्टता के लिए चित्र का अवलोकन करें-

देवयान एवं पितृयाण को और अधिक स्पष्ट करने के लिये वायुपुराणोक्त निम्न श्लोक द्रष्टव्य है-

**उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।**
**पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः॥**
**नागवीथ्युत्तरे यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।**
**उत्तरः सवितुः पन्था देवयानस्तु स स्मृतः॥**[3]

अगस्त्य शब्द का अर्थ कोशकारों ने अगम्=विन्ध्याचलपर्वतं, स्त्यायति=स्तभ्नाति इति अगस्त्यः। ऐसा किया है। अर्थात् विन्ध्याचल के सीध में अगस्त्य तारा है, उससे उत्तर तथा अजवीथि के दक्षिण में पितृयाण है ऐसा वायुपुराण में कहा गया है। चूँकि अगस्त्य का तारा क्रान्तिवृत्त से 30° तीस अंश पर है एवं वायुपुराण के अनुसार अजवीथि के दक्षिण एवं अगस्त्य के उत्तर में पितृयाण है। इससे स्पष्ट होता है कि क्रान्तिवृत्त के दक्षिण पितृयाण है उसे केवल तीस अंश की परिधि में घेरा नहीं जा सकता। दूसरे श्लोक में देवयान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि नागवीथि के उत्तर एवं सप्तर्षिमण्डल के दक्षिण में देवयान स्थित है। सूर्य के गमनागमन मार्ग की चर्चा करते हुए अजवीथि एवं नागवीथि आदि के स्थानों का निर्देश देवीभागवत[4] के आठवें स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में किया गया है। यथा-

---

1. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-14
2. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-15
3. वायुपुराण, ज्योतिष्प्रचार प्रकरण, अध्याय-50, श्लोक- 208, 216
4. देवीभागवत, स्कन्ध-8, अध्याय-15

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | **अतः परं प्रवक्ष्यामि भानोर्गमनमुत्तमम्। शीघ्रमन्दादिगतिभिस्त्रिविधं गमनं रवेः।।१।।**<br>**सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि सुरसत्तम। स्थानं जारद्वं मध्यं तथैरावतमुत्तरम्।।२।।** | | | |
| (1) | अश्विनी कृत्तिका याम्या नागवीथीति शब्दिता। | (नागवीथि) | } | उत्तर में |
| (2) | रोहिण्यार्द्रामृगशिरो गजवीथ्यभिधीयते।।३।। | (गजवीथि) | | |
| (3) | पुष्याश्लेषा तथाऽऽदित्या वीथी चैरावती स्मृता। | (ऐरावतीवीथि) | | |
| एतास्तु वीथयस्तिस्र उत्तरो मार्ग उच्यते।।४।। | | | | |
| (4) | तथा द्वे चापि फल्गुन्यौ मघा चैवार्षभी मता। | (आर्षभीवीथि) | } | मध्य में |
| (5) | हस्तश्चित्र तथा स्वाती गोवीथीति शब्दिता।।५।। | (गोवीथि) | | |
| (6) | ज्येष्ठा विशाखाऽनुराधा वीथि जारद्वी मता। | (जारद्वीवीथि) | | |
| एतास्तु वीथयस्तिस्रो मध्यमो मार्ग उच्यते।।६।। | | | | |
| (7) | मूलाषाढ़ोत्तराषाढ़ा अजवीथीति शब्दिता। | (अजवीथी) | } | दक्षिण में |
| (8) | श्रवणं च धनिष्ठा च मार्गी शतभिषक्तथा।७।। | (मृगवीथि) | | |
| (9) | वैश्वानरी भाद्रपदे रेवती चैव कीर्तिता। | (वैश्वानरीवीथि) | | |
| एतास्तु वीथयस्तिस्रो दक्षिणो मार्ग उच्यते।।८।। | | | | |

एतद् अनुसार नभोमण्डल में सूर्यादि ग्रहों की वीथियों के विभाग को चित्र द्वारा इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया गया है-

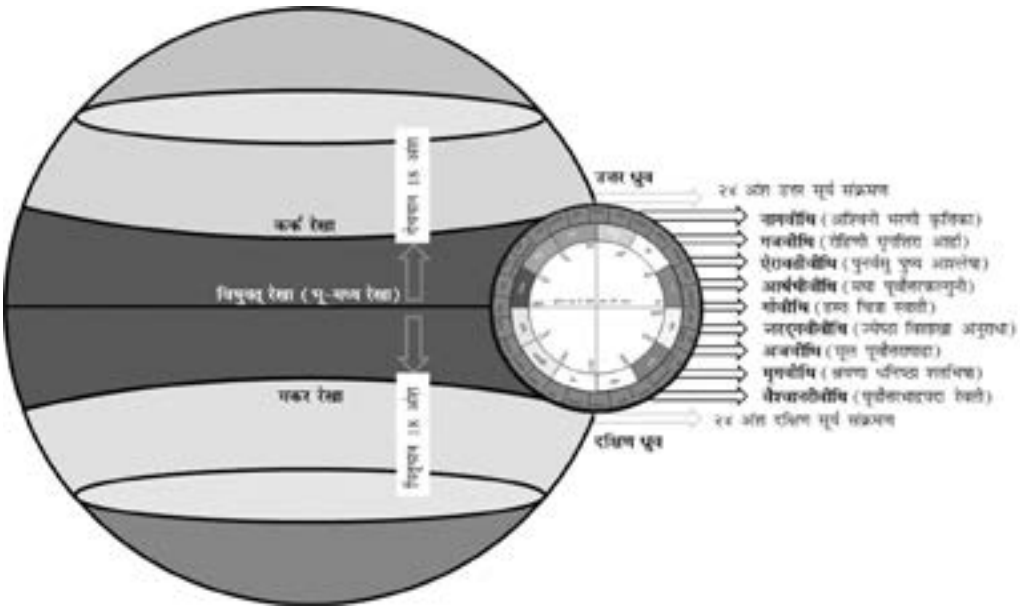

वस्तुतः खगोल की वीथियों को मध्यमोत्तरदक्षिण मार्गत्रय के अनुरूप विभाजित किया गया है। ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर ने भी शुक्रचाराध्याय में शुक्र की वीथियों की चर्चा करते हुए लिखा है-

**नागगजैरावतवृषभगोजरद्गवमृगाजदहनाख्याः।**
**अश्विन्याद्याः कैश्चित्त्रिभाः क्रमाद्वीथयः कथिताः।।**[1]

अर्थात् अश्विन्यादि तीन-तीन नक्षत्रें में क्रम से नाग, गज, ऐरावत, वृश, गो, जरद्गव, मृग, अज एवं दहन (वैश्वानर) ये नव वीथियाँ होती हैं। स्पष्टता के लिए चक्र में देखें। यथा-

| **वीथियाँ** | **नाग** | **गज** | **ऐरावत** | **वृष** | **गौ** | **जरद्गव** | **मृग** | **अज** | **दहन** |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न क्ष त्र | अश्विनी | रोहिणी | पुनर्वसु | मघा | हस्त | विशाखा | मूल | श्रवणा | पूर्वभाद्रपद |
| | भरणी | मृगशिरा | पुष्य | पूर्वफाल्गुनी | चित्र | अनुराधा | पूर्वाषाढ़ा | धनिष्ठा | उत्तरभाद्रपद |
| | कृत्तिका | आर्द्रा | आश्लेषा | उत्तरफाल्गुनी | स्वाती | ज्येष्ठा | उत्तराषाढ़ा | शतभिषा | रेवती |

उक्त वीथियों के मार्गों का विभाग बतलाते हुए कहा गया है-

**तिस्रस्तिस्रस्तासां क्रमादुदग्मध्ययाम्यमास्थाः।**
**तासामप्युत्तरमध्यदक्षिणेन स्थितैकैका ॥**[2]

अर्थात् नाग आदि तीन-तीन वीथियाँ क्रम से उत्तर, मध्य और दक्षिण में स्थित होती हैं। यथा- नाग, गज और ऐरावत उत्तर मार्ग में, वृष, गो और जरद्गव मध्य मार्ग में तथा मृग, अज और दहन दक्षिण मार्ग में स्थित होती हैं। यद्यपि इस विषय में पर्याप्त मतभेद भी है ऐसा आचार्य वराहमिहिर ने स्पष्ट करते हुए गर्गादि ऋषियों के अनेकों वचनों को उद्धृत किया है। कहीं-कहीं आचार्य वराहमिहिर ने अपने मत को भी उपस्थापित किया है।

**विष्णु का परमधाम–**

यह तो सर्वजन प्रत्यक्ष ही है कि अग्नि ऊपर की ओर जाती है तथा सोम (जल) नीचे की ओर जाता है। इसी प्रकार इडा नाड़ी जो सौम्य है वह उत्तर से दक्षिण की ओर गति करती है तथा पिङ्गला नाड़ी जो आग्नेय है वह दक्षिण से उत्तर की ओर गति करती है। अतः स्पष्ट हुआ कि सूर्य से रहित जो लोक है (असुर्य लोक) वह महान् अन्धकार से युक्त है।[3] वही लोक नरक कहलाता है। श्रीमद्भागवत में यह कहा गया है कि-

**तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तभूमिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशशनं लालाभक्षः सारमेयादनवीचिरयःपानमिति किंच क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः प्र्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिनरका**

1. बृहत्संहिता, शुक्रचाराध्याय-1
2. बृहत्संहिता, शुक्रचाराध्याय-4
3. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा{{वृताः। (शु-य-सं-40/3)

**विविधयातनाभूमयः।**[1]

उक्त श्लोक द्वारा अट्ठाइस नरकों के नामों को सूचित किया गया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि अनेकों प्रकार के नरकों की चर्चा यत्र-तत्र शास्त्रें में की गई है। इन लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता है। जहाँ सूर्य यदा विद्यमान रहता है वह लोक सूर्यलोक (विष्णु का परमधाम) किं वा दिव्यस्वर्गलोकादि कहलाता है। **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।**[2] इस प्रकार स्वर्ग को ही विष्णु का परम धाम कहा गया है। यह दिव्य धाम ही नाक भी कहलाता है। यह नाक सूर्य के ठीक ऊपर स्कम्भ के अन्तिम स्थान में है। इस कदम्ब में पृथ्वी का आकर्षण समाप्त हो जाता है। वहाँ जो आत्मा पहुँच जाता है उसका इस लोक में पुनरागमन नहीं होता है। इसलिए यह कदम्ब उत्तमस्वर्ग, दिव्यस्वर्ग आदि नाम से जाना जाता है। इस विषय में श्रीमान् ओझाजी कहते हैं-

**दिव्येष नाको ध्रुवतो जिनान्तरे स स्कम्भमूर्द्धास्ति रवेः शिरो दिशि।**
**स चोत्तमः स्वर्ग इह प्रयाति चेन्ना वर्ततेऽसौ पुनरत्र भूतले।।**[3]

क्रान्तिवृत्त से 90 अंश उत्तर जो 24 अंश के व्यासार्ध के मध्य में एक कदम्ब है वह दिव्य नाक कहलाता है। यह नाक ध्रुव से 24° अंश के फासले पर सूर्य के ठीक ऊपर सीधे 17 और 25 से जाने वाले स्कम्भ के ऊपर स्थिर है। इस स्कम्भ के 21 अंश पर सूर्य स्थिर है। इस सूर्य के ठीक माथे के ऊपर स्कम्भ के अन्तिम स्थान में ही यह कदम्ब है। यही उत्तम स्वर्ग कहलाता है। जो मनुष्य इस स्कम्भ में चला जाता है वह वापस इस पृथ्वी लोक में जन्म नहीं लेता है, क्योंकि यहाँ पर जाने से इस आत्मा का पार्थिव-आकर्षण टूट जाता है। अतः **यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।**[4] वह भगवान् का परम धाम है जहाँ जाने के बाद जीव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। कठोपनिषद् में कहा भी गया है-

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।**[5]

इस श्रुति वचन से स्पष्ट होता है कि जब हृदय में निवास करने वाली समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, तब नश्वर जीव अमर हो जाता है और ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है। ब्रह्म में लीन होने की प्रक्रिया ही मुक्ति कहलाती है। एतदर्थ मनुष्य को निष्काम कर्म करना होता है। तब जीव के मन से सभी वासनायें नष्ट हो जाती हैं तब वह जो भी कर्म करता है वह कर्म उसे फल के बन्धन में नहीं डालता। इस रहस्य को ईशावास्योपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है-

**कुर्वन्नेवेह कर्मा णि जिजीविषेच्छतं समाः।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।**[6]

---

1. श्रीमद्भागवत- 5/26/7
2. ऋग्वेद- 1/22/20
3. सांशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 23-अन्तरिक्षनाड्योंऽशानुक्रमतो विभक्ताः, श्लोक-18
4. श्रीमद्भागवद्गीता-15/6
5. कठोपनिषद् 2/3/14
6. शु.य.सं. -40/2

कात्यायन श्रौतसूत्र में **फलयुक्तानि कर्माणि**[1] ऐसा कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव जो भी अच्छा बुरा कर्म करता है, उस कर्म का फलरूप सन्तान अवश्य ही उत्पन्न होता है। उस कर्मसन्तान का उपभोग जीव को करना ही पड़ता है। **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।**[2] इस स्मार्त वचन के अनुसार समस्त शुभ एवं अशुभ कर्म के फलों को आवश्यक रूप से भोग करना ही पड़ता है। कर्म के यहाँ मुख्य रूप से तीन स्वरूप कहे गये हैं। विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म, विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म एवं नैष्कर्म्य कर्म अर्थात् आसक्ति रहित कर्म।

1. **विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म-** यथा- यज्ञ-तप-दान आदि। ऐसा कर्म करनेवाला देवयान गति पर आरूढ़ होता है। अर्थात् स्वर्ग की ओर जाता है। स्वर्ग जाने के उपरान्त भी यदि मृत्यु के समय मन में किसी भाव का प्रभाव रहता है तो **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**[3] इस गीतोपनिषद् वचनानुसार स्वर्ग में पुण्य का भोग करने के उपरान्त पुनः मर्त्यलोक में पुनर्जन्म प्राप्त करके आ जाता है।

2. **विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म-** यथा- इष्ट-आपूर्त-दत्त आदि। ऐसा कर्म करनेवाला जीव पितृयाण गति पर आरूढ़ होता है। उस जीव का आवागमन लगा ही रहता है।

3. **नैष्कर्म्य कर्म (आसक्ति रहित निवृत्ति कर्म)-** प्रवृत्त्यात्मक कर्म से आत्मा में एक वासना-संस्कार उत्पन्न होता है, इस कर्म से मुक्ति नहीं होती। परन्तु एक कर्म ऐसा है जो कि इस प्रवृत्त्यात्मक कर्म को हटाता है। वह कर्म असल में विद्यास्वरूप ही है। यह एक विशिष्टा गति है जो जीव को कर्म के बन्धन से मुक्त करके उसे ब्रह्मपथ की ओर अग्रसर करता है। ओझाजी ने कहा भी है-

**गतिस्त्रिधा ब्रह्मपथे विशिष्टा सामान्यतो द्वे अवरे भवेताम्।**
**सा देवयाने पितृयाण एव ते कर्मणा कर्मनिवृत्तितोऽन्या।।**[4]

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों गतियों में प्रथम एवं द्वितीय गति सामान्या गति कहलाती है जो पुनर्जन्म के कारक होती हैं। तीसरी गति जो विशिष्टा गति है वह नैष्कर्म्यकर्म निमित्त है इस मार्ग से चलकर जीव ब्रह्मपथ (मुक्तिपथ) पर आरूढ़ होता है।

4. **अगति-** इन तीनों गतियों से अतिरिक्त एक अगति भी है। यह अगति दो प्रकार से वर्णित है। एक अत्युत्कृष्ट अगति तथा द्वितीय महानिकृष्ट अगति।

   - **अत्युत्कृष्ट अगति-** निष्काम कर्म करते-करते कर्मबन्धन के सर्वथा उच्छिन्न हो जाने पर जिसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। तब इस हृद्-ग्रन्थि के टूटते ही उसका आत्मा यहीं व्यापक ब्रह्म में लीन हो जाता है। ऐसे मनुष्य के आत्मा का उत्क्रमण नहीं होता है। इसके लिए श्रुति कहती है- **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति**[5] अर्थात् जीवन्मुक्ति की अवस्था या सदेह मुक्ति की अवस्था को इसके अन्तर्गत समझना चाहिये।

---

1. का.श्रौ.सू.- 1/1/2
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण-1/44/74
3. श्रीमद्भागवद्गीता-9/21
4. संशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 29- आत्मगतिभेदाः श्लोक-44
5. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4/4/6

- **महानिकृष्ट अगति-** जो अत्यन्त दुःखमय पृथ्वी की पिशाचयोनि है उसे **महानिकृष्ट अगति** कहते हैं। अर्थात् जिनका प्राण (आत्मा) कहीं लोकान्तर में न जाकर यहीं प्रेतयोनि में दुःखभोग करता है, इस अगति को महानिकृष्ट अगति कहा जाता है। इस विषय में श्रुति कहती है- **अत्रैव समवलीयन्ते।**[1] अर्थात् ऐसे मनुष्यों के प्राण इस लोक से लोकान्तर में न जाकर यहीं नाना प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ प्रवृत्ति कर्मफलों के उपभोग हेतु विचरण करते रहते हैं।

अब प्रसङ्गानुसार लोकान्तरों की चर्चा करने के क्रम में यज्ञादियों से प्राप्त होने वाले **स्वर्ग** एवं वृथा कर्म से प्राप्त **नरक** आदि के विविध स्वरूपों पर विचार करते हैं।

- **स्वर्ग एवं नरक लोकोपपादन-** सामान्य परिभाषा के अनुसार सुखभोग के स्थान को स्वर्ग तथा दुःखभोग के स्थान को नरक कहा जाता है। स्वर्ग के चार भेद हैं- ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप तथा ब्रध्नस्य विष्टप। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र ये तीन प्रधान देवता हैं इन तीनों के जो स्थान हैं वही विष्टप नाम से कहे जाते हैं। चतुर्थ विष्टप **ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः।**[2] तथा **ब्रध्नस्य विष्टपं स्वर्गं लोकं गमयतः।**[3] इन्हीं विष्टपों को स्वर्ग की दृष्टि से इस प्रकार कह सकते हैं- अवमस्वर्ग, मध्यमस्वर्ग, उत्तमस्वर्ग तथा परमस्वर्ग।

1. **अवमस्वर्ग-** यज्ञ की अग्नि तीन प्रकार की होती है- भूर्लोक की अग्नि गार्हपत्याग्नि, अन्तरिक्षलोक की अग्नि **दक्षिणाग्नि** तथा द्युलोक का अग्नि **आहवनीयाग्नि।** यज्ञ भी तीन प्रकार के हैं। यथा-
   - प्राक्सौमिक (अग्निहोत्र-दर्शपौर्णमासादि),
   - अध्वर (अग्निष्टोमादि) तथा
   - चयन (सुपर्णचित्यादि)।

प्राक्सौमिक अर्थात् अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमासादि के अनुष्ठान से मर्त्याग्नि अमृताग्नि की ओर अग्रसर होता है। अमृताग्नि 17 वें अहर्गण पर स्थित है। **अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः** तथा **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**[4] इससे जो स्वर्ग का फल मिलता है वही अवमस्वर्ग कहलाता है। इस अवमस्वर्ग को शतपथ में **आहवनीय स्वर्ग** कहा गया है। उक्त यज्ञ से मनुष्य अवमस्वर्ग में पहुँचकर स्वकर्मफल भोगकर क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति इस वचन के अनुसार कर्मशेष के कारण वापस इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए आ जाता है।

2. **मध्यमस्वर्ग**– मध्यमस्वर्ग का स्थान 17 वें अहर्गण से 21 वें अहर्गण के मध्य होता है। अध्वर अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने वाला जो यजमान है उसको यह त्रिणाचिकेत अग्नि **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[5] वचनानुसार जिस स्वर्ग की ओर ले जाता है वह मध्यमस्वर्ग कहलाता है। 21 वें अहर्गण के अग्नि

1. बृहदारण्यकोपनिषद्-3/2/11
2. शु.य.सं.-14/23
3. ऐतरेय ब्राह्मण- 5/30
4. मीमांसा, शबरभाष्य- 6-7 अध्याय
5. मीमांसा- शबरभाष्य- 6-7 अध्याय

को ही सौर विद्युत् कहते हैं। 17 वाला जो स्वर्ग है वहाँ से तो इस लोक में वापस पुनरावृत्ति होती है किन्तु जो यजमान 21 वें अहर्गण वाले **सौराग्नि** के पास चले जाते हैं, वे अत्युत्कट आनन्द का अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक स्वर्ग का सुख भोगते हैं, कदाचित् उनका भी आगमन सम्भव होता है। चूँकि जिनके मन में यज्ञ की अग्रिम संस्था (चयनादि) के अनुष्ठान का भाव रह जाता है, उनका पुनरागमन होने की सम्भावना रहती है।

3. **उत्तमस्वर्ग**– उत्तमस्वर्ग का स्थान 21 वें अहर्गण से प्रारम्भ होकर 25 वें अहर्गण तक होता है। चयनयज्ञ के द्वारा 25 वें अहर्गण वाले स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईंटों के चिनाई द्वारा जो अग्नि का चयन किया जाता है, उससे वह 25 वाँ विद्युत् पकड़ में आ जाता है। इस विषय में नचिकेता के लिए यमोपदेश की श्रुति इस प्रकार है-

**प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यग्मग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।**
**अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥**[1]
**त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।**
**स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥**[2]

यम कहते हैं कि हे नचिकेता! इस 25 वें अहर्गण वाले स्वर्ग्याग्नि अर्थात् उत्तमस्वर्ग के प्राप्त होते ही यह मनुष्य सर्वदुःखविमुक्त हो स्वर्गानन्द का भोग करता है। यही स्वर्ग्याग्नि का रहस्य है जिसको मैंने तुझे बतला दिया। इस प्रकार चयन को छोड़कर जितने यज्ञ हैं उन सबसे केवल स्वर्ग ही मिलता है, मुक्ति नहीं होती है। इस विषय में श्रीमान् ओझाजी कहते हैं-

**महतो यज्ञात् परमं सुखमतियज्ञात् स इन्द्रत्वम्।**
**स्वर्गे न त्वपवर्गं लभते यज्ञाद् ऋते चयनात् ॥**[3]

4. **परमस्वर्ग**– 25 वें अहर्गण से 33 वें अहर्गण तक के मध्य का जो स्थान है वह परमस्वर्ग का स्थान कहलाता है। यद्यपि अग्नि अग्नित्वेन एक ही है, तथापि स्थानभेद से इसमें भेद हो जाता है। भूर्लोकस्थ अग्नि **पार्थिवाग्नि** है, वही गृह्याग्नि भी है जिससे हमारा दैनन्दिन पाकयज्ञादि की क्रिया सम्पादित होती है। अरणि-मन्थन द्वारा उत्पन्न एवं अग्निप्रणयनादि कर्म द्वारा संस्कृत अग्नि गार्हपत्यादि स्थानत्रय विशेष में आहित किये जाते हैं। इन तीनों स्थानों की अग्नि में जो सूर्य का अग्नि है वह प्राणमय एवं तापरहित गन्धरसरूपस्पर्शशब्दरहित है, अत एव **अनवरोधि** है। जो पार्थिवाग्नि है वह वाघ्मय है, तापरहित होता हुआ धामच्छद (स्थान घेरनेवाला) है। इन दोनों अर्थात् भौम वाघ्मय एवं सौर प्राणमय अग्नियों के मेल से जो तीसरा अग्नि उत्पन्न होता है वही **वैश्वानराग्नि** के नाम से प्रसिद्ध है। इस रहस्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है-

---

1. कठोपनिषद्- 1/1/14
2. कठोपनिषद्- 1/1/18
3. सांशयतदुच्छेदवाद, तृतीयकाण्ड, विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्, प्रथमखण्ड, 29- आत्मगतिभेदाः श्लोक-79

**अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।**
**अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥**[1]

यही वैश्वानराग्नि उत्तमलोक से अपने ज्योतिष्पिण्डस्वरूप प्रकाश को सभी जीवों के अन्दर प्राणभाव से प्रतिष्ठापित करता है, जिसे **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** या **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः** इत्यादि श्रौतवचनों के द्वारा हम समझ पाते हैं। परब्रह्ममय अव्यय पुरुष के प्रकाशपुञ्ज से यह **क्षर** अर्थात् शरीर तथा **अक्षर** अर्थात् प्राण की सत्ता का पर्याय यह विश्व है। इस समस्त क्षराक्षर का मूल अव्यय है, क्षराक्षराव्यय तीनों का जो मूल स्थान है वह परात्पर **(परादपि परः परात्परः)** इस नाम से सुविख्यात परमात्मा है। इसके विषय में श्रुति कहती है-

**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।**
**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**[2]

अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम एवं रूप से हीन होकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार इस रहस्य को जानने वाला विद्वान् पुरुष नाम एवं रूप से रहित परात्पर पुरुष में समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार **त्रिविष्टप** अर्थात् **ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप** जगत् का आधार है। उन तीनों विष्टपों का जो आधारभूत है वही ब्रध्नस्य विष्टप है, वही परमस्वर्ग है। **ब्रध्नस्य विष्टप** परमस्वर्ग चौंतीसवें स्तोम पर स्थित है।

पृथ्वी से 33 अहर्गण (स्तोम) तक जाने वाले जो अहर्गण हैं उनके भिन्न-भिन्न नाम रखे जाते हैं। जो 25 वाँ अहर्गण है उसको **अविवाक्यमहः** यानि **अनिर्वचनीयमहः** कहते हैं। जो अविवाक्य (अनिर्वचनीय) नाम का 25 वाँ स्तोम है वही त्रिणाचिकेत नाम का परमस्वर्ग कहलाता है। इस प्रकार से 17 वाँ **अवमस्वर्ग,** 18 से 21 तक **मध्यमस्वर्ग,** 21 से 25 तक **उत्तमस्वर्ग** तथा 25 से 33 तक परमस्वर्ग कहलाता है।

**गायत्रस्तोम, त्रैष्टुभस्तोम** तथा **जागतस्तोम** इन तीनों स्तोमों की जो समष्टि है वही **छन्दोमास्तोम** कहलाता है। इनमें जो जागतस्तोम का केन्द्र है वही 25 वाँ **अविवाक्यमहः** है। इसी का नाम परमस्वर्ग है। इस विषय में श्रुति कहती है-

**तस्यैतस्य परस्तात्कामप्रो लोकः अमृतं वै कामप्रममृतमेवास्य तत्परस्तात्तद्यत्तदमृतमेतत्तद्यदेतदर्चिर्दीप्यते।**[3]

इसी अविवाक्य स्थान को **कामप्रलोक** किं वा **अशोकमहिमलोक** कहते हैं। इस कामप्रलोक से ऊपर के स्थान में जाने से स्थूलसूक्ष्मवत् कारण-शरीर के भी नाश हो जाने से परामुक्ति हो जाती है। जो 21 वें स्थान में सूर्यपिण्ड है वही द्यौ नाम से प्रसिद्ध है। 18 से 24 वें स्तोम तक एक स्कम्भ बनता है, जिसके केन्द्र में भगवान् सूर्य हैं। इस स्कम्भ की जो उत्तरभागस्थित शिरोबिन्दु है जो नाक या कदम्ब कहलाता है, जिसके चौतरफ **जिनांश** अर्थात् 24 अंश के व्यासार्द्ध से उत्तरध्रुव परिक्रमा लगाता है- वह स्वर्ग **नाकस्वर्ग** नाम से प्रख्यात है। नाक के उपरिभाग में **पारमेष्ठ्यमण्डल** है, यही **उत्तमस्वर्ग** कहलाता है। इसी स्वर्ग को कामप्रलोक एवं अशोकमहिम नाम से कहा गया

1. ऋग्वेद- 5/5/6/1
2. मुण्डकोपनिषद्- 3/2/8
3. शतपथब्राह्मण- 10/2/6/4

है। 18 वें से 24 वें अहः तक का स्थान जो अर्वाक् सप्तदशस्तोम तथा पराक् पञ्चविंशस्तोम है एवं उदक् शिरोबिन्दु (कदम्ब) है यह तीन प्रकार का स्वर्ग प्राचीन महर्षियों द्वारा **त्रिविष्टप** कहा जाता है।

ऊपर हमने अहर्गणों की चर्चा की है, अत एव अहर्गण का सामान्य परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

- **अहर्गण**– अहर्गण संस्कृत का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका उपयोग प्राचीन भारतीय विज्ञान यथा यज्ञानुष्ठान, खगोल, गणित तथा ज्यामिति के सन्दर्भ में किया जाता है। किसी इष्ट या नियतकाल तक का समय अर्थात् दिनों का समूह ही अहर्गण कहलाता है। यहाँ अहर्गण शब्द स्तोम के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्तोम शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है- स्तोत्रविशेषः स्तोमः। सामसाध्यस्तुतिः स्तोमः। अर्थात! स्तोत्र विशेष को स्तोम कहते हैं। स्तोम का प्रयोग अहर्गण के रूप में काल एवं संख्याओं की गणना के लिए किया जाता है।

सोमयागों में उद्गाता आदि ऋत्विजों द्वारा सामगान प्रस्तुत किये जाने पर कुशा या लकड़ी की बनी विष्टुतियों को रखकर साम की गणना की जाती है। उस समय दो प्रकार से स्तोमों की गणना होती है। एवंविध युग्मस्तोम एवं अयुग्मस्तोम भेद से स्तोम के दो प्रकार हमारे सामने आते हैं। युग्मस्तोम का वर्णन- **चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥**[1] इस मन्त्र में 4, 8, 12, 16, 20, 24, 28, 32, 36, 40, 44 एवं 48 संख्या द्वारा किया गया है। अयुग्मस्तोम के लिए- **एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽ एकादश च मऽ एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ एकविꣳशतिश्च मऽ एकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽ एकत्रिꣳशच्च मऽ एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥**[2] प्रयुक्त इस मन्त्र में 1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 17, 19, 21, 23, 25, 27, 29, 31 एवं 33 स्तोमों का वर्णन किया गया है। उक्त प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि युग्मस्तोम की दृष्टि से 48 स्तोम एवं अयुग्मस्तोम की दृष्टि से 33 स्तोम के द्वारा विश्वमण्डल को परिमित किये जाने का विधान वेद में प्राप्त होता है।

**निष्कर्ष**– उपर्युक्त विवरणों के अनुसार खगोल में जो सूर्य के गमनागमन का मार्ग है उसमें कुल नौ वीथियाँ हैं। सूर्यक्रान्तिवृत्त की परिमिति 360° तीन सौ साठ अंश है। 36°÷9=40° चालीस अंश की प्रत्येक वीथी की परिमिति हुई। सभी वीथियों में तीन-तीन नक्षत्रें के समावेश किये गये हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रत्येक राशि में सवा दो नक्षत्र होते हैं। इस प्रकार 27 नक्षत्र, 12 राशि एवं नौ वीथियों में विभाजित अन्तरिक्षस्थ आदित्य सघ्क्रमण मार्ग का स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित है। वीथियों की चर्चा पूर्व पृष्ठों में की गई है, अतः यहाँ राशि, नक्षत्र एवं अंशों का दिघ्निर्देश मात्र कर रहा हूँ। यथा-

1. शु.य.सं.- 18/25
2. शु.य.सं.- 18/24

**राशि-नक्षत्र वृत**

कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के चौतरफ जिस रेखा पर चन्द्रमा परिक्रमा करता है उसे दक्ष कहते हैं। इस दक्षवृत्त को दोनों तरफ स्पर्श करती हुई सूर्य की अग्निमयी नाड़ी लोकालोक तक चली गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी उस सूर्यनाड़ी की पेट में आ जाती हैं तो हमारा उस नाड़ी के पेट में आ जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है। हमारी आत्मा सूर्यस्थित इन्द्र से बद्ध है। यह जो सूर्यपिण्ड है वह इसी इन्द्र प्राण के कारण ऐन्द्रप्राजापत्य कहलाता है। यह जो अन्तरिक्ष के नाड़ियों का मार्ग है वह अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म है। इस विषय में श्रुति कहती है-

**अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव।**
**तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।।**[1]

अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र से लेकर सूर्य तक एक सुषुम्णासूत्र का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इस मार्ग से- जो ब्रह्मविद् होते हैं वही इस पृथिवी के बन्धन से विमुक्त होते हुए उस स्वर्गलोक (अपरामुक्ति) में चले जाते हैं। इस सूर्य की सुषुम्णा नाड़ी में सात रंग हैं, जो कि त्रिकोणयुक्त काच में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है-

**तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।**
**एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च।।**[2]

अर्थात् यह चित्र-विचित्र रंगों वाला देवयान का मार्ग भगवान् ब्रह्मा (सूर्यप्रजापति) द्वारा रचा गया है। इस मार्ग से जो ब्रह्मवित् हैं, जो पुण्यकृत् हैं एवं जो तैजस हैं वे ही जाते हैं। प्रसङ्गानुसार भूलोक से ऊपर के लोकों को अर्थात् ऊर्ध्वलोकों को एक चित्र द्वारा प्रस्तुत करता हूँ।

**ऊर्ध्वलोकों का विवरण-**

**त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः**[3]

उक्त श्रुति वचन में तीन त्रिलोकी की बात कही गई है। एक त्रिलोकी में तीन लोक तो तीन त्रिलोकियों में 3×3=9 लोक होने चाहिये, किन्तु यहाँ उक्त तीनों त्रिलोकियों को सात लोकों में अन्तर्हित कर दिया गया है। ऋग्वेद के मन्त्रनुसार तीन **भूः**, तीन **भुवः** तथा तीन **स्वः** कहे गये हैं। यथा–

1. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4/4/8
2. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4/4/9
3. ऐतरेय आरण्यक-1/1/2 तथा ऐतरेयब्राह्मण- 2/17

**तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुतद्यूंस्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।**
**ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु।।**[1]

प्रकृत चित्र में रोदसी त्रैलोक्य का स्वः एवं क्रन्दसी त्रैलोक्य का भूः एक अहर्गण में आ रहा है, तथा क्रन्दसी त्रैलोक्य का स्वः एवं संयती त्रैलोक्य का भूः एक अहर्गण में आ रहा है। इस प्रकार दो स्थानों पर ऐसा हो रहा है कि दो लोक एक साथ एक अहर्गण में पड़ रहे हैं जिस कारण नौ लोकों का इन सात लोकों में अध्याहार हो जाने से सात लोकों के अन्तर्गत ही तीनों त्रिलोकियों को व्यवस्थित किया गया है। अत एव भूः पृथिवीलोक, भुवः अन्तरिक्षलोक एवं स्वः द्युलोक के नाम से प्रसिद्ध है।

एतद् द्वारा यह कहना उचित प्रतीत होता है कि शरीरविज्ञान के आधार पर वेद एवं पुराणों में खगोल के वर्णन के अनेकविध प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यह विषय अत्यन्त गम्भीर है, अतः इसके लिए अत्यधिक शोध की आवश्यकता है। लघु-निबन्ध में उन सभी प्रमाणों तर्कों एवं पक्षों को रखना अत्यन्त कठिन है। तथापि जितना मैं उपस्थापित कर सका हूँ इससे पाठकों को अवश्य सन्तोष होगा ऐसी मेरी आशा है।

जयतु संस्कृतम्। जयतु भारतम्। जयन्तु वेदाः।

❖ ❖ ❖

1. ऋग्वेद-2/27/8

# मन्दिर निर्माण के आधारभूत सिद्धान्त

– डॉ. सुभाष पाण्डेय

वैदिक काल से ही सामूहिक रूप से एक स्थान पर प्रार्थना एवं अर्चन करने की परम्परा रही है। जहाँ पूर्ण रूप से ध्यान लगा सकें, मन एकाग्र हो पाए या ईश्वर के प्रति समर्पण भाव व्यक्त किए जाएं, उस स्थान को मन्दिर के नाम से जानते हैं। सनातन परम्परा में मन्दिर का निर्माण वास्तुशास्त्र के सिद्धांतों के अनुरूप ही किया जाता है। प्राचीन काल के मंदिरों की रचना कुछ-कुछ पिरामिड आकार की होती थी। आज के मन्दिर के अन्दर गर्भ गृह तथा ऊपर गोलाकार गुम्बद तथा उसके ऊपर शिखर होते हैं। गर्भगृह में मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं तथा स्तम्भों या दीवारों पर भी मूर्तियां स्थापित की जाती है। मंदिर के निर्माण के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। मंदिर निर्माण के लिए भूमि चयन के विषय में बृहत्संहिता ग्रंथ में कहा गया है कि ब्राह्मण आदि वर्णों को गृह बनाने के लिए जिस प्रकार की भूमि बताई गई है उसी प्रकार की भूमि पर मंदिर बनाने के लिए भी उन वर्णों के लिए वैसे ही भूमि श्रेष्ठ है।

**भूमयो ब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तुकर्मणि।**
**ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि ॥**[1]

किस स्थान पर मंदिर का निर्माण किया जाए। उसके लिए भी कहा गया है कि बहुत जल वाले जलाशय बनाकर और बगीचा लगाकर यश और धर्म के वृद्धि के लिए मंदिर बनाना चाहिए । यथा-

**कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।**
**देवतायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ॥**[2]

जिस सरोवर में कमल रूप छत्र से सूर्य किरण दूर किये गये हों, हंसों के कन्धों से प्रेरित सफेद कमलों से बने हुये मार्गों में निर्मल जल हो, जहाँ हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाक शब्द कर रहे हों और जहाँ पर तट में स्थित निचुल वृक्षों की छाया में जीव विश्राम करते हों , ऐसे सरोवर के समीप मन्दिर निर्माण करना चाहिए-

**सरःसु नलिनीछत्रनिरस्तरविरश्मिषु। हंसांसाक्षिप्तकहारवीथीविमलवारिषु ॥**
**हंसकारण्डवक्रौञ्चचक्रवाकविराविषु पर्यन्तनिचुलच्छायाविश्रान्तजलचारिषु ॥**[3]

जिसका क्रौञ्च पक्षी रूप कांची कलाप, कलहंसों का मधुर शब्द रूप शब्द, तट में स्थित फूले हुये वृक्ष रूप कर्णपूर, जल और थल का संयोग रूप श्रोणी मण्डल, पुलिन रूप उठे हुये स्तन और हंस रूप हास्य है ऐसी नीचे को

---

1. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 9
2. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 1
3. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 4-5

बहने वाली नदियों के समीप मन्दिर निर्माण करना चाहिए। यथा-

**क्रौञ्चकाची कलापाश्च कलहंसकलस्वराः ।**
**नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः ॥**
**फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः सङ्गमश्रोणिमण्डलाः ।**
**पुलिनाभ्युन्नतोरस्या हंसहासाश्च निम्नगाः ॥**[1]

वन, नदी ,पर्वत और झरनों के समीप में तथा उपवनों से युक्त नगरों में मंदिर का निर्माण करना चाहिए-

**वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु । रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवस्तु च ॥**[2]

सम्मार्जन (झाड़ना), लीपना (गाय के गोबर आदि से), सींचना (गोमूत्र, गंगाजल आदि से), खोदना (ऊपर की मिट्टी खोदकर बाहर फेंक देना) तथा गायों को बसाना या ठहराना इन पांच प्रकारों से भूमि की शुद्धि होती है-

**सम्मार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।**
**गवां च परिवासेन भूमिः शुद्धयति पञ्चभिः॥**[3]

मन्दिर वास्तु के लिए भूमि का शोधन आवश्यक होता है। यदि भूमि का शोधन न करके मन्दिर का निर्माण किया जाता है तो मन्दिर अनुकूल नहीं रहता। इसी लिए भूमि शोधन के उपरान्त ही मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसके लिए वास्तु शास्त्र के ग्रंथों में कहा गया है कि मन्दिर निर्माणकर्ता के द्वारा किसी वास्तुशास्त्री विद्वान को प्रश्न पूछना चाहिए और यदि निर्माणकर्ता वास्तुशास्त्र के जानने वाले सामने यदि अ अक्षर का आद्य उच्चारण करता है तो उस भूमि के पूर्व में शल्य होता है। जो वह शल्य होगा वह मनुष्य का होगा। वह डेढ़ हाथ नीचे होता है। यदि इस शल्यभूमि पर मन्दिर का निर्माण कराया जाता है तो वह अशुभकारी होता है-

**पृच्छायां यदि अः प्राच्यां नरशल्यं तदा भवेत् ।**
**सार्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुष्यनाशकृत् ॥**[4]

उसी प्रकार प्रश्नकर्ता का आद्य अक्षर क वर्ण से शुरू होता है तो अग्नि कोण में शल्य होता है। वह जो शल्य होगा वह खरगोश का होगा जो दो हाथ नीचे होता है। उसी प्रकार प्रश्नकर्ता च आद्यवर्ण का उच्चारण करें तो दक्षिण दिशा में शल्य जानना चाहिए। जिसमें मनुष्य का शल्य होता है, जो भूमि से दो हाथ नीचे रहता है। यदि उसमें अगर मन्दिर का निर्माण कराया जाता है तो वह अशुभकारी होता है।[5]

यदि प्रश्नकर्ता का प्रश्न ट वर्ण से प्रारंभ होता है तो भूमि के नैर्ऋत्यकोण में शल्य होता है। वह शल्य कुत्ता का होता है जो भूमि के अंदर डेढ़ हाथ नीचे होता है। प्रश्नकर्ता का आद्य-अक्षर त वर्ण से प्रारंभ होता है तो पश्चिम

1. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 6-7
2. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 8
3. भुवनभास्कर श्लो. 9
4. वास्तुरत्नावली, शल्योद्धाराध्याय, श्लो. 1
5. वास्तुरत्नावली, शल्योद्धाराध्याय, श्लो. 2-3

दिशा में शल्य जानना चाहिए। वह शल्य बालक का होता है अर्थात् बालक की होती है जो भूमि के डेढ़ हाथ नीचे होता है। अगर उस भूमि में मन्दिर का निर्माण कराया जाता है तो वह अशुभकारी होता है।[1]

यदि प्रश्न कर्ता का आदि अक्षर प वर्ण से प्रारंभ होता है तो वायव्य कोण में हड्डी को जानना चाहिए। जिसमें भूसा राख होता है। यह भूमि के चार हाथ नीचे होता है। यदि प्रश्न कर्ता का प्रश्न य वर्ण से शुरू होता है तो उत्तर दिशा में अस्थि अर्थात् हड्डी को जानना चाहिए। वह विप्र की हड्डी होती है जो भूमि में कटि पर्यंत अर्थात् कमर पर्यंत नीचे पाया जाता है। अगर इसमें मन्दिर का निर्माण कराया जाता है तो वह अशुभकारी होता है।[2]

वास्तु शास्त्र के ग्रन्थ विश्वकर्मप्रकाश में कहा गया है कि[3] ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि देवताओं का मंदिर सर्वश्रेष्ठ स्थान तथा उत्तम भूमि पर बनवाना चाहिए। जो भूमि गंध एवं वर्ण में और स्वाद में श्रेष्ठ हो तथा जिसमें अधिक गड्ढे न हो वह भूमि उत्तम होती है। इस तरह भूमि उत्तम देवताओं के देवालय के लिए शुभ होती है। यदि निकृष्ट भूमि पर मंदिर निर्माण किया जाता है तो विपरीत फल प्राप्त होता है, जिसमें भय एवं शोक उत्पन्न होता है।

मंदिर निर्माण के आधारभूत सिद्धांत बताए गए हैं। जिनका पालन कर यदि मंदिर या देवालय का निर्माण किया जाए तो मंदिर के यश में वृद्धि होती है। वास्तु ग्रन्थ में लिखा है कि देवालय का जितना विस्तार हो उससे दूनी ऊँचाई और ऊँचाई की तिहाई कटि होती है। सीढ़ी के ऊपर जहाँ से देवालय का प्रारम्भ होता है उसको कटि कहते हैं। विस्तार के आधा गर्भ शेष सब दिशाओं में भित्ति बनती है। गर्भ के चौथाई के समान द्वार का विस्तार और द्विगुणित विस्तार तुल्य द्वार की ऊँचाई होती है। द्वार की ऊँचाई तुल्य शाखा (चौखट का बाजू) और उदुम्बर (चौखट के ऊपर की लकड़ी) की चौड़ाई होती है। शाखा की चौथाई की चौथाई के तुल्य शाखाओं की मोटाई होती है। शाखाओं की चौड़ाई के बीच में तीन, पाँच, सात या नव शाखायें होने से द्वार श्रेष्ठ होता है। दोनों शाखाओं के नीचे की चौथाई में दो प्रतिहार (नन्दी, दण्ड आदि) की मूर्ति खुदवानी चाहिये। शाखाओं के तीन चौथाई भागों को हंस आदि शुभ पक्षी, बेल, स्वस्तिक (चिह्न विशेष), कलश, स्त्री-पुरुष का जोड़ा, पत्ते और लताओं से शोभित करना चाहिए। द्वार की ऊँचाई में उस का अष्टमांश घटा कर जो बचे उतनी पिण्डिका (देवता स्थापन की पीठिका) को लेकर देव प्रतिमा की ऊँचाई होती है। पीठिका सहित प्रतिमा के ऊँचाई के तीन भाग करे, दो भाग तुल्य ऊँची प्रतिमा और एक भाग के समान पीठिका बनानी चाहिए। यथा-

**यो विस्तारो भवेद्यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः । उच्छ्रायाद्यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता ॥**
**विस्तारार्धं भवेद्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः । गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम् ॥**
**उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्वदुदुम्बरः । विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम् ॥**
**त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते । अधःशाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत् ॥**
**शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृतैः स्वस्तिकैर्घटैः । मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैवोपशोभयेत् ॥**
**द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका । द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांशश्च पिण्डिका ॥**[4]

1. वास्तुरत्नावली, शल्योद्धाराध्याय, श्लो. 4-5
2. वास्तुरत्नावली, शल्योद्धाराध्याय, श्लो. 6-7
3. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 1-2
4. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 11-16

वास्तु देवताओं के लिय बलिदान करके देवालय निर्माण की भूमि को सोलह भाग में विभक्त करना चाहिए। उन सोलह भागों में मध्य के चार भागों में उसका गर्भगृह बनाना चाहिए। साढ़े बारह भागों में मन्दिर के अन्य भागों की कल्पना करे। चार भागों के बराबर मन्दिर की दीवालों की ऊँचाई रखनी चाहिए। उससे दुगुने प्रमाण में शिखरों की ऊँचाई रखनी चाहिए। मन्दिर की भी ऊँचाई के आठवें भाग के बराबर मन्दिर की प्रदक्षिणा की चौड़ाई रखनी चाहिए। वह प्रदक्षिणा चारों ओर के निर्गम स्थानों में बनती है। गर्भमण्डप की चौड़ाई दो गर्भसूत्र (एक गर्भसूत्र लम्बी तथा एक गर्भसूत्र चौड़ी) होती है। गर्भ के भाग के तुल्य द्वार की कल्पना करनी चाहिये। गर्भरूप के समान उसका (द्वारका) मुखमण्डप (द्वार के ऊपर का छोटा गुम्बद) बनाना चाहिए।[1] शिवमन्दिर के विभिन्न भागों के प्रमाण कहा गया है कि जितना प्रमाण लिङ्ग पूजा का हो, उसके अनुसार उसकी पीठिका का निर्माण करना चाहिए। पीठिका के आधे भाग के तुल्य प्रमाण से उस शिवालय की भित्तियों की मोटाई रखें तथा बाहरी भित्ति के तुल्य उसकी ऊँचाई रखना चाहिए। भित्ति की ऊँचाई से दुगुनी ऊँचाई का शिखर बनाना चाहिए। शिखर के चौथाई भाग के तुल्य मन्दिर में प्रदक्षिणा बनवाना उचित होता है। प्रदक्षिणा के समान प्रमाण का अग्रमण्डप होता है, उसका आधा मुखमण्डप होता है। मन्दिर से निकलते हुए दिखें, ऐसे दो कपोत गर्भ के प्रमाण के अनुसार बनवाना चाहिए , जिनकी ऊँचाई भित्ति के समान हो उन कपोतों की मंजरी बनवाएँ। मंजरी के आधे प्रमाण में शुकनासा तथा शुकनासा के माप से आधे प्रमाण में उसके ऊपर वेदीबन्ध बनवाएँ। वेदी के ऊपर जो शेष भाग होता है, वह 'आमलकसार' कहा जाता है। इस प्रकार विभाजन कर सुन्दर शिव मन्दिर बनवाना चाहिए।[2]

अन्य प्रकार से मन्दिर का निर्माण करने की विधि बताई गई है। मन्दिर के गर्भमान को नौ भागों में विभाजित करें। उनके भाग में मध्य में पीठिका की कल्पना करें (जिसमें लिङ्ग स्थापित होता है) उसके चारों ओर शेष 8 खण्डों (पादाष्टक) की कल्पना करें। इनके एक भाग में भित्तियों की चौड़ाई का मान होता है। एक पाद (खण्ड) के पाँच गुना अर्थात् भित्तियों की चौड़ाई से पाँच गुनी भित्तियों की ऊँचाई रखनी चाहिए। भित्तियों की ऊंचाई से दोगुनी शिखर की ऊँचाई होती है। फिर शिखर की ऊँचाई का आधा प्रमाण अथवा चतुर्थांश शुकनासा बनवाना चाहिए। उसके तृतीयांश वेदिका बनवाएं। चतुर्थांश में आमलकसार अर्थात् कण्ठ को बनवाकर कपोलों को दुगुने प्रमाण में बनवाएं और प्रवल्ली एवं अण्डकों से शोभित करे।[3] पुनः अन्य प्रकार से मन्दिर का निर्माण करने की विधि बताई गई है। मन्दिर के चारों और एक पाद (चतुर्थांश) की नेमि का निर्माण करें। नेमि का मान- रथ से दुगुना होता है। इतना ही भितियों की ऊँचाई होती है। उसमें दुगुना शिखर होता है। शिखर का पाँचवाँ भाग प्राग्ग्रीव होता है, जिसे निःश्वास भी कहते हैं। मन्दिर के शिखर को विधिपूर्वक बनवाना चाहिए। उसके निष्क अंश के प्रमाण से शिखर की ग्रीवा को पूर्व की ओर बनवाए। अथवा कर्णमूल के पंचमांश में प्राग्ग्रीव का निर्माण करे।

इस प्रकार से ज्येष्ठ शिखर, मध्यम शिखर तथा कनिष्ठ शिखर ये तीन भेद शिखर के होते हैं। इन तीन प्रकार के शिखरों का निर्माण शिव मन्दिर में स्थापित किए जानेवाले शिवलिङ्ग के अनुपात के अनुसार करना चाहिये। अर्थात् ज्येष्ठ लिङ्ग में ज्येष्ठ शिखर, मध्यम लिङ्ग मे मध्यम शिखर तथा कनिष्ठ लिङ्ग का कनिष्ठ शिखर बनवाना उचित होता है। यथा-

1. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 56-59
2. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 63-69
3. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 70-76

**सामान्यमपरं तद्वत्प्रासादं श्रृणुत द्विजाः। त्रिभेदं कारयेत्क्षेत्रं यत्र तिष्ठन्ति देवताः ॥**
**रथं कृत्वा तु मानेन बाह्यभागविनिर्गतम्। नेमी पादेन विस्तीर्णा प्रासादस्य समन्ततः ॥**
**गर्भ तु द्विगुणं कुर्यान्नेमिमानं भवेदिह। स एवं भित्तिनामुत्सेधो द्विगुणो शिखरो मतः ॥**
**प्राग्ग्रीव पञ्चभागेन निश्वासस्तस्य चोच्यते। कारयेत् शिखरं तद्वत् प्राकारस्य विधानतः ॥**
**प्राग्ग्रीव तस्य मानेन निष्कांशेन विशेषतः। कुर्याद्वा पञ्चभागेन प्राग्ग्रीवं कर्णमूलतः ॥**
**कारयेत्कनकं तत्र गर्भान्ते हारमूलतः। एवं तु त्रिविधं कुर्याज्ज्येष्ठमध्यकनीयसम् ॥**
**लिङ्गमानानुभेदेन रूपभेदेन वा पुनः।**[1]

बृहत्संहिता ग्रंथ में भी मंदिर निर्माण के विधि बताई गई है। कहा गया है कि मन्दिर के निर्माण का विधान मन्दिर का जो विस्तार है, उससे दुगुनी उसकी ऊँचाई होती है। जैसे मन्दिर के मध्य का विस्तार 32 हाथ है तो उसकी ऊँचाई 64 हाथ होगी। ऊँचाई का तीसरा भाग उसका कटिप्रदेश होता है। मन्दिर के विस्तार का आधा (16 हाथ) गर्भ होता है। गर्भ के चारो ओर दीवाल होती है। इसमें एक हाथ भूमि परिक्रमा के लिये रखकर शेष तीन हाथ में दीवाल बनाया जाता है। गर्भ के विस्तार (16 हाथ) मान का चतुर्थांश (4 हाथ) द्वार बनाना चाहिए। द्वार की ऊँचाई 8 हाथ रखना चाहिए। द्वार की ऊँचाई का चतुर्थांश (2 हाथ) शाखा विस्तार होता है। उसी तरह उदुम्बर (शाखा के ऊपर नीचे रखने वाली लकड़ी) भी रखना चाहिए। शाखा का जो विस्तार है, उसके चतुर्थांश शाखाओं की मोटाई होनी चाहिए। वह द्वार 3, 5, 7, 9 शाखाओं से युक्त हो तो उत्तम माना जाता है। शाखाविस्तार यदि 3 से पूरा न हो तो 5 से पूरा करना चाहिए। यदि 5 से भी न हो तो 7 अथवा 9 से पूरा करना चाहिए। शाखा के नीचे का जो भाग है, उसके चतुर्थांश से प्रतीहारों (नन्दी, दण्ड आदि) को रखना चाहिए। शेष तीन भागों में हंस आदि मांगलिक पक्षी, श्रीवृक्ष, वास्तुपुरुष, दो स्वस्तिक घट रखें। लता-पत्र आदि से द्वार की सज्जा करनी चाहिए। द्वार की ऊंचाई का जो अष्टमांश हो, उसको द्वार की ऊँचाई में घटाकर सपिण्डि प्रतिमा बनायें, उसमें भी दो भाग प्रतिमा और एक भाग पिण्डिक होती है।[2]

मन्दिर 64 पद का बनाना चाहिए। उसके सभी दिशाओं के मध्य भाग में द्वारनिर्माण शुभ होता है। 64 पद का विधान बताया गया है, जो इस प्रकार है। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण 9-9 रेखा खींचें, जिससे ६४ कोष्ठक बन जाय। इसमें बीच के चार कोष्ठकों के अन्त से चारो कोण तक 4 तिरछी रेखायें खींचें, इसके बीच में 4 पद ब्रह्मा और बाह्य कोण में 8 देवता (1 आप, 2 आपवत्स, 3 सविता, 4 सचित्र, 5 इन्द्र, 6 जयन्त, 7 राजयक्ष्मा, 8 रुद्र) का अर्धपद है। इसके बाद भी 1 शिखि 2 अन्तरिक्ष, 3 अनिल, 4 पितृ, 5 पाप, 6 यक्ष्मा, 7 रोग, 8 अदिति ये अर्धपद है। इसके आगे 1 पर्जन्य, 2 भृश, 3 भृङ्गराज, 4 दौवारिक, 5 शोष, 6 नाग, 7 अदिति, 8 भृश ये आठ सार्धं पदिक हैं। इनसे अवशिष्ट जो-जो देवता है, ये द्विपदिक है जैसे जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, वितथ, बृहत्क्षत, गन्धर्व, कुसुमदन्त, अम्बुपति, असुर, मुख्य, भल्लाट, सोम, भुजग, अर्यमा, विवस्वान्, मित्र, पृथ्वीधर है। अन्य आचार्यों ने इन्हीं को वास्तुनर भी कहा है। मंदिरों के नाम के ही अनुसार उनके लक्षण होते हैं। बीस प्रकार के मंदिर होते हैं एवं उनके लक्षण भी उन्हीं के अनुसार होता है। बृहद्वास्तुमाला में बीस मन्दिरों के नाम का उल्लेख किया

1. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 76-82
2. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 11-16

गया है। जैसे - 1 मेरु, 2 मन्दर, 3 कैलास, 4 विमानच्छद, 5 नन्दन, 6 समुद्र, 7 पद्म, 8 गरुड़, 9 नन्दिवर्धन, 10 कुञ्जर, 11 गुहराज, 12 वृष, 13 हंस, 14 सर्वतोभद्र, 15 घट, 16 सिंह, 17 वृत्त, 18 चतुष्कोण, 19 षोडशाश्रि, 20 अष्टात्रि ये बीस प्रकार के देवालय होते हैं।[1]

विश्वकर्मप्रकाश नामक ग्रंथ में भी बीस प्रकार के मंदिरों का नाम का उल्लेख किया गया है जो बृहद्वास्तुमाला से भिन्न है। उनका भी यहाँ उल्लेख पर किया जा रहा है।

**एते सामान्यतः प्रोक्ता नामतः शृणुताधुना ।**
**मेरुमन्दरकैलासकुम्भगजमृगास्तथा ॥**
**विमानच्छन्दकं तद्वत् चतुरस्त्रस्तथैव च ।**
**अष्टास्त्रः षोडशास्त्रश्च वर्तुलः सर्वभद्रकः ॥**
**गरुडो नन्दनश्चैव नन्दिवर्धन एव च ।**
**सिंहो वृषः सुवर्णश्च पद्मकोऽथ समुद्रकः ॥**
**प्रासादानामतः प्रोक्ता विभागं शृणुत द्विजाः ।**[2]

बीस प्रकार के मंदिरों के जो लक्षण बताए गए हैं वे भारत सहित विश्व में कहीं न कहीं किसी रूप में अवश्य ही पाए जाते हैं। वास्तुशास्त्र के अनुसार इन 20 प्रकार के मंदिरों का वर्णन प्राप्त होता है। मंदिर निर्माण के जो आधारभूत सिद्धांत है वह बहुत ही विस्तृत एवं व्यापक है जिनका विस्तृत उल्लेख करना संभव नहीं है परंतु सूक्ष्म रूप से उनका उल्लेख किया गया है।

❖ ❖ ❖

1. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 17-19
2. विश्वकर्मप्रकाश, षष्ठोऽध्याय, श्लो. 83-85

# श्रीमहाकालज्योतिर्लिङ्ग का सामाजिक,सांस्कृतिक एवं वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन

**– डॉ. देशबन्धु**
**– डॉ. मन्जुला मौर्या**
**– डॉ. जगदीश कुमार**

भारत सम्पूर्ण संसार में आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक विकसित राष्ट्रों में से एक है। भारत के इसी आध्यात्मिक विकास ने संसार के आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों के नागरिकों को सदैव आकर्षित किया हैं। इसके प्रमाण के रूप में वर्ष भर विदेशी पर्यटकों का भारत के प्राचीन मन्दिरों में अवलोकनार्थ/दर्शनार्थ आना लगा रहता है। यह शोध पत्र भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित बृहत्शोध परियोजना के अन्तर्गत महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग पर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से किए गए शोध कार्य के निष्कर्ष के रूप में है। इस शोध पत्र में सर्वेक्षण विधि, साक्षात्कार विधि तथा प्रश्नोत्तर विधि के माध्यम से श्री महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वास्तुशास्त्रीय पक्ष का अध्ययन किया गया है।

मन्दिरों की आरम्भ से ही भारतीयों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मन्दिरों के माध्यम से धर्म के प्रति आस्था रखने वाले लोग एवं इनके अटूट विश्वास ही मूर्तरूप में धार्मिक मान्यताओं को जन्म देते है,जो पीढी दर पीढी आगे बढती रहती है। धर्म, दर्शन और नैतिकता के एक मूर्त प्रतीक के रूप में मन्दिरों की किसी भी अन्य संस्थान की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका है।मन्दिर की संरचनाएं अपने परिसर के आस-पास के परिवेश को भी प्रभावित करती हैं । वस्तुतः मन्दिर पारम्परिक मूल्यों के संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं। मन्दिर के आस-पास विकसित हुए नगर विभिन्न प्रकार की गतिविधियों के केन्द्र बन जाते है । मन्दिर द्वारा दैनिक अनुष्ठान सम्पन्न करने वाले लोगो के एक समूह जैसे-पूजारियों, ब्राह्मणों, कथावाचकों, स्थपतियों, मूर्तिकारों, नर्तकों, संगीतकारों,माली और अन्य पदाधिकारियों को सुनिश्चित रूप से जीविका प्राप्त होती हैं। मन्दिर में आयोजित होने वाले विविध उत्सव भी सामाजिक हर्षोल्लास का कारण बनते हैं। इन उत्सवों में भाग लेने हेतु असंख्य लोग एकत्रित होते हैं । ये उत्सव कई दिनों तक चलने वाले मेलों के रूप में मनाये जाते हैं। इन उत्सवों में विविध प्रकार के व्यापार करने वाले बड़े - छोटे व्यापारी वस्तु विनिमय हेतु एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार मन्दिर को आधार बनाकर ये स्थान एक भव्य आध्यात्मिक नगरी के रूप में विकसित हो जाते हैं। अवन्तिका भारत की ऐसी ही प्राचीन आध्यात्मिक नगरी है। अवन्तिका अथवा उज्जयिनी को मन्दिरों की नगरी कहा जाता है। यह नगरी महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग के लिए प्रसिद्ध है। महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग मध्यप्रदेश राज्य के उज्जैन में शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। उज्जयिनी को सात मोक्षदायिनी नगरियों में से एक माना जाता है। यथोक्तम्-

**काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि ।**
**मथुरावन्तिका चैता: सप्तपुर्योऽत्र मोक्षदा: ॥**[1]

शिवमहापुराण में प्राप्त कथानुसार आध्यात्मिक नगरी उज्जयिनी में भगवान शिव का प्राकट्य महाकाल के रूप में दुष्ट दूषण नाम के राक्षस का नाश करने के लिए तथा शिव भक्त ब्राह्मणों की रक्षा के लिए हुआ था। कहा गया है–

**महाकाल: समुत्पन्नो दुष्टानां त्वादृशामहम् । खल त्वं ब्राह्मणानां हि समीपाद्दूरतो व्रज ॥**
**इत्युक्त्वा हुङ्कृतेनैव भस्मसात्कृतवांस्तदा । दूषणं च महाकाल: शङ्कर: सबलं द्रुतम् ॥**[2]

भगवान शिव का यह स्वरूप उग्र माना जाता है। मन्दिर परिसर में एक मन्दिर निम्नतल पर स्थित है, जिसको महाकालेश्वर लिङ्ग कहा जाता है और द्वितीय तल पर ओंकारेश्वर लिङ्ग है। ब्रह्म मुहूर्त में महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग की प्रसिद्ध भस्म आरती की जाती है। ऐसा वर्ष में प्रतिदिन किया जाता है।[3] उज्जैन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। साहित्य एवं पुरातात्विक अवशेषों के अनुसार इस नगरी का लगभग 2000 वर्ष का इतिहास ज्ञात होता है। शिक्षण के साथ-साथ यह नगरी खगोलीय और गणितीय अनुसन्धान केन्द्र के रूप में भी विकसित हुई। ना केवल हिन्दू अपितु बौद्ध और जैन मतावलम्बियों के सांस्कृतिक केन्द्र के संरक्षक के रूप में भी यह नगरी विख्यात है।[4] महाकाल मन्दिर में भी वर्षभर विविध सांस्कृतिक गतिविधियों का सम्पादन होता है।

## सांस्कृतिक दृष्टि से महाकाल मन्दिर का अध्ययन

महाकाल मन्दिर में समय-समय पर सम्पन्न होने वाली विविध सांस्कृतिक गतिविधियां धार्मिक उत्सव के रूप में परिणत हो गई है। महाकाल मन्दिर में सम्पन्न होने वाले ये धार्मिक उत्सव उज्जयिनी नगरी की परम्परा के अभिन्न अङ्ग है। इन परम्पराओं एवं धार्मिक उत्सवों के बिना उज्जैन की संस्कृति की परिकल्पना करना भी सम्भव नही है।[5] उज्जैन में मनाए जाने वाले भगवान महाकाल से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण मेलों एवं उत्सवों में कुम्भमेला, महाशिवरात्रि, शिवनवरात्रि, कार्तिकमेला, पंचक्रोशीयात्रा, भाद्रपद मास में निकाली जाने वाली महाकाल की सवारी,आदि प्रमुख उत्सव एवं पर्व समाहित है।[6] इन समस्त सांस्कृतिक गतिविधियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

### कुम्भ मेला–

उज्जयिनी में आयोजित होने वाला सबसे प्रमुख उत्सव "कुम्भ महापर्व" है। कुम्भ महापर्व हिन्दुओं के सबसे महत्वपूर्ण पर्वों में से एक है। उज्जयिनी का कुम्भ महापर्व शिप्रा नदी के तट पर मनाया जाता है। स्कन्द पुराण में कहा गया है, जहां भगवान महाकाल है, मोक्षदायिनी पावन शिप्रा नदी है। ऐसी उज्जयिनी नामक पवित्र नगरी में किसे निवास करना अच्छा नही लगेगा, अर्थात् यह उत्तम निवास स्थली भी है। जो मनुष्य इस पवित्र शिप्रा नदी में

1. स्कन्दपुराण,काशीखण्डपूर्वार्ध-अध्याय-६/श्लोक-६८
2. शिवपुराण-कोटिरूद्रसंहिता-अध्याय-१६/३८-३९
3. Gangashtty.R. (2019) A Guide to Holy Temples and Thirtha Kshetras in India Notion Press.121-134
4. Pal.M.K .(2014). Ujjain:The City of Temples, Niyogi Books, New Delhi p.no-20
5. महाकाल शिखर श्रीयन्त्र,पृष्ठ-18
6. क्षेत्र सर्वेक्षण-दिनाङ्क- 28/12/2023

स्नान करके भगवान महाकाल के दर्शन-पूजन करता है, वह मृत्यु के बन्धन में बंधकर शोक नही करता, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतः महाकाल क्षेत्र का महत्त्व अक्षुण्ण है, जो कीट, पतङ्गा भी यहां शरीर का त्याग करता है,वह भी इस पावन क्षेत्र में देह त्यागने मात्र से भगवान शिव का अनुचर बन जाता है। यथोक्तम्–

**महाकालः सरिच्छिप्रा गतिश्चैव सुनिर्मला ।**
**उज्जयिन्यां विशालाक्षि वासः कस्य न रोचयेत् ॥**
**स्नानं कृत्वा नरो यस्तु महानद्यां हि दुर्लभम् ।**
**महाकालं नमस्कृत्य नरो मृत्युं न शोचयेत् ॥**
**मृतः कीटः पतङ्गो वा रुद्रस्यानुचरो भवेत् ॥**[1]

गंगा दशहरा, कार्तिक पूर्णिमा, वैशाख पूर्णिमा और सूर्य ग्रहण जैसे अवसरों पर शिप्रा नदी में स्नान का अत्यन्त महत्त्व है, परन्तु कुम्भ महापर्व के अवसर पर शिप्रा में स्नान करना अत्यन्त पुण्यदायक माना जाता है।[2] उज्जयिनी के कुम्भ महापर्व को सिंहस्थ भी कहा जाता है। इस महापर्व में देश तथा विदेश से आए अनेकों तीर्थयात्री पवित्र शिप्रा नदी में स्नान करते हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष के अनेकों साधु अपने-अपने अखाड़ों के सहित स्नान करने के लिए कुम्भ महापर्व के समय उज्जयिनी में समाहित होते हैं। उज्जयिनी के अतिरिक्त हरिद्वार, प्रयागराज तथा नासिक में भी कुम्भ महापर्व का आयोजन होता है।[3]

**महाशिवरात्रि–**

कुम्भ महापर्व के अतिरिक्त महाशिवरात्रि उज्जयिनी का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव है। महाकालेश्वर मन्दिर में महाशिवरात्रि बहुत उत्साह से मनाई जाती है। ऐसी मान्यता है कि भगवान शिव के निराकार स्वरूप के प्रतीक "लिङ्ग" का प्राकट्य इसी पावन तिथि की रात्रि में हुआ था और सर्वप्रथम ब्रह्मा और भगवान विष्णु ने इस लिङ्ग का पूजन किया था। इसी कारण यह रात्रि शिवरात्रि के नाम से विख्यात हो गई। एक अन्य मान्यता के अनुसार, इस दिन को भगवान शिव और माता पार्वती की विवाह तिथि के रूप में भी मनाया जाता है।[4]

**शिव-नवरात्रि–**

श्री महाकालेश्वर मन्दिर में महाशिवरात्रि से पूर्व शिव नवरात्रि का पर्व अत्यन्त उत्साह के साथ मनाया जाता है। शिव नवरात्रि या महाकाल नवरात्रि के समय बाबा महाकाल का आकर्षक श्रृंगार किया जाता है। जिस प्रकार शक्ति की आराधना हेतु देवी नवरात्रि का पर्व मनाया जाता है, उसी प्रकार भगवानशिव की साधना के लिए शिव नवरात्रि का विधान है। महाकालेश्वर मन्दिर में इस समय नौ दिनों तक अर्थात् फाल्गुन कृष्ण पंचमी से फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी तक देवाधिदेव महादेव और माता पार्वती के विवाहोत्सव को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है। महाकाल नवरात्रि के पर्वकाल में लघुरुद्र, महारुद्र, अतिरुद्र, रूद्राभिषेक, शिवार्चन, हरिकीर्तन इत्यादि का आयोजन किया जाता है। यद्यपि महाशिवरात्रि का यह पर्व प्रत्येक शिवालय में मनाया जाता है, किन्तु महाकाल मन्दिर में इस पर्व

1. स्कन्दपुराण-अवन्तिखण्ड-26/17-19
2. Pal.M.K .(2014). Ujjain:The City of Temples.P-98.Niyogi Books.New Delhi
3. Samanta.D.K. (1997). Sacred Complex of Ujjain.P (106-111) D.K.Printworld (P) Ltd.New Delhi
4. महाकाल शिखर श्रीयन्त्र,पृष्ठ-17

की अलग ही छटा होती है।[1]

**महाकाल सवारी-**

महाकाल मन्दिर में मनाये जाने वाले प्रमुख उत्सवों में महाकाल की सवारी एक महत्त्वपूर्ण उत्सव हैं, जो उज्जयिनी में उत्साहपूर्वक मनाया जाता है । इस उत्सव में भगवान महाकाल अपने भक्तों से मिलने के लिए पालकी में सवार होकर नगर का भ्रमण करते हैं। श्रावण मास में प्रत्येक सोमवार को भगवान महाकाल की सवारी निकाली जाती है, इस उत्सव का आयोजन सायंकाल में 4 बजे से 7:00 बजे के मध्य किया जाता है। कार्तिक मास के प्रत्येक सोमवार के साथ ही साथ विजयादशमी के दिन भी इसी प्रकार की सवारी निकाली जाती हैं। श्रावण मास के अन्तिम सोमवार को महाकाल की शाही सवारी निकलती है। राज्य के राजपत्र में इस दिन को पर्व के रूप में मान्यता प्राप्त है।[2]

**पंचक्रोशी यात्रा–**

यह पंचक्रोशी यात्रा उज्जैन में वर्ष का अंतिम महत्वपूर्ण उत्सव माना जाता है। 84 महादेवों की 118 किमी लंबी तीर्थयात्रा पौराणिक युग से ही लोकप्रिय रही हैं। स्कन्दपुराण[3] के अनुसार, पंचक्रोशीयात्रा "कृष्णपक्ष की एकादशी" से आरम्भ होनी चाहिए, जो मान्यतानुसार वैशाख महीने में पड़ती है। यह यात्रा पांच दिनों तक चलती है और प्रतिवर्ष सहस्रों लोग इस यात्रा में प्रतिभाग करते हैं। पंचक्रोशी यात्रा के पश्चात् तीर्थयात्री शिप्रा नदी में स्नान करते हैं और इसके तट पर अष्टतीर्थों (आठ तीर्थ स्थानों) के दर्शन करते हैं। पंचक्रोशी यात्रा युग-युग से भारतीय धार्मिक और मन्दिर संस्कृति की परम्पराओं को चिन्हित करने वाली निरन्तरता और अटल आस्था को पुष्ट करती है।[4]

**माच (Maach): मालवा का सदियों पुराना लोक-नाट्य**

"माच" मध्यप्रदेश का एक प्रमुख एवं प्राचीन लोक नाट्य है और ऐतिहासिक निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि "माच" मूल रूप से एक संगीतमय नाटक है, जहां नर्तकों का एक समूह कई पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कथाओं का नाटकीय प्रतिनिधित्व करने के साथ गीत, गायन और नृत्य करता हैं। "माच" कथाओं के माध्यम से सम्बन्धित ऐतिहासिक, पौराणिक और धार्मिक पात्रों के अभिनय द्वारा दर्शको के साथ शक्ति, वैभव, अन्याय और हिंसा जैसे सामाजिक पहलुओं पर चर्चा करता है।"माच" के माध्यम से उज्जैन के इतिहास, महत्त्व और भगवान महाकाल की कथाओं का प्रचार-प्रसार किया जाता है।[5]

एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उज्जैन के मन्दिरों ने विशेषतः महाकाल मन्दिर ने यहाँ की कला, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत, नृत्य, उत्सव, मेले, मूल्यों, लोक संस्कृति तथा परम्पराओं को संरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है ।

**महाकाल मन्दिर तथा महाकाल लोक कॉरीडोर का सामाजिक तथा आर्थिक महत्त्व**

मन्दिरों का समाज में उनकी सांस्कृतिक भूमिका के साथ-२ सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण

1. महाकाल शिखर श्रीयन्त्र ,पृष्ठ-17
2. महाकाल शिखर श्रीयन्त्र -18
3. स्कन्दपुराण-आवन्त्यखण्ड (अवन्तीक्षेत्र माहात्म्य),पृष्ठ-966
4. Pal.M.K .(2014). Ujjain:The City of Temples.P-(106).Niyogi Books.New Delhi
5. Trivedi.M.(2021) Maach:Malwa's Centuries-old Folk Theatre Form.Sahapedia

स्थान है। शोधपत्र के इस अंश में उज्जैन के मन्दिरों की विशेष रूप से महाकाल ज्योतिर्लिंग की सामाजिक-आर्थिक भूमिका का विश्लेषण किया गया है। महाकाल मन्दिर परिसर में निर्माण तथा सौन्दर्यीकरण की परम्परा आरम्भ से चली आ रही है। इसी क्रम में मध्यप्रदेश सरकार द्वारा मन्दिर के समीप महाकाल लोक नामक कॉरीडोर का निर्माण किया गया है। श्रीमहाकाल लोक कॉरिडोर आस्था, श्रद्धा तथा परम्परा के साथ-साथ आधुनिक तकनीक के माध्यम से श्रद्धालुओं को सुगम दर्शन का एक अनूठा अनुभव प्रदान करता है। इस कॉरिडोर कीभव्यता और सौन्दर्य ना केवल आगंतुकों को मंत्रमुग्ध कर देती है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सांस्कृतिक विरासत भी है। यह कॉरिडोर ना केवल लोगों को संस्कृति एवं परम्परा से जोडता है, अपितु उज्जैन को धार्मिक पर्यटन के केन्द्र के रूप में विकसित कर रहा है। इस के निर्माण के उपरान्त नगर में अजीविका के असंख्य अवसर उत्पन्न हुए है, जिससे नगर की अर्थव्यवस्था तीव्र गति से विकसित हो रही है। यह नवनिर्मित कॉरिडोर आधुनिकता और परम्परा के सङ्गम का एकजीवंत उदाहरण है।[1] महाकाल लोक कॉरिडोर परियोजना के प्रथम चरण में उज्जैन की स्थापत्य शैली के निदर्शन भी दृष्टिगोचर होते हैं। जिनमें से त्रिवेणी मंडपम् और मानसरोवर सुविधा केन्द्र प्रमुख हैं, जो प्राचीन मन्दिर वास्तुकला से प्रभावित हैं। त्रिवेणी मंडपम् और मानसरोवर सुविधा केन्द्र एक छायादार क्षेत्र है, जहां लोग विश्राम करते हैं तथा मन्दिर दर्शन की प्रतीक्षा करते हैं। इसे उज्जैन के पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए डिजाइन किया गया है।[2] महाकाल कॉरीडोर के निर्माण के समय मन्दिरपरिसर से सम्बन्धित मार्गों, वृक्षों के साथ-२ नदी तथा झील काभी जीर्णोद्वार किया गया है।[3]

## महाकाल लोक कॉरिडोर में सार्वजनिक सुविधाएं

तीर्थयात्रियों के लिए महाकाललोक कॉरिडोर में अनेक सार्वजनिक सुविधाएं उपलब्ध है। वाहनों के लिए पार्किंग की व्यवस्था त्रिवेणी संग्रहालय के पास ही है। पार्किंग क्षेत्र में आगन्तुकों के लिए विश्राम स्थल और शौचालय भी है। नवीकरणीय ऊर्जा के उपयोग के लिए इस परिसर में 400 किलोवॉट क्षमता कासौर संयंत्र भी स्थापित किया गया है। सौर पैनल न सिर्फ बिजली उत्पन्न करते हैं, अपितु पार्किंग में स्थित वाहनों को छाया भी प्रदानकरते है। परिसर में २० ई-रिक्शा पार्किंग के लिए एक सुनिश्चित स्थान है, इन ई-रिक्शा के लिए चार्जिंग स्टेशन भी स्थापित है।कई श्रद्धालुओं ने मन्दिर को दान स्वरूप ई-रिक्शा भी भेंट की है। इन दान दाताओं में दैनिक भास्कर, SBI (Yono) जैसे हितधारकों के नाम भी है। इसी परिसर के प्लाजा क्षेत्र में अनेकों दुकानें हैं, जिनमें पूजन सामग्री सहजता से उपलब्ध हो जाती है। यहां के मुख्य प्रसादरूप में (लड्डू और पंचमेवा) के साथ भस्म आरती का प्रसाद भी मन्दिर परिसर में पैकेट में उपलब्ध है। इस कॉरीडोर के उद्घाटन के पश्चात् भगवान महाकाल के दर्शन हेतु आने वाले भक्तों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। कॉरीडोर निर्माण के कारण प्रसाद, पूजन सामग्री आदि की बिक्री करने वाले छोटे दुकानदारों को अत्यधिक लाभ हुआ है।"[4]

1. Mahakaal Lok: Sri Mahakaal Maharaaj Mandir Parisar Vistar Yojna (A project by Ujjain smart city Ltd. & IPE Global).
2. Ajit. A. & Rajput. A.S. (2023) Project Interventions Creating Nexuses for Local Identity- Case Study of Mahakaal MahalokDevelopment in Ujjain City
3. Article published in Indian Express (2022) titled "Reviving Rudrasagar: Turned into sewer, how Mahakal corridor project rescued this ancient lake".
4. क्षेत्र सर्वेक्षण-27/12/2023

**धार्मिक पर्यटन एवं आर्थिक क्षेत्र में वृद्धि**

महाकाल एवं जूना महाकाल मन्दिर का द्वार उद्घाटन श्रद्धालुओं तथा तीर्थयात्रियों के लिए प्रातः लगभग 4.30 बजे किया जाता है तथा रात्रि 11 बजे तक मन्दिर के कपाट खुले रहते हैं। इसीकारण मन्दिर परिसर के आस-पास का बाजार भी प्रातःकाल से लेकर अर्धरात्रि तक श्रद्धालुओं, भक्तजनों, ती र्थयात्रियों तथा ग्राहकों से भरा रहता है। इस क्षेत्र में प्रातः से रात्रि तक चहल-पहल बनी रहती है। भोजन, अल्पाहार हेतु दुकानें देर रात्रि तक भी खुली रहती है। भगवान महाकालेश्वर के दर्शन हेतु अधिकतर भक्तजन सपरिवार तथा मित्र-सम्बन्धियों के साथ आते हैं। प्रत्येक सप्ताहांत में प्रायः 2 लाख श्रद्धालु उज्जैन के महाकालेश्वर मन्दिर में दर्शनार्थ आते हैं, जिससे धार्मिक पर्यटन में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है।[1] महाकालेश्वर मन्दिर प्रबंध समिति (M.T.M.C) के सहायक प्रभारी ने बताया कि "कॉरीडोर के उदघाटन के बाद भक्तों की संख्या कई गुना बढ़ गई है। पहले यह हर दिन लगभग 25,000 से 40,000 हुआ करती थी,परन्तु अब आगंतुकों की संख्या प्रतिदिन लगभग एक लाख तथा सप्ताहान्त में लगभग 1.50 लाख से दो लाख के आस-पास हो जाती है। उन्होंने यह भी बताया कि मन्दिर में भक्तों की भारी भीड़ के कारण दान, प्रसाद की ब्रिक्री और दर्शन शुल्क के माध्यम से राजस्व में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। यह चार गुना तक बढ़ गया है।"[2]

**महकाल मन्दिर समिति द्वारा संचालित होने वाली विभिन्न संस्थाएं–**

**धर्मशाला एवं विश्रामगृह सुविधा**– मन्दिर समिति द्वारा मन्दिर के भीतर तथा बाहर अनेक धर्मशालाओं का संचालन किया जाता है। इन धर्मशालाओं में बोर्डिंग की सुविधा कम लागत पर उपलब्ध है। पद्मभूषण पं० सूर्यनारायण व्यास अतिथि निवास भी इन्ही धर्मशालाओं में से एक है। इस धर्मशाला का विशाल परिसर हरसिद्धि मन्दिर से घिरा हुआ है। यहां ठहरने हेतु कक्ष की बुकिंग ऑनलाइन तथा ऑफलाइन दोनों ही माध्यमों से कर सकते है। यहां निवास हेतु उत्तम कक्ष सामान्यदर पर उपलब्ध है। धर्मशाला में श्रद्धालु अन्नक्षेत्र में निःशुल्क चलने वाले भण्डारे के कूपन भी प्राप्त करते हैं।[3]

**अन्नक्षेत्र**– महाकाल मन्दिर में देश-विदेश से आने वाले भक्तों के लिए मन्दिर समिति द्वारा निःशुल्क अन्नक्षेत्र का संचालन किया जाता है। प्रतिदिन तीन से पांचहजार श्रद्धालु यहां भगवान महाकाल का महाप्रसाद ग्रहण करते हैं । अन्नक्षेत्र के निदेशक ने बताया "भारतवर्ष के कई मन्दिरों में बड़े-२ अन्न क्षेत्र हैं, जहां भक्तों को भगवान का प्रसाद निःशुल्क प्राप्त होता है,परन्तु उज्जैन के महाकालेश्वर मन्दिर का अन्नक्षेत्र तकनीक और सुविधाओं की दृष्टि से सबसे उन्नत है। 25 करोड रूपये की लागत से निर्मित इस विशाल अन्नक्षेत्र में प्रतिदिन सहस्रों श्रद्धालु भोजन ग्रहण करते हैं। इस अन्न क्षेत्र के लिए कोयम्बटूर, चेन्नई और अहमदाबाद सहित देश के पांचराज्यों से मशीनें खरीदी गई हैं। इन मशीनों की सहायता से सब्जी, रोटी, दाल आदि खाद्य सामग्री का निर्माण किया जाता है। भोजन के पश्चात् पात्र प्रक्षालन (बर्तन धोने) का कार्य भी मशीनों द्वारा किया जाता हैं। भोजन के लिए निःशुल्क कूपन दिये जाते है, जिसे मन्दिर परिसर तथा धर्मशालाओं से प्राप्त किया जा सकता है।"[4]

1. क्षेत्र सर्वेक्षण-28/12/2023
2. In-person interview of Mohit Thakur M.M.T.C. Incharge on24/12/2023
3. https://shrimahakaleshwar.com
4. In-person interview of Milind Vyas director of Annakshetra on 25/12/2023

**गुरुकुल**– भारतीय परम्परा में मन्दिर प्राचीन वैदिक ज्ञान के संरक्षण और संवर्धन के प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है। श्री महाकालेश्वर मन्दिर प्रबंध समिति ने वेदों के संरक्षण, संवर्धन एवं वैदिक विज्ञान पर अनुसंधान हेतु 28 अगस्त 2008 को श्री महाकालेश्वर वैदिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गई।[1] भारत सरकार के पूर्व उपप्रधानमंत्री माननीय श्रीलालकृष्ण अडवाणी तथा मध्य प्रदेश शासन के माननीय मुख्यमंत्री श्रीशिवराजसिंह चौहान की अध्यक्षता में श्रीमहाकालेश्वर वैदिक प्रशिक्षण एवं शोध संस्थान की स्थापना की गई। इस शोध संस्थान द्वारा वर्तमान में महर्षि पतंजलि संस्कृत संस्थान,भोपाल से सम्बन्धित होकर (उत्तर मध्यमा) 12 वीं तक का पठन-पाठन करवाया जा रहा है। वर्तमान में चिन्तामन जवासिया स्थित वृहद क्षेत्रफल में शोधसंस्थान का प्रशासनिक भवन, शैक्षणिकभवन, छात्रावास, पुस्तकालय, क्रीडाक्षेत्र, अधिकारियों/कर्मचारियों के लिए आवास हेतु भवन निर्मित किए गए है। इस संस्थान के पाठ्यक्रम में गणित, वैदिकगणित,भारतीयसंस्कृति, खगोलविज्ञान, पर्यावरण- अध्ययन, संस्कृतसम्भाषण, ज्योतिष, दर्शन, व्याकरण, प्राचीन एवं नव्यन्याय, साहित्य, वेद, योगविज्ञान, धर्मशास्त्र, पौरोहित्य, आयुर्विज्ञान, हिन्दी, अंग्रेजी तथा संगणकविज्ञान (Computer) इत्यादि विषयों को समाहित किया गया है। प्राचीन एवं नव्य पाठ्यक्रम के सामञ्जस्य का मुख्य उद्देश्य परिवर्तित होते परिवेश में छात्रों का सर्वांगीण विकास करना है।[2]

**गौशाला**– चिन्तामन क्षेत्र में ही जहां आवासीय गुरुकुल स्थापित है, वही संस्थान परिसर में मन्दिर समिति के द्वारा गौशाला का भी संचालन किया जाता है। प्राचीनकाल से ही भारत में आवारा गायों के लिए सामाजिक गौशालाओं की परम्परा रही हैं। कई श्रद्धालु भी मन्दिर समिति को दान के रूप में गाय भेंट करते हैं। इस चिन्तामन गौशाला में गायों के रख-रखाव की अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था है। इस गौशाला की गायों से प्राप्त दूध से ही भगवान महाकाल का अभिषेक किया जाता है और साथ ही प्रसाद बनाया जाता है तथा आवासीय छात्रावास में रहने वाले छात्रों को भी पीने हेतु दिया जाता है।[3]

**महाकालेश्वर मन्दिर का वास्तुशास्त्रीय अध्ययन-**

भारत में मध्यप्रदेश के उज्जयिनी का नागर शैली में महाकाल मन्दिर अपनी वास्तुकला एवं सौन्दर्य के लिए भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है । इसकी गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की जाती है । किसी भी मन्दिर का वास्तुशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए उसके निम्नलिखित प्रमुख अङ्गों का विश्लेषण किया जाता है।भूमिचयन, जगती, गर्भगृह, प्रतिमा, मण्डप, शिखर, द्वार, इन्द्रधवज। महाकाल मन्दिर का इन्हीं मापदण्डों पर वास्तुशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत शोध पत्र में किया गया है।

1. **भूमिचयन-** वास्तुशास्त्र में सर्वप्रथम मन्दिरनिर्माण हेतु उत्तम भूमि के लक्षण बताये गये है । इस सन्दर्भ में जो भूमि चारों दिशाओं से नीची (अवनत) तथा मध्य भाग से ऊँची (उन्नत) हो, वह मन्दिर निर्माणार्थ श्रेष्ठ भूमि कही जाती है। तथा जिस भूमि के चारों दिशाओं में जल का प्रवाह हो। पूर्व,उत्तर व ईशान कोण में जो भूमि

1. श्री महाकालेश्वर वैदिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान वार्षिक पत्रिका-२०२२-२३
2. In-person interview of Dr. Piyush Tripathi director of Gurkul on 26/12/2023
3. क्षेत्र सर्वेक्षण-30/12/2023

नीची हो अथवा इन तीनों दिशाओं में जल का प्रवाह हो, इस प्रकार की भूमि मन्दिर निर्माण के लिए उत्तम मानी जाती है।तद्यथा-

**सर्वविक्षु प्रवाहो व प्रागुदकशंकरप्लवाम् । भूमिं परीक्ष्य संसिंचेत् पंचगव्येन कोविद: ॥**[1]

यह मन्दिर सप्तपुरियों में एक सुप्रसिद्ध स्थान महाकाल वन (अवन्तिका) पुरी में स्थित है तथा इसके उत्तर की ओर शिप्रा नदी बहती है।[2] अत:यह मन्दिर वास्तुसम्मत भूमि पर बना है ।

कोटि तीर्थ कुण्ड-महाकालेश्वर मन्दिर परिसर में उत्तर दिशा की ओर कोटि तीर्थ नामक एक बृहत् कुण्ड है।कुण्ड का निर्माण सर्वतोभद्र शैली में किया गया है। कुण्डकेसोपानों के निकट परमारकालीन मूर्तिकला की भव्यता के दर्शन होते है।कुण्ड के पूर्व में एक बृहत् बरामदा है,जिसमें गर्भगृह की ओर जाने वाले मार्ग का द्वार है। यहां से नगाडा गेट को भी एक मार्ग जाता है,जो गुप्त मार्ग है। जिसका उद्घाटन नन्दी मण्डप में होता है । इस कुण्ड के चतुर्दिक् छोटे-२ तीस मन्दिर विद्यमान है तथा भित्तियों पर शिव कथाओं का सुन्दर चित्रण दृष्टिगोचर होता है। तद्यथा-

महाकाल मन्दिर एक परकोटे के भीतर स्थित है तथा मन्दिर का प्राङ्गण बहुत विशाल है। जिसमें अनेक छोटे एवं बडे शिव और अन्य देवी देवताओं के मन्दिर विद्यमान है। इस प्राङ्गण के मध्यभाग में महाकालेश्वर भगवान शिव का मुख्य मन्दिर स्थापित किया गया है। मन्दिर का क्षेत्रफल-10.77x10.77वर्गमीटर है तथा इसकी उंचाई-28.71मीटर है।[3] यह मन्दिर तीन तलों में बनाया गया है, जिसमें प्रथम तल परमहाकालेश्वर भगवान का सुप्रतिष्ठित ज्योतिर्लिंग विराजमान है। इस मन्दिर का विशेष महत्त्व है । प्रचीन भारत की यह नगरी "ग्रीनविच" नाम से विख्यात है। समुद्रतल की सतह से इसकी ऊँचाई 1658 फीट हैतथा देश के मानचित्र पर उत्तरी अक्षांश पर-23.9 औरपूर्वी रेखांश- 74.75पर विराजमान है।[4] इसकी इस विशेषता के कारण यह कालगणना का केन्द्र बन गई। प्राचीन काल में यह नगरी शिप्रा के दोनो ओर

**महाकाल मन्दिर का चित्र**

1. प्रासादमण्डन-प्रथम अध्याय,श्लोक-12
2. महाकालशिखर श्रीयन्त्र--पृष्ठ-39
3. द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग-पृष्ठ-52
4. https://www.bhaskar.com//news/mp-ujj-mat-latest-ujjain-news-053006-2311017-nor.html

बसी हुई थी, जिसके मध्य में शिप्रा नदी प्रवाहित होती थी।[1] ओंकारेश्वर द्वितीय तल से लेकर नागचन्द्रेश्वर के शिखर पर्यन्त इस मन्दिर की सम्पूर्ण लम्बाई-95 फीट है। इसकी चौडाई- 47.10 फीट तथा ऊंचाई- 94.19 फीट है।[2]

**2. जगती-** मन्दिर के निर्माण के लिए चयनित आधार भूमि को 'जगती' इस नाम से जाना जाता है। इसे सामान्य भाषा में किसी मन्दिर का आधार भी कह सकते है। जैसे सिंहासन पर विराजमान होने के लिए राजा अथवा अधिकारी के लिए एक निश्चित स्थान का चयन किया जाता है,उसी प्रकार मन्दिर निर्माण के लिए सुनिश्चित भूभाग को जगती कहा जाता है। यथोक्तम्-

**जगती चित्र**

**प्रासादानामधिष्ठानं जगती सा निगद्यते । यथा सिंहासनं राज्ञः प्रासादस्य तथैव सा ॥**

जगती के भेद- जगती सामान्यतया पाँच प्रकार की होती है- 1.समचौरस (वर्गाकार), 2.लम्बचौरस (आयताकार), 3.अष्टकोणीया (आठकोने वाली) 4.गोलाकारा (वृत्ताकार), 5.लम्बगोलाकारा (वृत्तायताकार) । वास्तुशास्त्र के अनुसार मन्दिर की आकृति के अनुरूप ही जगती का निर्माण किया जाना चाहिए । इस विषय में सूत्रधारमण्डन कहते है-

**चतुरस्रायताष्टास्रा वृत्ता वृत्तायता तथा । जगती पञ्चधा प्रोक्ता प्रासादस्यानुरूपतः ॥**

देवालय की ऊंचाई के प्रमाण के अनुसार भी जगती स्थापित की जा सकती है। उदाहरणार्थ एक से द्वादश हस्त प्रमाण की ऊंचाई वाले मन्दिर में उसके अर्ध प्रमाण की जगती का निर्माण करना चाहिए। तेरह से बाईस हस्त प्रमाण की ऊंचाई वाले देवालय में मन्दिर की ऊँचाई के ही तृतीय भाग के तुल्य जगती का निर्माण किया जाता है। तेईस से लेकर बत्तीसहस्त प्रमाण की ऊँचाई वाले देवालय में जगती का मान मन्दिर के चतुर्थ भाग पर्यन्त रखना चाहिए तथा तैंतीस से पचास हस्त प्रमाण की ऊँचाई वाले मन्दिर में इसके पांचवें भाग की ऊँचाई पर्यन्त जगती का निर्माण करना चाहिए।

**महाकाल मन्दिर की जगती**– मन्दिर की जगती वह भाग होता है, जिस पर मुख्य मन्दिर का निर्माण किया गया हो। इस मन्दिर के भूतल में स्थित जगती का आकार-वर्गाकार है, जिसकी लम्बाई-17 फीटऔर चौडाई-17 फीट तथा द्वितीय तल पर विराजमान ओंकारेश्वर की जगती का आकार आयताकार है। यह लम्बाई में-96.1फीट है, तथा चौडाई- 49 फीट है ।

**3. गर्भगृहनिर्माण-** मन्दिर में अपने आराध्य देव की प्रसन्नता हेतु जिस मुख्य स्थान पर भगवान् ब्रह्मा-विष्णु-शिव

1. महाकाल की निवासस्थली उज्जैन- पृष्ठ- 41
2. सर्वेक्षण डायरी-30/12/2023

और उनके सपत्नीक स्वरूपों की तथा अन्य देवी-देवताओं की साकारया निराकार स्वरूप में धातु-पत्थर या मिट्टी से बनी प्रतिमायें स्थापित की जाती है, वहस्थान विशेष वास्तुशास्त्र में "गर्भगृह" कहलाता है। यथोक्तम्-

**हरेर्हरस्य धातुर्वा तद्देवीनामनेकधा । आधारासनसंयुक्तं स्थानं गर्भगृहं मतम् ॥**

जैसे दर्शनशास्त्रानुसार मानवशरीर में जीवात्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा जाता है, उसी प्रकार वास्तुशास्त्र में मन्दिररूपी शरीर में प्रतिमा को उसकी प्राण-शक्ति के रूप में जाना जाता है। जैसे सभी प्राणियों में जीवात्मा भिन्न-२ प्रकार की होती है, उसी प्रकार मन्दिरों के गर्भगृह में स्थापित की जाने वाली प्रतिमायें भी भिन्न-२ प्रकार की होती है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गर्भगृह का लक्षण, परिमाप आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। गर्भगृह के निर्माण से पूर्व मन्दिर की भूमि को समतल किया जाता है।तत्पश्चात् उस क्षेत्र का दश भागों में विभाजन करके २-२ भागों में भित्ति (दीवार) का निर्माण किया जाता है। जो शेष 6 भाग बचते है, उसमें गर्भगृह का निर्माण किया जाता है। यथोक्तम्-

**चतुरस्री कृते क्षेत्रे दशभागविभाजिते । भितिर्द्विभागं कर्तव्यं षडभागं गर्भमन्दिरम् ॥**

महाकाल मन्दिर का गर्भगृह- वर्तमान महाकालेश्वर मन्दिर तीन मंजिला है। जो प्रथम,द्वितीय तथा तृतीय तल पर क्रमशः निचले, मध्य और ऊपरी तल के रूप में जाना जाता है। मुख्य महाकाल मन्दिर का गर्भगृह भूतल पर स्थित है, जहां स्वयम्भू ज्योतिर्लिङ्ग स्थापित है। इस की जलहरी के जल का निर्गम पूर्वदिशा में है, यह ज्योतिर्लिङ्ग दक्षिणाभिमुखी है। गर्भगृह के पूर्वी भाग में भव्य त्रिशूल,जलहरी के परकोटे के समीप ही स्थापित किया गया है। यह अष्टधातु से निर्मित है तथा चाँदी से आवृत किया गया है। मन्दिर के गर्भगृह के सभी द्वारों पर चांदी के पत्रक मण्डित है। गर्भगृह की छत पर रुद्रयन्त्र स्थापित है। इसके विषय में मान्यता है कि यह अकाल मृत्यु से भक्तों की रक्षा करता है। इस लिङ्ग की जलहरी नाग देवता से परिवेष्टित है। जिसके एक ओर विघ्नहर्ता गणेश, दूसरी ओर माता पार्वती तथा तीसरी ओर स्वामी कार्तिकेय की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यहाँ अखण्ड ज्योति के रूप में तेलदीपक तथा घृतदीपकनिरन्तर प्रज्वलित रहते हैं।

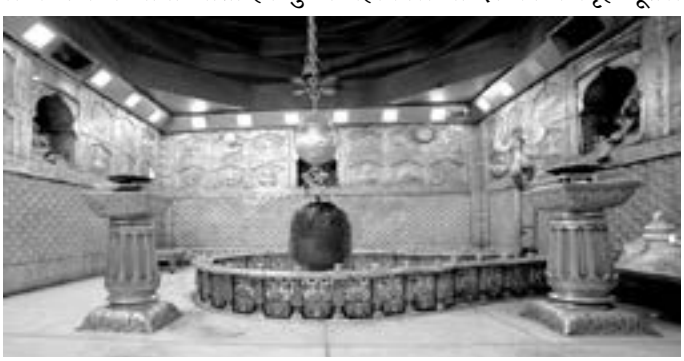

मुख्य ज्योतिर्लिङ्ग- मन्दिर के गर्भगृह में महाकालेश्वर स्वरूप में3 फीट ऊंचा तथा 6 फीट घेरे वाला काले रंग का सुन्दर शिवलिङ्ग है। यह चांदी की जलहरी से सुसज्जित है । जो परिमाप में लगभग-16 फीट घेरे में है। चांदी से मढ़ी हुई नाग जलहरी और गर्भगृह की छत को ढकने वाली चांदी मन्दिर की भव्यतामें वृद्धि करती है। गर्भगृह की भित्तियों पर भगवान शिव की स्तुतियां प्रदर्शित की गई है।

महाकाल मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार आकृति में निर्मित है। इसमें प्रवेश एवंनिर्गम हेतु दोद्वार है। पूर्व में श्रद्धालु गर्भगृह में प्रविष्ट होकर भगवान महाकाल के दर्शन करते थे, परन्तु वर्तमान में लाखों श्रद्धालु प्रतिदिन मन्दिर आते हैं, जिससे केवल नन्दी मण्डप से ही दर्शनों का प्रावधान है।

- **गर्भगृह का द्वार**– गर्भगृह मन्दिर के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भागों में से एक है। गर्भगृह में ही देवता का निवास होता है। गर्भगृह के द्वार निर्धारण के विषय में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। गर्भगृह के समक्ष प्रथम द्वार निर्माण किया जाना चाहिए, उसके बाद तीन पांच तक की संख्या में भी उपयोगिता की दृष्टि से द्वार स्थापित किये जा सकते हैं। मनीषियों ने तीन संख्या के द्वारों को "ग्राम्य संज्ञक" कहा है।

**समनेत्रं समद्वारं द्वारपञ्चकभासुरम्। द्वारत्रयसमायुक्तं ग्राम्यमाहुर्मनीषिणः ।।**

वास्तुशास्त्रानुसार गर्भगृह के वाम एवं दक्षिण भाग की शाखाओं पर द्वारपाल स्थापित करने का विधान है। इन द्वारों का विस्तार दो राजदण्डके व्यासमान से किया जाना चाहिए। उपर्युक्त मान से दोगुणा अथवा तीन गुणा ऊँचाई रखने का विधानहै। तद्यथा-

**तस्मानद्विगुणंवापि तस्मानत्रिगुणं वा । गर्भगृहस्य दैर्घ्यन्तु कल्पयेच्छिल्पवित्तमः ॥**

गर्भगृह का निर्माण वर्गाकार किया जाता है। उसमें भद्र, सुभद्रतथा प्रतिभद्रों की रचना फालनीय स्थान में की जाती है। आयताकार गर्भगृह दोषप्रद माना जाता है। यथोक्तम्-

**मध्ये युगास्रं भद्राढयं शुभदं प्रतिभद्रकम् । फालनीयं गर्भगृहं दोषदं गर्भमायतम् ॥**

महाकाल मन्दिर के गर्भगृह का द्वार दक्षिणाभिमुखी है। इसी से भक्तजन उत्तराभिमुखी होकर नन्दी मण्डप से गर्भगृह में स्थित महाकाल भगवान के दर्शन करते हैं।इस द्वार पर चांदी के पत्रकचढायें गये हैं। इसकी चौडाई-4 फीट तथा ऊँचाई- 9 फीट है। इसके सामने नन्दी मण्डप है। इस द्वार पर भगवान महाकाल का प्रिय वाहन नन्दी तथा सुन्दर पुष्प, स्वस्तिक, कलश कुम्भ, नाग, डमरू, ओंकार, त्रिशूल इत्यादि शिव से सम्बन्धित माङ्गलिक चिह्नों को चांदी की धातु में अङ्कित किया गया है ।

4. **मण्डप विस्तार-** अमरकोष के अनुसार "मण्डप" शब्द का प्रयोग पुल्लिंग और नंपुसकलिंग दोनों में किया जाता है। यह स्त्रीलिंग में प्रयुक्त नहीं होता। यथोक्तम् - "मण्डयोऽस्त्री जनाश्रयाः ॥" इसका अर्थ है "लोगों को आश्रय प्रदान करने वाला एक निश्चित स्थान।"

महाकाल मन्दिर के मण्डप- इसमन्दिर मेंअनेक संवृत (विशाल) मण्डपस्थापित किये गए है- जिनमें मानसरोवरमण्डप, कार्तिकेयमण्डप, गणेशमण्डप, नन्दीमण्डप, सभामण्डप तथा मुख्यमण्डप है। इनमें से पैदल मार्ग द्वारा यात्री महाकाल मन्दिर के गर्भगृह में दर्शनार्थ पहुंचते हैं। ये अत्यन्त ही सुन्दर व विशाल बनाए गए है। इनका

वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन इस प्रकार है।

**4.1. मानसरोवर मण्डप-** सर्वप्रथम यात्री मुख्य प्रवेश द्वार से इस मण्डप में एकत्रित होते हैं। इसमें रैलिंग के माध्यम से भीड़ को नियन्त्रित करने के लिए अनेक परकोटे बनाये गए है, जो घुमावदार है। जिसमें से एक-२ करके प्रत्येक पङ्कित में 25-25 यात्री एक साथ अग्रिम परकोटे में प्रवेश करते हुए "महाकाल की जय" यह जयघोष करते हुए आगे बढ़ते हैं। इस मण्डपके प्रारम्भिक व अन्तिमभाग में सुरक्षाकर्मीनियुक्त किये गए हैं, जो भीड़ को सूचना देने व नियन्त्रित करने का कार्य करते हैं। परिसर में स्थान-स्थान पर "सीधा प्रसारण" महाकाल मन्दिर के गर्भगृह से कैमरों के माध्यम से टी.वी. पर प्रदर्शित किया जाता है। इस मण्डप की लम्बाई- 65 फीट, चौड़ाई-95 फीट व ऊँचाई-17 फीट है। इसमें विशाल आकार वाले-31 स्तम्भ स्थापित है। प्रत्येक स्तम्भ का परिमाप- गोलाई में-7.5 फीटहै। इसमें एक विशालप्रवेश द्वार विद्यमान है, जिसका मुख पश्चिमदिशाभिमुखी है।

**4.2. कार्तिकेय मण्डप-** मानसरोवर मण्डप से होते हुए मार्ग में ही हनुमान जी का मन्दिर है, जिसमें से दर्शनार्थी आगे बढते हुए कार्तिकेय मण्डप में पूर्व दिशामुखी द्वार से प्रवेश करते है। इस मण्डप में विकलाङ्ग श्रद्धालुओं के दर्शन हेतु सुन्दर व्यवस्था है। इसके समक्ष ही अधोतल पर नन्दी मण्डप एवं गणेश मण्डप है। शिवरात्रि, शिवनवरात्रि इत्यादि उत्सव वाले दिनों में अत्यधिक भीड होने की स्थिति में कार्तिकेय मण्डप से दर्शन की सुविधा प्रदान की जाती है। इसकी लम्बाई- 55 फीट, चौडाई-51 फीट तथा ऊँचाई-23 फीट है। स्तम्भों की संख्या 6 है, जिनमें प्रत्येक की गोलाई- 8.2 फीट है । इसका चित्र

**4.3. गणेश मण्डप-** कार्तिकेय मण्डप से होते हुए क्रमशः यात्री अधोतल पर सोपानों के माध्यम से गणेश मण्डप में पहुँचते हैं। जिसमें से एक मार्ग राजनेताओं तथा विशेष अधिकारियों हेतु नगाडा गेट पर सीधे नन्दी मण्डप के वाम भाग में उद्घाटित होता है। द्वितीय मार्ग साक्षात् महाकाल मन्दिर के गर्भगृह के समक्ष उद्घाटित होता है, जहां से भक्तों को ज्योतिर्लिंग दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। गणेश मण्डप की लम्बाई-41 फीट, चौडाई-50फीट व ऊँचाई-20 फीट है। इसमें स्तम्भों की संख्या 10 है। जिनका परिमाप-गोलाई-8.2 फीट है।

**4.4. सभा मण्डप-** महाकाल मन्दिर के कोटितीर्थ कुण्ड के ऊपर सभा मण्डप है। मुख्य पुजारी सभा मण्डप के गुप्त मार्ग से गर्भगृह में प्रवेश करते हैं। यहां महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग के श्रृंगार और आरती की सज्जा की जाती है। समय आने पर गुप्त द्वार को खोला जाता है तथा मुख्य पुजारी भीतर प्रवेश करते हैं। इस मण्डप से भी सीधे ज्योतिर्लिङ्ग के गर्भगृह द्वार, नगाडागेट तथा गणेश मण्डप में पहुँचा जा सकता है। इस मण्डप से बाहर जाने का भी एक मार्ग है। यहां दीर्घायु और असाध्य रोगों के शमन हेतु महामृत्युंजय जप किया जाता है ।

**4.5. नन्दी मण्डप-** गर्भगृह के सामने नन्दी मण्डप है। यह मण्डप उत्तराभिमुखी है तथा चांदी सेनिर्मित है। यह काले पत्थर से निर्मित परकोटे पर स्थापित है। यहां पङ्कित में स्थित होकर एक साथ 15-20 भक्त भगवान महाकाल के दर्शन करते है। गर्भगृह में मन्दिर समितिकार्यालय के अधिकारियों के आदेश के बिना प्रवेश वर्जित है,साथ ही नियमानुसार भारतीयवेशभूषा (पुरुष-धोती-कुर्ता और महिलाएं-साडी-दुपट्टा) धारण करके अनुमति सहित दर्शन कर सकते है। इस मण्डप की लम्बाई- 45 फीट, चौडाई-52 फीट तथा ऊंचाई-22 फीट है। इसके स्तम्भ - 8.5 फीट की गोलाई के परिमाप वाले है।

5. **शिखर विधान-** जिस प्रकार राजा के सिर पर मुकुट होताहै, उसी प्रकार देवालयों की छत पर शिखर होता है। सामान्य भाषा में गर्भगृह की छत पर चारो ओर से आवृत्तगुम्बद "शिखर"कहलाता है।

   महाकाल मन्दिर का शिखर-इस मन्दिर का शिखर नागर शैली में निर्मित है, जो वास्तु का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इसमें कुल मिलाकर 118 शिखरों का निर्माण किया गया है, जिन पर 16 किलोग्राम सोने की परत चढाई गई है। ये सभी शिखर एक दूसरे से पर्वत की भान्ति जुडे हुए हैं, जिनके संयुक्त होने पर क्रमशः एक बहुत ही सुन्दर आकृति वाले शिखर का निर्माण होता है। इनके अग्रभाग में ओंकार का चिह्न है। इसका चित्र-

6. **इन्द्रध्वज निरूपण-** इन्द्रध्वज मन्दिर स्थापत्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके बिना कोई भी देवालय पूर्ण नही होता है। रामायण-महाभारतकाल में भी शक्रध्वजोत्थान महोत्सव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। अतः यह एक प्राचीन परम्परा है। इसके स्थापन काल में शक्र (इन्द्र) आदि अभीष्ट देवताओं की स्तुति की जाती है। उनकी प्रसन्नता से मनोकामनाओं की सिद्धि होती है। ध्वजोच्छ्रिति का अर्थ है इन्द्रध्वज का उत्थान। समराङ्गण सूत्रधार में अध्याय 17 में लगभग 200 श्लोकों में इसके निर्माण सम्बन्धी विशेष वर्णन प्राप्त होता है। किसी भी नये कर्म, दुर्गकर्म, प्रासादकर्म, अग्निकर्म या भक्ष्यपानादि कार्यों में इन्द्रध्वज स्थापन एक आवश्यक अङ्ग है।

**इन्द्रध्वज का चित्र**

**महाकाल मन्दिर काध्वज-** इस मन्दिर के शिखर पर सूर्यचक्र बना हुआ है,जो सुवर्ण से निर्मित है। शिखर का कलश भी सुवर्णमण्डित है। इसके साथ ही अष्टधातु से बना एक लघु इन्द्रध्वज भी इसके एक छोर पर स्थापित है। जो लगभग-11 फीट के परिमाप का है। इसके साथ ही एक लोहनिर्मित इन्द्रध्वज भी है। जिसमें भगवा (केसरिया) रंग का ध्वज है। इस ध्वज पर ओंकार अङ्कित है।

**मुख्य द्वार का चित्र**

7. **प्रवेश द्वार विधान-** प्रवेश द्वार मन्दिर में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।जो स्थान मानव शरीर में मुख का है, वहीं स्थान मन्दिर में द्वार का है।

चारों दिशाओं में द्वार स्थापन का फल- पूर्व दिशा में तृतीय (जयन्त) पद, चतुर्थ (इन्द्र) पद में द्वार स्थापन वास्तुसम्मत है। अन्य पदों पर द्वारस्थापन अशुभ फलद कहा गया है। यथोक्तम्-

**अनिलभयं स्त्रीजन्म प्रभूतधनता नरेन्द्रतोपलब्धिः ।**

**क्रोधाधिकत्वमनृतं क्रौधं च्चौर्यं क्रमात्पूर्वे ॥**

पश्चिमदिशा में आठ पदों में से तृतीय (सुग्रीव), चतुर्थ (पुष्पदन्त) तथा पंचम (वरुण) पद में द्वार स्थापन वास्तुसम्मत है। अन्य पदों में अशुभ फलद है। जैसे-

**सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत् ।**
**धनसम्पत्तिनृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे ॥**

उत्तरदिशा में आठ पदों में से तृतीय (मुख्य), चतुर्थ (भल्लाट) तथा पंचम (सोम) के पद पर द्वार स्थापन वास्तुसम्मत है। अन्य पदों पर द्वारस्थापन अशुभफलद है दक्षिण दिशा में आठ पदों में से चतुर्थ (बृहत्क्षत्) पद पर द्वारस्थापन वास्तुसम्मत है। अन्य पदों पर अशुभफलद है। जैसे-

**अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः ।**
**रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन ॥**

**महाकाल मन्दिर का प्रवेश द्वार-** प्राचीन काल में मन्दिर का द्वार उत्तर दिशा में था, जिससे श्रद्धालु मन्दिर में प्रवेश करते थे, परन्तु समय के साथ-२ इस ज्योतिर्लिङ्ग में श्रद्धालुओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण चारों दिशाओं मे चार द्वार निर्मित किये गए है, उनमें भी मन्दिर में प्रवेश हेतु मुख्य द्वार नैर्ऋत्याभिमुखी है। जब भक्तजन महाकाल के दर्शनार्थ गर्भगृह में प्रवेश करते है, तो उनका मुख ईशान की ओर होता है। इसका विस्तार-32 फीट एवं ऊँचाई-35 फीट है। यह लोहनिर्मित है। इसकी छत पर चांदी से निर्मित गज की आकृति अङ्कित है तथा दो नन्दी परस्पर एक दूसरे की ओर मुख किए बैठे है। जिनके मध्य में शिवलिङ्ग है। जो स्वर्णमय छत से आवृत है।

**ओङ्कारेश्वरमहादेव का वास्तुशास्त्रीय अध्ययन-** सभा मण्डप से बाहर आते ही महाकाल मन्दिर के दूसरे तल पर ओंकारेश्वर महादेव का मन्दिर है। मन्दिर के विशाल प्राङ्गण की सतह के बराबर गर्भगृह में भगवान शंकर का लिङ्ग है, जिसे "ओङ्कारेश्वरमहादेव" कहा जाता है। यह मुख्य महाकालेश्वर मन्दिर के ऊपर स्थित है। यहां पाषाण के अनेक स्तम्भ है। इसके गर्भगृह में पूर्वाभिमुखी शिवलिङ्ग स्थापित है तथा जलहरी उत्तरदिशाभिमुखी है, जो चांदी से आवृत्त है। इसके समक्ष पूर्वाभिमुखी मुख्यद्वार है। जिसका द्वार अन्दर की तरफ उद्घाटित होता है। यह मन्दिर पूरे समय खुला रहता है। सभी श्रद्धालु यहां आकर दर्शन व महादेव का अभिषेक करते है।

- **नागचन्द्रेश्वर मन्दिर-** महाकाल मन्दिर के तृतीय तल पर नागचन्द्रेश्वर मन्दिर है। जो वर्षभर में केवल एक दिन नाग पंचमी को ही उद्घाटित होता है। यहां के पुजारी से साक्षात्कार में ज्ञात हुआ कि यहां एक सफेद रंग का सर्प रहता है,जो नागराज तक्षक का रूप माना जाता है तथा अनेको बार उसके दर्शन हुए है। यहां विश्व की एकमात्र प्रतिमा है, जहां सर्पशय्या पर शिव-पार्वती विराजमान है। इस प्रतिमा के विषय में मान्यता है कि ये प्रतिमा लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है। ऐसी अद्वितीय प्रतिमा पूरे विश्व में अन्यत्र नही है। इनके साथ विघ्नहर्ता गणेश-प्रतिमा विद्यमान है। इस मन्दिर का निर्माण शिव भक्त राजा भोज ने 1050 ई. में किया था। कालक्रम में विधर्मियों ने इस मन्दिर को ध्वस्त कर दिया,परन्तु 17 वीं सदी में सिंधिया महाराज ने इसका पुनर्निर्माण करवाया था । नाग पंचमी के दिन लगभग दो लाख से ज्यादा श्रद्धालु सर्पशय्या पर विराजित शिव-पार्वती के

दर्शनों हेतु आते हैं ।

**निष्कर्ष-**

सर्वेक्षण काल में एकत्रित किए गए आंकड़ो का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ कि अवंतिका या उज्जयिनी वास्तव में हिन्दू रीति-रिवाजों को आकार देने वाले हर पक्ष को प्रदर्शित करती है। इस नगरी के विकास तथा विस्तार के केन्द्र में भगवान महाकाल ही है। उज्जैन के सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिदृश्य को व्यक्त करते हुए यह अध्ययन मन्दिर संस्कृति के अन्य पक्षों जैसे-शिप्रानदी, त्यौहार, उत्सव, यात्राएं, तपस्वियों एवं साधूओं की सभाएं आदि सूक्ष्म पक्षों को भी प्रकाशित करता है। सर्वेक्षण आधारित यह शोध दर्शाता है कि उज्जैन का महाकाल मन्दिर और तीर्थस्थल केवल आध्यात्मिक अभयारण्य नहीं है, अपितु आर्थिक रूप से तीव्र गति से विकसित क्षेत्र के रूप में उभर रहा है। महाकाल मन्दिर, उज्जैन के नगरों और कस्बों में रहने वाली जनसंख्या को भी आजीविका प्रदान कर रहा है। ऐसे धार्मिक स्थल केवल आस्था के भंडार नहीं है, वे आर्थिक महाशक्तियां है, जो अपने आस-पास के क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पक्ष को निरन्तर विकसित करने का कार्य कर रही है। इसके साथ-साथ वास्तुशास्त्र की दृष्टि से कृत शोध से यह ज्ञात होता है कि यह मन्दिर न केवल पत्थर, रेत, लोहा, काष्ठ इत्यादि का सम्मिश्रण है, अपितु जन-२ की आस्था और सामाजिकता को भी दर्शाता है।इसके प्रत्येक अङ्ग के निर्माण में सूक्ष्मता से वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुकरण किया गया है । जो यहां दर्शन करने वाले श्रद्धालुओं के साथ-साथ इस क्षेत्र को भी लाभान्वित कर रहा है। देवालयों की स्थाप्ना, प्रतिष्ठा तथा पूजन से सभी प्रकार के पापों का शमन होता है । यथोक्तम्-

**देवानां स्थापनं पूजा पापहृद्दर्शनादिकम् । धर्मवृद्धिर्भवेदर्थः कामो-मोक्षस्ततो नृणाम् ॥**

इस प्रकार महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस मन्दिर की वास्तुकला विश्व भर के पर्यटकों को आकर्षित करती है। इस मन्दिर में

समय-समय पर मनायें जाने वाले उत्सव तथा विविध कार्यक्रम उस क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार है। देश से ही नहीं, अपितु विश्व भर से आने वाले असंख्य श्रद्धालुओं से ज्ञात होता है कि महाकाल मन्दिर में लोगों की आस्था अटूट है । इस स्थान पर आने वाले श्रद्धालुओं से हुए साक्षात्कार से ज्ञात हुआ कि मन्दिर में आने वाले प्रत्येक श्रद्धालु के मन में भगवान महाकाल के प्रति अगाध विश्वास तथा आस्था है तथा श्रद्धालुओं ने भगवान महाकाल के दर्शनोपरान्त उनके जीवन में आने वाले विविध सकारात्मक परिवर्तनों की चर्चा भी की।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-**


1. भारतीयस्थापत्य, डा.द्विजेन्द्रनाथशुक्ल, प्रथमसंस्करण-1968 ,हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ
2. मानसार,सम्पादक/प्रसन्न कुमार,ओरियण्टल बुक प्रिंट कारपोरेशन, दिल्ली-1997 ई०
3. प्रासादमण्डन, सम्पा०/व्या०/डा.श्रीकृष्ण जुगनू, प्रथमसंस्करणम्-2005,परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 81-71-10-270-0
4. द्वादश ज्योतिर्लिंग,सम्वत् -2079,चतुर्थ पुनर्मुद्रण,गीताप्रेस गोरखपुर
5. महाकाल की निवासस्थली उज्जैन,बनवारीलाल कंछल,छठासंस्करण,सन्-2023,मनोजपब्लिकेशन्स,दिल्ली,978-81-310-2347-1
6. अपराजितपृच्छा, सम्पा०/पोपटभाई अम्बाशंकर मन्कड, सन् -1950, आरियन्टल इंस्टीट्यूट बडोदरा
7. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्,विश्वकर्माकृत/अनुवाद-मिहिरचन्द्र, संस्करणम्-1998 ई०, खेमराजकृष्णदास मुम्बई
8. समराङ्गणसूत्रधार, सम्पा०/टी०गणपति शास्त्री, सन्-1929 ई०, गायकवाड संस्कृत ग्रन्थमाला केन्द्रीय पुस्तकालय बडोदरा क्र०.25
9. बृहत्संहिता, सम्पा०/सुधाकरद्विवेदी, संस्करणम्- 1996 ई०, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्व- विद्यालय,बनारस
10. स्कन्द पुराण,सम्वत्-2080 छत्तीसवां पुनर्मुद्रण,गीताप्रेस गोरखपुर
11. अन्तर्जालस्रोत
12. https://shrimahakaleshwar.com
13. Trivedi.M.(2021) Maach:Malwa's Centuries-old Folk Theatre Form. Sahapedia
14. अमरकोश,अमरसिंहः, निर्णय-सागर-मुद्रणालयः, मुम्बई,सन्- 1961
15. महाकाल शिखर श्रीयन्त्र, प्रकाशन-दैनिकभास्कर,10/11,Bakhtawara marg,ghadilwala complex,Freeganj,Ujjain
16. Gangashtty.R. (2019) A Guide to Holy Temples and Thirtha Kshetras in India Notion Press.
17. Pal.M.K .(2014). Ujjain:The City of Temples.Niyogi Books.New Delhi

18. Samanta.D.K.(1997). Sacred Complex of Ujjain.P(106-111)D.K.Printworld(P) Ltd.New Delhi

19. Mahakaal Lok: Sri Mahakaal Maharaaj Mandir Parisar Vistar Yojna (A project by Ujjain smart city Ltd. & IPE Global).

20. Ajit. A. & Rajput. A.S. (2023) Project Interventions Creating Nexuses for Local Identity- Case Study of Mahakaal MahalokDevelopment in Ujjain City

21. Article published in Indian Express (2022) titled "Reviving Rudrasagar: Turned into sewer, how Mahakal corridor project rescued this ancient lake".

❖ ❖ ❖

# महाभारतीय वास्तुसन्दर्भ विमर्श

**– डॉ शुभम् शर्मा**

महाभारत इतिहासग्रन्थ है और भारतीय ज्ञानपरम्परा का विश्वकोष भी, तभी तो इसे पञ्चम वेद कहा गया। स्वाभाविक रूप से इसमें अन्य विषयों के साथ ही वास्तु की चर्चा भी मिलेगी। भूमिचयन के पश्चात् सर्वप्रथम वास्तुकर्म है सूत्रपात। बिना सूत्रपातन के भूमि पर मानचित्र स्थापित नहीं हो सकता। यह सूत्रपात शुभकाल तथा उचित स्थान पर करना चाहिए। यथा विश्वकर्मवास्तुशास्त्र का कथन है-

**शस्ते मासे सिते पक्षे ह्यतीते चोत्तरायणे।**
**ताराचन्द्रबले चैव योगे चामृतसम्भवे ॥**
**सूत्रपातस्तु कर्तव्यः प्राची साध्यः ततो भवेत्।**[1]

इसी ग्रन्थ में निमित्त अर्थात् शकुन की भी चर्चा है। तदनुसार शुभशकुन होने पर सिद्धि और विजय की प्राप्ति होती है तथा महोत्सव होते रहते हैं, किन्तु अशुभ शकुन होने पर स्वाभाविकतः इसके विपरीत फल होने से एक पद भी आगे न बढ़ाना चाहिए-

**शुभेषु प्रस्थिते सिद्धिर्विजयः स्यान्महोत्सवः। अशुभेषु निवर्तेत न गच्छेत् पदमग्रतः॥**[2]

ऐसे प्रमुख वास्तुनियमों के दर्शन हमें महाभारत के प्रारम्भ में ही हो जाते हैं। महाभारत के कथानक की भूमिका में है जनमेजय का नागयज्ञ। यहीं यज्ञारम्भ के पूर्व ही यज्ञशाला निर्माण के मध्य ही विघ्न करने वाला अपशकुन प्रकट हो गया। वास्तुशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् एवं अनुभवी सूत्रधार शिल्पवेत्ता सूत ने वहाँ आकर कहा कि जिस स्थान और समय में यह यज्ञमण्डप मापने की क्रिया प्रारम्भ हुई है, उसके अनुसार एक ब्राह्मण को निमित्त बनाकर यह यज्ञ पूर्ण न हो सकेगा-

**निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा । यज्ञस्यायतने तस्मिन् क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥**
**स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः। इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥**
**यस्मिन् देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता। ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः॥**[3]

यहाँ सूत को सूत्रधार कहा गया है। सूत्रधार चार प्रधान शिल्पियों में से द्वितीय है। जिसका लक्षण है-

सुनामा दृढबुद्धिश्च वास्तुविद्याब्धिपारगः।

---

1. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 52/01-02
2. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 51/02
3. महाभारत-आदिपर्व- 51/14,15,16

**स्थपतेस्तस्य शिष्यो वा सूत्रग्राही सुतोथवाऽवा ॥ सूत्रदण्डप्रपातज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्॥**[1]

आगे इन्द्रप्रस्थ की स्थापना वेदव्यास के नेतृत्व में करने का उल्लेख व्यास को स्थपति सिद्ध करता है और सूत उनके शिष्य हैं। वे ख्यात भी हैं, वास्तुकर्म के ज्ञाता भी हैं, तो सूत्रदण्डपातन के विशेषज्ञ और मानोन्मान को जानने वाले भी हैं, अतः यहाँ सूत्रधार के पूर्वोक्त लक्षण पूर्णतः घटित हो रहे हैं।

महाभारत की कथा प्रारम्भ से अन्त तक हस्तिनापुर के सन्निकट यात्रा करती है। यह हस्तनापुर पुरों में वैसे ही श्रेष्ठ कहा गया है, जैसे धर्मविदों में भीष्म।[2]

## द्रोण का प्रेक्षागार

जब कुरुवंशी राजकुमार सुशिक्षित हो गये तब राजा की अनुमति के पश्चात् उनके कौशलप्रदर्शन के निमित्त आचार्य द्रोण ने एक विशाल प्रेक्षागार बनाया-

**भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम्॥ समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम्।..**
**रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि॥ प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः।..**
**मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः। विपुलानुच्छ्रयोपेतान्..।।**[3]

पहले भूमि का विधिवत् मापन करके समतल और वृक्ष, गुच्छे आदि से रहित तथा उत्तर की ओर ढलान वाली भूमि पर सुमुहूर्त में वास्तुपूजन किया गया तथा इस रङ्गभूमि पर शिल्पियों ने विशाल प्रेक्षागार (दर्शकदीर्घा) का निर्माण किया गया। वहाँ पुरवासियों के बैठने हेतु ऊँचे और विशाल मञ्च बनाये गये।

रङ्गभूमि का चयन वास्तुशास्त्र के निर्देशों के अनुरूप ही है। विश्वकर्मा के अनुसार समतल भूमि सभी वर्णों के लिए शुभ कही गयी है।[4] इसी प्रकार पूर्व, ईशान तथा उत्तर दिशाओं में प्लव अर्थात् ढलान भी शुभकारक है।[5]

## लाक्षागृह की वास्तुयोजना

यद्यपि लाक्षागृह के निर्माण का हेतु पाण्डवों का नाश था, तथापि उसका बाहरी स्वरूप अत्यन्त सुन्दर और वास्तुसम्मत था। दुर्योधन ने पुरोचन को वारणावत में ही नगर के निकट एक ऐसा भवन तैयार कराने की आज्ञा दी, जो चतुश्शाल अर्थात् चारों दिशाओं में कक्ष वाला हो तथा सब ओर से सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन खर्च करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिए। सन तथा राल आदि, जो ज्वलनशील द्रव्यों को उसकी दीवारों में लगवाने तथा घी, तेल, चर्बी तथा अत्यधिक मात्रा में लाख को मिट्टी में मिलवाकर उस से दीवारों को लिपवाने का निर्देश भी दिया। साथ पाण्डवों हेतु विविध दिव्य आसन, यान तथा शय्या की व्यवस्था का भी निर्देश दिया-

**तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् । नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥**
**शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् । आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय॥**

1. मयमत- 5/18-19
2. सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम्। महाभारत-आदिपर्व- 108/24
3. महाभारत-आदिपर्व- 133/08-12
4. महाभारत-आदिपर्व- 133/08-12
5. पूर्वप्लवे भवेल्लक्ष्मीः ..। उत्तरे वंशवृद्धिः स्यादीशाने रत्नसञ्चयः।। विश्वकर्मप्रकाश- 2/15-16

**सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया। मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय।।**
**आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च।**[1]

दुर्योधन की इस योजना में भूमि (नगरोपान्त्य), प्रासाद (चतुःशाल), यान तथा शयन, इस चतुर्विध वास्तु[2] की चर्चा मिलती है।

**सुरङ्ग वर्णन**

लाक्षागृह प्रसङ्ग में ही सुरङ्ग का वर्णन भी मिलता है, जहाँ विदुर के भेजे गये खनिक ने पाण्डवों के सुरक्षित निकलने हेतु भवन के मध्य से बड़ी सुरङ्ग बना दी, जो भूमितल के समान किवाड़ वाली होने से दूसरों के लिए गुप्त ही थी-

**चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद्बिलम्। कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत।।**[3]

यहाँ सुरङ्ग का भूतलाश्रित होना अन्तःस्थ वनदुर्ग के लक्षण के समान है-

**सुरङ्गाश्रितमन्तस्थं..तलाश्रितं तु तद्दुर्गं..।।**[4]

**पञ्चाल देश का स्कन्धावार एवं स्वयंवर सभा**

लाक्षागृहदाह से सुरक्षित हो पाण्डव गुप्तरूप से एकचक्रा नगरी आदि स्थानों में निवास करते रहे और द्रौपदीस्वयंवर के विषय में सुनकर ब्राह्मणवेश में दक्षिणपञ्चाल देश पहुँचे। द्रुपद के पुर के लिए महाभारत में स्कन्धावार शब्द आया है-

**ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः।..**[5]

स्कन्धावार एक विशेष प्रकार का नगर होता है। मय के अनुसार नदी, पर्वत तथा वन से युक्त, अधिक जनसङ्ख्या वाला तथा राजभवन से युक्त नगर स्कन्धावार कहलाता है-

**नद्यद्रिवनसमेतं बहुजनयुक्तं सनृपवासम्। एतत् स्कन्धावारं...।।**[6]

विश्वकर्मा इसे और सुपरिभाषित करते हैं-

**रणाङ्गणान्निवृत्तस्य राज्ञस्सेनानिवेशनम्। स्कन्धावारा इति प्रोक्तश्शिल्पशास्त्रविशारदैः।।**
**गिरिपार्श्वगता भूमिरथवा गिरिमध्यभाक्। महारण्यस्य मध्यस्था दृढदुर्गसमन्विता।।**[7]

अर्थात् युद्धभूमि से लौटकर राजा अपनी सेना को जहाँ बसाता है, उसे स्कन्धावार कहते हैं। यह पर्वत के

1. महाभारत-आदिपर्व- 143/8,9,10,14
2. भूमिप्रसादयानानि शयनं च चतुर्विधं। मयमत 2/02
3 महाभारत-आदिपर्व- 146/17
4 विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 10/07,10
5 महाभारत- आदिपर्व- 184/06
6 मयमत- 10/35-36
7 विश्वकर्मवास्तुशास्त्र- 8/47-48

समीप अथवा मध्य में तथा महावन के मध्य दृढदुर्ग से सुरक्षित होना चाहिए। पर्वत और वनप्रदेश की चर्चा दोनों वास्तुकारों के मत में समान है। महाभारत में पाण्डव रमणीय वन-सरोवरों को देखते और वहाँ रुकते हुए ही यहाँ पहुँचे हैं।[1] साथ ही युद्ध से लौटकर बनाया गया सैन्यनिवेश अर्थ भी पूर्ववर्ती घटनाओं से सिद्ध होता है। द्रोण ने अपने शिष्यों से गुरुदक्षिणा में छत्रवती अर्थात् अहिच्छत्रा नगरी के राजा द्रुपद का राज्य छीनकर उन्हें बन्दी बना कर लाने की बात की है।[2] अर्जुन ने युद्ध में द्रुपद को पराजित कर जब ऐसा कर दिया, तो द्रोण ने उत्तरपञ्चाल का राज्य स्वयं ले लिया तथा दक्षिणपञ्चाल द्रुपद को लौटा दिया। सीमा का कार्य यहाँ गङ्गा नदी ने किया। बाद में अनमने होकर द्रुपद काम्पिल्य पुर में निवास कर शासन करते हैं, तो अहिच्छत्रा द्रोण के पास रही।[3] इससे स्पष्ट है कि युद्धक्षेत्र से लौटकर राजा ने अपने लिए नवीन पुर बसाकर उसको सुरक्षित किया, जिससे यह नगर स्कन्धावार की श्रेणी में आया। साथ ही काम्पिल्य गङ्गा की दक्षिण दिशा में बूढ़ी गङ्गा नामक नदी के दक्षिणतट पर स्थित है। यहाँ आसपास पहाड़ियाँ भी प्रायः वर्तमान हैं, अतः मयमतानुसार भी यह स्कन्धावार की परिभाषा में ठीक बैठता है।

स्वयंवर सभा- नगर से ईशानकोण में सुन्दर एवं समतल भूमि पर स्वयंवरसभा का रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओर से सुन्दर भवनों द्वारा घिरा होने के कारण बड़ी शोभा पा रहा था। वह सभी ओर से प्राकार और परिखा से सुरक्षित था। साथ ही अनेक द्वार, तोरण तथा विचित्र चँदोवों से अलङ्कृत था-

**प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे। समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः।।**
**प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः। वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलङ्कृतः।।**[4]

उस रङ्गमण्डप के चारों ओर कैलासशिखर के समान ऊँचे और श्वेत वर्ण के गगनचुम्बी प्रासाद बने हुए थे। उनमें स्वर्णनिर्मित जालियाँ लगी थीं और भूमि पर मणिजटित पक्का फर्श था। सुखपूर्वक चढ़ने योग्य उत्तम सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। बड़े-बड़े आसन और बिछावन आदि बिछाये गये थे। उन महलों में सैंकड़ों द्वार थे, जिनमें कोई रोकटोक नहीं थी-

**कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः। सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥**
**सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषणैः। सुखारोहणसोपानमहासनपरिच्छदैः ॥**
**असम्बाधशतद्वारैः ...।**[5]

ऊपर वर्णन में तोरण शब्द का उल्लेख है। भोज ने तोरण को इस प्रकार परिभाषित किया है-

**..फलकद्वयमुच्छ्रितम्।**
**उपर्युपरि सङ्क्षिप्तमर्धचन्द्रद्वयाकृति ॥ आनने द्वे यथा चास्मिन् श्लिष्टैरग्र्यैर्महाधरैः।**

1. पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च। महाभारत- आदिपर्व- 184/04
2. पार्षतो द्रुपदो मामच्छत्रवत्यां नरेश्वरः। तस्मादाकृष्य तद्राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम्।। महाभारत-आदिपर्व- 165/21
3. महाभारत-आदिपर्व- 137/70-77
4. महाभारत-आदिपर्व- 184/16-17
5. महाभारत-आदिपर्व- 184/19,20,22

**तयोरुपरि सन्धौ च तारकाकृतिमण्डलम् ॥ तत्तोरणमिति प्रोक्तम्....॥**[1]

अर्थात् द्वार के दोनों ओर से दो फलक उठते हैं, जिनमें ऊपर ऊपर उठती छोटी-छोटी अर्धचन्द्रकृतियाँ होती हैं। चिपके हुए अगले अगले बड़े अधरों (अर्धचन्द्राकृति बड़े अधर अर्थात् ओंठ जैसी मान सकते) से दो मुखाकृतियाँ बन जाती हैं, जिनकी सन्धि पर तारे के समान आकृति होती है। इस संरचना को तोरण कहा गया है। कुल मिलाकर द्वार के ऊपरी भाग में महराब वाले बड़े फलकों से बनी आकृति तोरण कहलाती है, जिसे लतादि संरचनाओं से अलङ्कृत किया जाता है।

**इन्द्रप्रस्थ की वास्तुयोजना**

इन्द्रप्रस्थ का निर्माण पुरुवंश की प्राचीन राजधानी खाण्डवप्रस्थ के स्थान पर किया गया है। स्वयं धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को ऐसा करने का निर्देश दिया था।[2] पुराने नगर पर बनने के कारण यह देवनगर कोटि में आएगा। देवनगर को विश्वकर्मा इस प्रकार परिभाषित करते हैं-

**कालेन हीनं प्राचीनमिति शास्त्रविदो विदुः। तस्माद्युगान्तरे देवैस्स्थानं यत्कल्पितं पुरा ॥**
**प्रासाद भवनाद्येषु जीर्णैरङ्गैस्तु सर्वतः। व्क्ताव्यक्तैरनैकश्च लक्षणैस्तच्च निर्दिशेत् ॥**[3]

अर्थात् कालक्रम से नष्ट नगर के स्थान पर बसा नगर देवनगर कहलाता है, जिसमें प्राचीन भवनादि के व्यक्त और अव्यक्त प्रमाण मिल जाते हैं।

पाण्डवों ने सर्वप्रथम पवित्र कल्याणमय प्रदेश में शान्तिकर्म कराके वेदव्यास जी को अगुआ बनाकर नगर बसाने के लिए भूमि का मापन करवाया, तत्पश्चात् नगर बसा। इस नगर के चारों ओर सागरसदृश चौड़ी खाइयाँ थीं, तो प्राकार श्वेत मेघों और चन्द्र के समान श्वेत वर्ण का था। वहाँ की गलियाँ चौड़ी और सुविभक्त थीं-

**ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः। नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ॥**
**सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृतम्। प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ॥**
**पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।**
**सुविभक्तमहारथ्यं ..**[4]

परिखा तथा प्राकार से नगर की सुरक्षा का निर्देश तो प्रायः वास्तु के हर ग्रन्थ में है ही। महारथ्या का उल्लेख भी समराङ्गणसूत्रधार के पुरनिवेशाध्याय सहित अन्य ग्रन्थों में भी आया है।

धन से परिपूर्ण होने के कारण यह नगर धनपति कुबेर के निवास के समान था। वेदवेत्ता ब्राह्मण, सम्पूर्ण भाषाओं के ज्ञानी तथा अनेक दिशाओं से धनोपार्जन की इच्छा वाले वणिक भी उस नगर में बसने आये। समस्त प्रकार की शिल्पकला के ज्ञाता भी इन्द्रप्रस्थ निवास करने के लिए आ गये थे-

---

1. समराङ्गणसूत्रधार- 18/36-38
2. राजधानी तु सर्वेषां पौरवाणां महाभुज। विनाशितं मुनिगणै.. तस्मात्त्वं खाण्डवप्रस्थं पुरं राष्ट्रं च वर्धय ॥ महाभारत-आदिपर्व- अ. 206 दाक्षिणात्य पाठ
3. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 9/110-113
4. महाभारत - आदिपर्व - 206/29,30,31,35

**शुशुभे धनसम्पूर्ण धनाध्यक्षक्षयोपमम् । तत्रागच्छन् द्विजा राजन सर्ववेदविदां वराः ॥**
**निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा । वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ॥**
**सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।**[1]

जनपदनिवेश के विषय में अर्थशास्त्र का कथन यहाँ चरितार्थ हो रहा है, कि दूसरे देश से लोग बुलाकर या अपने देश से ही चुनकर पुराने अथवा नये जनपद को बसाना चाहिए-

**भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्।**[2]

उस नगर के चारों ओर रमणीय उद्यान थे। दर्पण के समान स्वच्छ भवन तथा अनेक प्रकार के लता-मण्डप बनाये गये थे। मनोहर चित्रशालाओं तथा कृत्रिम पर्वतों से वहाँ की शोभा थी। उत्तम जल से भरी हुई अनेक प्रकार की बावड़ियाँ तथा कमल आदि की सुगन्ध से वासित रमणीय सरोवर हंस आदि पक्षियों से शोभित थे। वहाँ वन से घिरी रमणीय पुष्करिणियाँ और सुरम्य एवं विशाल अनेक तालाब थे-

**उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ।।**
**गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः। मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथाजगतिपर्वतैः।**
**वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा।।**
**सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।**
**हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितः।।**
**रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः।**
**तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च।।**[3]

मय ने बस्ती में सभी ओर कुआ, बावड़ी, तालाब आदि जलाशय होना उत्तम कहा है-

**सर्वत्रैव जलाशयमिष्टं वापी च कूपञ्च।**[4]

इसका आशय है कि बस्ती में पेयजल की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। अन्यथा बस्ती से निवासियों का पलायन होने लगेगा। यमुना तट पर बसे इन्द्रप्रस्थ में इतने प्रकार के जलाशयों का होना, वहाँ के उत्तम जलप्रबन्धन को दर्शाता है। यहाँ विविध जलाशयों में पुष्करिणी शब्द भी आया है। भोज के अनुसार शालाओं के मध्य बनी वापी पुष्करिणी कहलाती है–

**शालानां यत्पुनर्मध्यं वापी पुष्करिणी च सा।**[5]

प्रायः ऐसी बावड़ियाँ सुरङ्गों से युक्त होती थीं और रानियों के सुरक्षित आवागमन के लिए प्रयुक्त होती

1. महाभारत - आदिपर्व - 206/38,39
2. अर्थशास्त्र- 2/01
3. महाभारत - आदिपर्व - 206/40, 45, 47, 48
4. मयमत- 9/88
5. समराङ्गणसूत्रधार- 18/20

हैं। माण्डू की परमारकालीन चम्पा बावड़ी ऐसी ही एक पुष्करिणी है। महाभारत के पूर्वोक्त वचनानुसार पुष्करिणियों का वन से घिरा होना भी गोपनीय मार्ग के चिन्तन को पुष्ट करता है। साथ ही वन में शालायुक्त बावड़ियाँ यात्रियों को सुरक्षित ठहरने के भी कार्य आती थीं।

**इन्द्रप्रस्थ की दिव्य सभा**

खाण्डववन दाह में जब अर्जुन और श्रीकृष्ण ने मयासुर की रक्षा की तो उसने श्रीकृष्ण के कहने पर पाण्डवों के लिए एक दिव्य सभाभवन बनाया। इस भवन को बनाने हेतु उसने 10-10 हजार हाथ की लम्बाई-चौड़ाई की भूमि नपबाई-

**दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः।**[1]

वह सभा स्थानान्तरित की जा सकती थी। मय के निर्देशानुसार किङ्कर नाम वाले 8000 राक्षस उसकी रक्षा करते थे तथा एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते थे-

**तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च। सभामष्टौ सहस्राणि किङ्करा नाम राक्षसाः॥**[2]

कौटिल्य ने आपत्ति से रक्षा हेतु यन्त्रबद्ध ऐसे वासगृह बनाने का निर्देश किया है, जिनके तल को सरकाया जा सकता है।[3] यहाँ तो पूरी सभा ही स्थानान्तरित हो जाती थी। इसके अतिरिक्त इसके जल में थल, थल में जल, भित्ति पर द्वार का भ्रम सदृश चमत्कारिक स्थलों की चर्चा तो बहुप्रसिद्ध है। स्फटिक आदि के विशेष संयोजन से मय ने ऐसे आश्चर्य साकार कर दिये थे।[4]

इसी सभा को देखकर युधिष्ठिर के मन में दिव्य सभाओं के विषय में जिज्ञासा जागी थी, जिस पर नारद ने इन्द्र, कुबेर आदि की दिव्यसभाओं का वर्णन किया है। सभापर्व में आगे हजार खम्भों तथा सौ द्वारों वाली अलङ्कृत द्यूतसभा का वर्णन भी तब के वास्तुवैशिष्ट्य का प्रतीक है।[5]

**द्वारका का दुर्गप्रबन्धन**

वनपर्व में शाल्व के आक्रमण के समय द्वारका के अद्भुत दुर्गप्रबन्धन के दर्शन होते हैं। नगरद्वारों पर लोहे के काँटे बिछाये गये थे, अट्टालक तथा गोपुर भी अन्न से भरपूर थे। विभिन्न युद्धोपयोगी यन्त्र तथा शस्त्रास्त्रों को यथास्थान सज्जित किया गया था। पुल तोड़ दिये गये, नौकाएँ रोक दी गयीं, खाइयाँ लोहे की जालियों से भर दी गयीं। यद्यपि यह नगरी प्रकृति से ही विषम दुर्ग, सुरक्षित एवं अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित थी, फिर भी उस समय इस सबकी विशेष व्यवस्था की गयी-

**प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम्। प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ।।**[6]

---

1. महाभारत - सभापर्व- 1/21
2. महाभारत - सभापर्व- 2/28
3. वासगृहं यन्त्रबद्धतलावपातं कारयेतद् आपत्प्रतीकारार्थम्। अर्थशास्त्र- 1/19
4. महाभारत - सभापर्व- अध्याय 47
5. महाभारत - सभापर्व- अध्याय 56- श्लोक 18-22
6. महाभारत-वनपर्व- 15/17

द्वारका का दुर्गप्रबन्धन वास्तुग्रन्थों तथा अर्थशास्त्र के दुर्गप्रबन्धन की दृष्टि से आदर्श है। द्वारका जलदुर्ग का उत्तम प्रतीक है।

**सौभ तथा पौलोम दिव्यनगर**

शाल्व के आक्रमण प्रसङ्ग में उसके सौभ नामक दिव्य नगर की चर्चा है, जो विमान की भाँति आकाश में इच्छानुसार गति करता है-

**शाल्वस्य नगरं सौभं.. शाल्वो वैहायसं चापि तत्पुरं व्यूह्य विष्ठितः।।**[1]

आगे वनपर्व में ही अर्जुन द्वारा पौलोम और कालकेय दैत्यों के हिरण्यपुर नामक दिव्य नगर को नष्ट करने की कथा मिलती है। ब्रह्मा के वरदान के कारण दैत्य इच्छानुसार चलने वाले इस नगर को आकाश में ले जाकर सुखपूर्वक धारण करते थे। कभी यह नीचे भूमि पर आ जाता, तो कभी आकाश में उठ जाता था, कभी तिरछा चलता, तो कभी जल में डूब जाता था। अर्जुन ने इसे नष्ट कर भूमि पर गिरा दिया था-

**हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्। रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः।।..**
**तत्पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम्। दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम्।।**
**अन्तर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठिते। पुनस्तिर्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति।।..**
**महीमभ्यपतद् राजन् प्रभग्नं पुरमासुरम्।।**[2]

आज की स्काईलैब्स से इसकी कुछ तुलना कर सकते हैं। पर यह स्काईलैब से भी बढ़कर स्काई सिटी थी, जो सहज ही पृथ्वी पर पुनः लायी जा सकती थी और जो जल में पनडुब्बी की भाँति डूबकर भी सुरक्षित रह सकती थी। अर्जुन ने इसे जिन बाणों से नष्ट किया, उनकी तुलना उपग्रहनाशक मिसाइल से की जा सकती है।

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में सामरिक यन्त्रों तथा अस्त्र-शस्त्रादि का भी उल्लेख मिलता है। महाभारतीय वास्तु में दिव्यास्त्रों का प्रबन्धन आज के समय में विशेष प्रासङ्गिक है। युधिष्ठिर के कहने पर जब अर्जुन दिव्यास्त्रों का प्रदर्शन करने लगे थे, तो नारद ने आकर उनको रोका और कहा कि दिव्यास्त्रों का प्रयोग बिना लक्ष्य के कभी न किया जाता और लक्ष्य होने पर भी स्वयं पर सङ्कट होने पर ही इनका प्रयोग करना चाहिए। ये अस्त्र सुरक्षित रखे जाने पर ही सुखदायक होते हैं और समुचित रक्षा न होने पर ये तीनों लोकों के विनाश का कारण बन जाते हैं–

**अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव । भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥**[3]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि बृहत्काय महाभारत में अनेकविध पुर, सभा, रथ, आसन आदि का उल्लेख है। महाभारत के वास्तुसन्दर्भ कहीं स्पष्ट हैं, तो कुछ साङ्केतिक शैली में भी देखे जा सकते हैं। इनके अध्ययन से उत्तम वास्तुप्रबन्धन के सूत्र भी ज्ञात होते हैं।

❖ ❖ ❖

1. महाभारत-वनपर्व- 14/02, 15/03
2. महाभारत-वनपर्व- 173/13, 26-2, 30
3. महाभारत-वनपर्व- 175/22

# गृहवास्तु के शास्त्रीय पक्ष

**– डॉ. ब्रह्मानन्द मिश्रा**

प्राचीन वैदिक परम्परा का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। इसके अन्तर्गत वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शन, स्मृतियां, रामायण, महाभारत, गीता, आयुर्वेद, धनुर्वेद, तथा स्थापत्यवेद जिसे वास्तुशास्त्र या वास्तुकला के नाम से भी जाना जाता है आदि की गणना की जाती है। इनमें समग्र विश्व का ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति व आदर्श जीवन से जुड़ी हुई समस्त विद्याओं का समावेश है। इसीलिए भारतीय ज्ञान परम्परा का समूचे विश्व में विशिष्ट स्थान है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान के आधार स्तम्भ वेद हैं जिन्हें अपौरुषेय कहा जाता है। अर्थात् वेद साक्षात् ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट हैं। वेदों के छह अंग माने गये हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। यथा-

**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।**
**ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥**
**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।**
**तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥**[1]

ज्योतिषशास्त्र को वेद का नेत्र कहा गया है- "ज्योतिषामयनं चक्षुः" यहां नेत्र से अभिप्राय है दृष्टि ऐसी दृष्टि जो मनुष्य के भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान को बतलाने में सहायक हो। ज्योतिष शास्त्र को मुख्यतया तीन भागों में विभाजित किया गया है यथा-

- **सिद्धान्त**
- **संहिता**
- **होरा**

सिद्धान्त भाग के अन्तर्गत खगोल, ग्रहगति, ग्रहकक्षाक्रम, पंचांग निर्माण, त्रुट्यादि से प्रलयपर्यन्त काल गणना तथा ग्रहण आदि का विचार किया जाता है। इसी प्रकार **होरा** स्कन्ध के अन्तर्गत मानवों के पूर्व जन्मार्जित कर्मफलों के आधार पर जन्मकालिक ग्रह स्थिति के अनुसार सुख-दुःखादि का विवेचन किया जाता है। तथा **संहिता** स्कन्ध के अन्तर्गत समष्टिगत रूप से भौतिक विषयों का विचार जैसे- भूकम्प, महामारी, बिजली का गिरना, शकुन, वायुसंचरण का फल तथा वास्तुशास्त्र का विचार किया जाता है। प्रायः सभी जानने हैं कि अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य वेद है जिसे हम वास्तुशास्त्र या वास्तुविद्या के नाम से भी जानते हैं।

**गृहवास्तु शब्द का अर्थ-** सर्वप्रथम हम गृहवास्तु शब्द के अर्थ को जानते हैं। यहां पहला शब्द है **गृह** जिसके सम्बन्ध में कहा गया है- **"गृह्णातीति गृहम्"** अर्थात जो दूरस्थ प्राणी को अपनी ओर आकर्षित करें उसे गृह कहते हैं तथा दूसरा शब्द है वास्तु जिसके लिए कहा गया है- **"वसन्ति अस्मिन् इति वास्तु"** अर्थात जिसमें वास किया जाए वह सभी वास्तु है। वास्तु शब्द संस्कृत भाषा के वस धातु में तृण प्रत्यय जुड़ने से बना है। जिसका अर्थ

1. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक संख्या-41, 42

होता है निवास करना। यास्क मुनि के अनुसार **वास्तुर्वसतेनिवासकर्मणः**[1] अर्थात् निवास योग्य भूमि को वास्तु कहा जाता है।

**वास्तु का स्वरूप-** मत्स्य पुराण के अनुसार अन्धकासुर के वध के समय आदि देव भगवान शिव के ललाट से श्वेत बिंदु भूमि पर गिरा जिससे एक विराट वा भयंकर आकृति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने अन्धकगण का रक्तपान किया परन्तु अतृप्त होने के कारण वह त्रिलोकी के भक्षण हेतु उद्यत हुआ। यह देखकर भगवान शंकर के आदेश पर सभी देवों ने उसे पकड़कर पृथ्वी पर अधोमुख कर उसके ऊपर स्वयं प्रतिष्ठित हो गए उसी को भगवान ब्रह्मा जी ने वास्तु पुरुष की संज्ञा से सम्बोधित किया। यथा-

**संग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात्क्षितौ-**
**तस्ताद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत् ॥**
**तद्देवैः सहसा निगृह्य निहतं भूमावधोवक्त्रकं।**
**देवानां वचनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधैः ॥**[2]

घर अथवा आवास प्राणी मात्र की आधारभूत आवश्यकता होती है। प्राणी चाहे वह मनुष्य हो या मनुष्येत्तर पशु-पक्षी हो, सभी को रहने के लिए आवास की आवश्यकता होती है। मनुष्य मकान बनाकर रहते हैं। जलचर समुद्र या नदी, तालाब के किनारे पर, नभचर घोषलों, पेड़ों के कोटरों या पुराने खण्डहरों में रहते हैं। तथा खुले आसमान अथवा धरती पर रहने वाले पशु-पक्षी भी अपने बच्चों के जन्म से पहले उनकी सुविधा एवं सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अपने लिए सुरक्षित स्थान की व्यवस्था कर लेते हैं। वास्तु केवल मनुष्य आदि प्राणियों का ही नहीं अपितु देवताओं के निवास का स्थान भी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वास्तुशास्त्र का उद्देश्य प्राकृतिक तत्वों, तथा पंचमहाभूतों के सामंजस्य से वास्तुविन्यास की विधि प्रतिपादित करना है। भवनादि में पंचतत्वों का सही संतुलन बनाए रखना, वास्तु में रहने वालों के लिए पर्याप्त सुविधा व सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा आवास समस्या को सुव्यवस्थित तरीके से सुलझाना वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य रहा है। जिसमें निवास कर्ता की शारीरिक, मानसिक वह भौतिक क्षमताओं में अभिवृद्धि हो तथा व्यवस्थित जीवन, पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि, स्त्री-पुत्रादि भौतिक सुखों की अभिवृद्धि व ग्रीष्म-वर्षादि षडऋतुओं से रक्षा ही भवन निर्माण का प्रमुख उद्देश्य होता है यथा-

**स्त्रीपुत्रादिक सौख्यभोग जननं धर्मार्थकाम प्रदम्।**
**जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बु घर्मापहम्॥**
**वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते।**
**गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥**[3]

भवष्यित्पुराण में भी ग्रहनिर्माण का प्रयोजन बताते हुये कहा गया है कि गृह के अभाव में गृहस्थ आश्रम के कार्यो की सिद्धी असम्भव है। अतः गृह निर्माण करना भी गृहस्थ के जीवन का परम कर्तव्य होता है-

1. निघण्टुभाष्ये-(निरुक्तावृतिः) वास्तोष्पतिनिर्वचनम् पृष्ठ-442
2. वास्तुराजवल्लभ-2,1
3. बृहद्वास्तुमाला-प्रथमप्रकरणम् श्लोक-4

**गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।**[1]

**भूमि चयन विधि-** भवन निर्माण करने से पूर्व सबसे पहले शास्त्रों में भूमि चयन की प्रक्रिया के विषय में वर्णन मिलता है कि कौन से भूखण्ड में किस वर्ण के जातकों को घर बनाना श्रेयस्कर होगा तथा किस में हानिकर। इस संदर्भ में मिट्टी के गुण दोषों का विचार उसके रंग, गन्ध, स्वाद, व उस भूमि पर उत्पन्न होने वाले तृण आदि से भूमि की पहचान की जाती है। वास्तुशास्त्र में भूमि को चार श्रेणियों में बांटा गया है-

**1. ब्राह्मणी 2. क्षत्रिया 3. वैश्या 4. शूद्रा**

सबसे पहले मिट्टी के रंग को देख करके भूखण्ड की पहचान की जाती है कि इस भूखण्ड मे घर बनाना सुख, शान्ति प्रदायक होगा या नहीं यथा-

**शुक्ला मृत्स्ना च या भूमिर्ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता।**
**क्षत्रिया रक्तमृस्ना च हरिद्वैश्या उदाहृता ॥**
**कृष्णा भूमिर्भवेच्छूद्रा चतुर्धा परिकीर्तिता ॥**[2]

इसी प्रकार मिट्टी की सुगंध से भी भूमि के चयन की विधि हमारे शास्त्रों में वर्णित है। वृहद्वास्तुमाला नामक ग्रन्थ में कहा गया है यथा-

**सुगन्धा ब्राह्मणी भूमि रक्तगन्धा तु क्षत्रिया। मधुगन्धा भवेद्वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिका ॥**[3]

इसी प्रकार मिट्टी को चखकर भी पता किया जाता है यह भूमि किसके लिए शुभ तथा इसके लिए अशुभ होगी जैसे-

**अम्ला भूतिर्भवेद्वैश्या तिक्ता शूद्रा प्रकीर्तिता। मधुरा ब्राह्मणी भूमि कषाया क्षत्रिया मता ॥**[4]

अर्थात खट्टे स्वाद वाली भूमि वैश्या, तीखे व कड़वे स्वाद से युक्त भूमि शूद्रा, मीठे स्वाद वाली भूमि ब्राह्मणी एवं कसैले स्वाद वाली भूमि क्षत्रिया होती है। इसी प्रकार भूमि में उत्पन्न होने वाले कुशा, सरकंडा, मून्ज, कुश-काशादि तृणों से युक्त भूमि को भी परीक्षण करके देखा जाता है कि यह भूमि किस वर्ण के मनुष्यों के लिए शुभ तथा किसके लिए अशुभ होगी यह भी भूमि चयन की प्रक्रिया का एक सैद्धान्तिक या प्राचीन नियम है। इस सन्दर्भ में शास्त्रकथन है यथा-

**ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला। कुशकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला॥**[5]

इसी प्रकार भूमि परीक्षण की एक और विधि हमें शास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है इसमें कहा गया है कि भूमि के परीक्षण के लिए एक हाथ लम्बा, चौड़ा वा गहरा गड्ढा बनाकर पुनः उस मिट्टी को खुदे हुए गड्ढे में भरने पर यदि मिट्टी कम हो जाए तो भूमि अधम मिट्टी बराबर भर जाए अर्थात् न कम न ज्यादा रहे तो मध्यम तथा गड्ढा भरने के

1. मुहुर्त्तचिन्तामकणि (पीयूषधाराटीका) 12,1
2. वास्तुरत्नावली-भूपरिग्रहाध्यायः श्लोक-29-30
3. बृहद्वास्तुमाला-प्रथमप्रकरणम् श्लोक-31
4. बृहद्वास्तुमाला-प्रथमप्रकरणम् श्लोक-32
5. वास्तुरत्नावली-भूपरिग्रहाध्यायः श्लोक-31

बाद मिट्टी बच जाए तो भूमि को उत्तम जानना चाहिए। ऐसे ही उस गड्ढे को जल से पूरा भर दें एवं सौ कदम दूर जाकर पुनः लौटकर गड्ढे में भरे हुए जल की स्थिति को देखें यदि जल लगभग पूरा भरा हुआ हो तो उत्तम चौथाई जल ही कम हुआ हो तो मध्यम एवं आधे से अधिक कम हो जाए तो भूमि को अधम जानना चाहिए यथा-

**खातं भूमि परीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा।**
**हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्द्धने ॥**
**तत्कृत्वा जलपूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः।**
**पादोनार्धविहीनकेऽथनिभृते मध्याधमेष्टाम्बुभिः ॥**[1]

➢ आवासीय वास्तु व कक्ष विन्यास-वास्तु मुख्यतया तीन प्रकार का होता है-

**1. आवासीय वास्तु** **2. व्यावसायिक वास्तु** **3. धार्मिक वास्तु**

आवासीय वास्तु के प्रमुख चार भेद होते हैं-

**1. घास फूस से बनी झोपड़ी।**

**2. लकड़ी से बने घर।**

**3. मिट्टी, खपरैल या छप्पर से बने कच्चे घर।**

**4. ईंट, पत्थर, चूना, लोहा एवं सीमेंट से बने पक्के घर, हवेली या महल आदि।**

आज के वर्तमान युग में पक्के मकान भी दो प्रकार के देखे जाते हैं, स्वतन्त्र भवन या फ्लैट। इस आवासीय वास्तु के सन्दर्भ में हमारे शास्त्रों का कथन है कि घास-फूस एवं तिनकों से गृह निर्माण करने पर करोड़ गुना, मिट्टी से गृह निर्माण करने पर 10 करोड़ गुना करोड़ करोड़ गुना, ईंट से गृह निर्माण करने पर 100 करोड़ गुना तथा पत्थर आदि से गृह निर्माण करने पर अनन्त गुना पुण्य फल मिलता है यथा-

**कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।**
**इष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेनन्तं फलं गृहे ॥**[2]

**शल्योद्धार-** अपनी भौतिक उन्नति हेतु मनुष्य को भवन निर्माण से पूर्व भूमि के अन्दर समाहित इन अवांछनीय पदार्थों को भूखण्ड से निकलवा लेना चाहिए। इन अवांछनीय वस्तुओं में विशेषकर मृत जानवरों, छोटे जीवों व मनुष्यों के अवशेष, हड्डी, कोयला, कपाल, केश, वल्मीक, मेंढक, राख, सर्प, छिपकली आदि सरीसृप, अण्डपिण्ड, कौड़ी, कपास, जली हुई लकड़ी के टुकड़े, मिट्टी के बर्तन के टुकड़े, लोहा इत्यादि भूमि में गड़े हुए होते हैं। यदि व्यक्ति इन अवांछनीय पदार्थों से युक्त भूमि पर गृह निर्माण करते हैं तो वह गृहस्वामी के लिए सर्वदा अनुपयुक्त एवं शोककारक होता है। भूखण्ड में स्थित यही वस्तुएं सामान्य रूप से शल्य कहलाती हैं। भूमि को खोदने पर एक पुरुष प्रमाण तक **शल्य** मिलना गृह स्वामी के लिए अशुभ माना गया है। अतः शल्य निकालने के बाद ही निर्माण कार्य आरम्भ करना चाहिए वस्तुतः शल्य के रूप में परिगणित वस्तुएं भूमि को कमजोर करती हैं, जिस कारण भार युक्त निर्माण कार्य होने पर भवन के धंसने का अत्यधिक भय बना रहता है।

1. वास्तुरत्नावली-शल्योद्धाराध्यायः श्लोक-17
2. वास्तुरत्नावली-शल्योद्धाराध्यायः श्लोक-05

**वास्तुपद व गृहकक्ष विन्यास-** आवास अथवा भवन की प्रकल्पना ही वास्तु पदविन्यास है। कहा जा सकता है कि भवन निर्माण की क्रियान्विति का प्रथम चरण वास्तु पदविन्यास ही है। भवन, नगर, ग्रामादि में किस दिशा में वास्तु क्षेत्र के कितने भाग पर कौन सा निर्माण प्राकृतिक तत्वों व पंचमहाभूतों के सामंजस्य से शुभाशुभ होगा यह वास्तु पदविन्यास से ज्ञात होता है। कार्य की प्रकृति एवं गुण धर्मिता के आधार पर तत संबंधी 45 देवों की परिकल्पना वास्तुशास्त्र प्रस्तुत करता है। वास्तु पदविन्यास में रिक्त स्थानों का विशेष ध्यान रखा जाता है। जिससे आकाश तत्व हेतु समुचित स्थान तथा वायु संचरण व प्रकाश के लिए अधिक स्थान मिल सके। वास्तुपद के अनुसार गृह निर्माण होने पर कार्यानुसार कक्षों को सुव्यवस्थित किया जा सकता है। सर्व विदित ही है कि मनुष्य अपने सुख-सुविधाओं, पुरुषार्थ चतुष्टय, धार्मिक कृत्यों, उन्नति वह शांति हेतु घर का निर्माण करता है। गृह निर्माण से पूर्व हमें वास्तुशास्त्र के सिद्धांतों का अवलोकन करना परम आवश्यक होता है। क्योंकि यदि हम सिद्धांतों का नियमानुसार प्रयोग करेंगे तो अवश्य ही हम पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कर पाएंगे। गृहकक्ष विन्यास के संदर्भ में शास्त्र का कथन है कि दिशाओं के आधार पर कक्ष विन्यास करना चाहिए। जैसे-

**पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेयां स्यान्महानसम् ।**
**शयनं दक्षिणस्यां च नैर्ऋत्यामायुधाश्रयम् ।**
**भोजनं पश्चिमायां च वायव्यां धनसंचयम् ॥**
**उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्या देवतागृहम् ।**
**इन्द्राग्नयोर्मथनं मध्ये यमाग्नयोर्घृतमन्दिरम् ॥**
**यमराक्षसयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम् ।**
**तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनस्य च मन्दिरम् ॥**[1]

घर के पूर्व भाग में श्रीगृह अर्थात् निधिकोष (आचार्य रामदैवज्ञ के अनुसार) आग्नेय कोण में रसोई घर, दक्षिण में शयनकक्ष, नैऋत्य में अस्त्र-शस्त्रागार, पश्चिम में भोजन कक्ष, वायव्य में धन संचय कक्ष, उत्तर में स्टोर-भंडारण कक्ष ईशान में देवालय, पूर्व व आग्नेय के बीच दधिमंथन कक्ष, दक्षिण व आग्नेय के बीच घृतादि का संग्रहकक्ष, दक्षिण व नैऋत्य के बीच शौचालय, पश्चिम व नैऋत्य के बीच विद्याभ्यास कक्ष, पश्चिम व वायव्य के मध्य क्रन्दन कक्ष, उत्तर व वायव्य के मध्य रतिगृह, उत्तर व ईशान के मध्य औषधि कक्ष तथा पूर्व व ईशान के मध्य वस्तु भण्डारण कक्ष बनाना चाहिए। घर के मघ्य भाग को हमारे शास्त्रों में ब्रह्मस्थान कहा गया है। तथा इस स्थान को खुला रखने का निर्देश किया गया है। इसके पीछे ऋषि मुनियों का वैज्ञानिक चिन्तन है। इस स्थान से सूर्य का प्रकाश घर पर निरन्तर पडता रहता है जिससे स्वास्थ्य वर्धक विटामिन डी व विषाणु नाशक शक्ति का समावेश होता है। तथा वर्षा के समय वर्षा का जल घर के आंगने मे गिरता है और वह जल भूमि के अन्दर समाविष्ट होता जो कालान्तर में हमें पीने योग्य जल के रूप में प्राप्त होता है। तथा सूतिकागृह का निर्माण नैऋत्य कोण में करना चाहिए यथा-

**कामोपभोगशयनं वायव्योत्तरयोर्गृहम् ।**
**कौबेरेशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरं सदा ॥**

1. वास्तुरत्नावली-शल्योद्धाराध्यायः श्लोक-149-152

**पुरन्दरेशयोर्मध्ये सर्ववस्तुषु संग्रहम् ॥**
**सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोडश ।**
**नैर्ऋत्यां सूतिकागेहं नृपाणां भूतिमिच्छता ॥**[1]

**आंगन विचार-** वास्तुशास्त्र में भवन के मध्य भाग ब्रह्मस्थान में आंगन की परिकल्पना की गई है जिसमें किसी भी प्रकार का निर्माण कार्य वर्जित है। इसमें छत भी नहीं होना चाहिए साथ ही इसके नीचे की भूमि मिट्टीयुक्त होनी चाहिये, तथा पत्थर, फर्श, टाइल्स इत्यादि से रहित होनी चाहिए। आंगन का ढलान पूर्व-उत्तर की ओर ही शुभ माना गया है। पदविन्यास की दृष्टि से आंगन वास्तु क्षेत्र का नवमांश होता है। इस स्थान में तुलसी का पौधा लगाना अत्यन्त शुभ माना गया है। साथ ही छोटे-छोटे पौधे भी लगाए जा सकते हैं।

वास्तु शास्त्र में आंगन की परिकल्पना संपूर्ण कक्षों में शुद्ध वायु व प्रकाश की दृष्टि से किया गया है साथ ही वर्षा में गिरने वाले जल का संग्रहण कर उसे जल स्रोत की ओर करने में भी आंगन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी कारण आंगन खुला एवं निर्माण कार्य से रहित होना चाहिए। वास्तुशास्त्र सम्मत आंगन वर्षाजल संग्रहण (वाटर हार्वेस्टिंग) के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है जो आजकल के जल प्रदूषण एवं शुद्ध जल प्राप्ति की समस्या के समाधान में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

**द्वार का प्रमाण-** गृह के जिस भाग में (गृह की लंबाई अथवा चौड़ाई में) द्वार बनाना हो उसके 9 समान खण्डकर दाहिनी ओर से 5 खण्ड छोड़कर छठे खण्ड में द्वार बनाना चाहिए। गृह से निकलते समय दाहिने हाथ की ओर दाहिना भाग तथा बाएं हाथ की ओर वाम भाग होता है।

द्वार की ऊंचाई दो खंडों के बराबर होनी चाहिए, लंबाई अथवा चौड़ाई में ही द्वार बनाना शुभ कहा गया है। दीवार के मध्य में भी द्वार बनाने का निषेध किया गया है तथा द्वार के ऊपर द्वार भी नहीं बनाना चाहिए ऐसा शास्त्र प्रमाण मिलता है जैसे-

**द्वारस्योपरि यद्द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम् ।**
**न कार्यं व्ययदं यच्च संकटं तद् दरिद्रकृत् ॥**[2]

**द्वारवेध विचार-** मार्ग, वृक्ष, कोना, कूप, स्तंभ तथा नाली के सामने घर का द्वार अशुभ माना जाता है। किन्तु दरवाजे की ऊंचाई से दुगुनी दूरी होने पर द्वारवेध का दोष नहीं होता है। इसी प्रकार कुलालचक्र, कीचड़, देवमंदिर से भी द्वारवेध कहा गया है।

वृहत्संहिता, समरांगण सूत्रधार आदि ग्रंथों में द्वारवेध का फल विस्तार से वर्णित है जो मनोवैज्ञानिकता पर आधारित है। उसमें कहा गया है कि मार्ग से विद्धद्वार स्वामी के लिये नाशकारक, वृक्ष से विद्धद्वार घर के बालकों के लिए कष्ट कारक, कीचड़ से विद्धद्वार शोक दायक, देवमूर्ति से विद्धद्वार विनाश कारक होता है। इसी प्रकार गृह का द्वार यदि स्वयं ही खुल जाता हो तो उन्माद कारक और यदि स्वयं ही बन्द हो जाता हो तो कुल का नाश करने वाला होता है।

---

1. वास्तुरत्नावली-शल्योद्धाराध्यायः श्लोक-153-155
2 वास्तुरत्नावली-पृष्ठ-174

**द्वार व खिडकियां-** भवन में उत्तर एवं पूर्व दिशा में द्वार व खिडकियां अधिक रखनी चाहिये तथा दक्षिण व पश्चिम दिशा में खिडकियां व द्वार कम रखने चाहिए। द्वार व खिडकियों की संख्या सम 2, 4, 6, 8 हो, विषम 1, 3, 5, 7 न हों तथा उनकी संख्या के अन्त में शून्य 10, 20, 30 न हों। मुख्यद्वार पर स्वस्तिष्क, ओम, मंगल कलश, जुडवा मीन, पंचांगुल हाथ, ओंकार आदि शुभ चिन्ह लगाने से सुख-शान्ति व समृद्धि होती है।[1]

**सीडियां-** भवन में सीडियां दक्षिण व पश्चिमी भाग में बनानी चाहिये। सीडियों का घुमाव सदैव पूर्व से दक्षिण तथा दक्षिण से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर और उत्तर से पूर्व की ओर होना चाहिए। सीडियां सदैव विषम संख्या में बनानी चाहिये। घर में जल का स्थान-कुआँ या भूमिगत पानी की टंकी घर के पूर्व, पश्चिम, उत्तर अथवा ईशान कोण में होनी चाहिए। जलाशय या ऊर्ध्वटंकी हमेशा ईशान दिशा में होनी चाहिए। इसके विपरीत स्थानों में दोषकारक होता है।[2]

**जल की निकास व्यवस्था-** गृह में उपयोग किये गये जल को बाहर निकालने की दिशा पूर्व, उत्तर-पूर्व, उत्तर, उत्तर-पश्चिम, अथवा पश्चिम प्रशस्त मानी गयी है। तथा शेष दिशायें अप्रशस्त होती हैं। यथा-

**पूर्वे वहति शुभं किंचिदग्निकोणे धनक्षयम् ।**
**दक्षिणे प्राणसन्देहो नैऋत्ये प्राणघातकः ॥**
**पश्चिमे पुत्रनाशाय वायव्ये सुखमेव च।**
**उत्तरे राजसम्माने ईशाने सुखसम्पदः ॥**[3]

| | |
|---|---|
| पूर्व- शुभ | पश्चिम-पुत्रनाश |
| आग्नेय-अशुभ, धनक्षय | वायव्य-शुभ, सुखकारक |
| दक्षिण-दुख, प्राण सन्देह | उत्तर-वृद्धिदायक, राजसम्मान |
| नैऋत्य-पुत्रहानि, प्राणघातक | ईशान-पुत्र प्रदायक, सुख सम्पत्ति दायक। |

**गृह निर्माण में ग्राह्यऽग्राह्य काष्ट-** हमारे भारतीय वास्तुशास्त्र में गृह कार्यों में उपयोगी व अनुपयोगी काष्ट के विषय में भी हमारे मनीषियों के द्वारा गहन चिन्तन व मनन किया गया है। भारतीय मनीषियों ने काष्ट की वैज्ञानिकता को ध्यान में रखते हुए अपने सुदीर्घकालिक चिंतन के आधार पर गृह कार्य में ग्राह्य व अग्राह्य कष्टों को परिगणित किया है। समरांगण सूत्रधार ग्रंथ में गृह कार्य में कौन सा काष्ट उपयोग करना चाहिए कौन सा नहीं इस संदर्भ में कहा है यथा-

**खदिरो बीजकः सालो मधूकः शाकशिंशपे। सर्जाऽर्जुनांजनाशोकाः कदरो रोहिणीतरुः ॥**
**विकंकलो देवदारुः श्रीपर्णीपादपस्तथा। कुटुम्बिनाममी प्रोक्ताः पुष्टिदा जीवदास्तथा ॥**[4]

1. अन्तर्जालम्
2. समरांगणसूत्रधारः, भूमिका पृष्ठ-13
3. गृहवास्तु प्रदीप-शैलजा पाण्डेय, पृष्ठ-35
4. समरांगणसूत्रधारः षोडशोऽध्यायः श्लोक- 16-17

अर्थात खैर, विजयसार, शीशम, महुआ, सागवान, शिंशपाद, सर्ज, अर्जुन, कदर (करंज) अशोक, रोहिणी, कुटकी, देवदारू, श्रीपर्णी आदि वृक्षों को गृह निर्माण कार्य में उपयोग करना अत्यन्त शुभ व प्रशस्त माना गया है। इसी प्रकार गृह निर्माण में त्याज्य काष्ट के संदर्भ में कहा गया है कि यथा-

**कर्णिकार-धव-प्लक्षकपित्थविषमच्छदाः।**
**शिरीषोदुम्बराश्वत्थशेलुन्यग्रोधचम्पकाः ॥**
**निम्बाम्रकोविदाराक्षव्याधिघाताश्च गर्हिताः।**
**गृहकर्मणि नेष्टास्ते यतस्तेऽनिष्टदायितः ॥**[1]

प्राचीन आचार्यो ने गृह निर्माण में कनैल, धव, प्लक्ष, कपित्थ, विषमच्छद, शिरीष, गूलर, अश्वत्थ, शेलू, बरगद, चम्पक, नीम, आम, कोविदार, अक्ष, व्याधिघात आदि वृक्षों की लकडियों को निषद्ध माना है। इन वृक्षों की लकडियों का प्रयोग करने से गृह स्वामी का अनिष्ट होता है। इसी प्रकार पुरातन भवन की लकड़ी भी नए भवन निर्माण में वर्जित बताई गई है, ऐसा करने पर निवास कर्ता के लिए कष्ट कारक होता है यथा-

**नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णे जीर्ण प्रशस्यते। जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतने शुभम् ॥**[2]

नूतन गृह निर्माण करते समय ईंट, पत्थर, मिट्टी, रेत, लोहा, तृण, सरकंडा, पत्ते, लकड़ी इत्यादि सब कुछ नया ही उपयोग करना चाहिए ऐसा वास्तु शास्त्र का कथन है।

**गृह की सजावट-** गृह की सजावट में भी वस्तुओं के कार्य, प्रकृति व गुण धर्मिता के देखते हुये सुनियोजित करने का परामर्श वास्तुशास्त्र में मिलता है। भारी वस्तुयें दक्षिण-नैऋत्य या नैऋत्य-पश्चिम में रखना शुभ माना गया है। इसी प्रकार अग्नितत्व सम्बन्धि वस्तुयें आग्नेय में, जल तत्व सम्बन्धि वस्तुयें पश्चिम में, वायु तत्व सम्बन्धि वस्तुये वायव्य या उत्तर में रखनी चाहिये। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से शयन कक्ष में दैवस्थान या प्रतिमा लगाना वर्जित कही गयी है। गृह सज्जा में रामायण, महाभारत आादि युद्धों के चित्र, ऐन्द्रजालिक चित्र, प्रस्तर या काष्ठ से बनी राक्षस आदि की मूर्ति, रोते हुये, रौद्र, दीन, त्रास, करुण, विभत्स रस युक्त चित्र या मूर्ति अग्निदग्ध भवनादि, रुक्क्ष-भग्नादि वृक्ष, गिद्ध, उल्लू, कपोत, कौवा, भैंसा, गधा, सिंह इत्यादि उग्र पशु-पक्षियों के चित्र वास्तुशास्त्र में वर्जित कहे गये हैं।

**वास्तु शास्त्र का वैज्ञानिक पक्ष-** वर्तमान युग विज्ञान का युग कहा जाता है। विज्ञान पर विश्वास करने वाला समुदाय प्राचीन मान्यताओं को तर्क एवं प्रमाण की कसौटि पर परखता है। यदि कोई भी मान्यता व्यवहारिक प्रयोग में तत्थ्य परक परिणाम प्रकट नहीं करती है तो विज्ञान उसे कल्पना मानता है। वास्तु विज्ञान में उल्लेखित सैद्धान्तिक मान्यताओं को प्रमाण एवं तर्क की कसौटि पर रखने से उनमें यथार्थता परिलक्षित होती है। दिशाओं का ज्ञान, धरातल का ज्ञान, सूर्य का प्रकाश एवं चुम्बकत्व धारा का ज्ञान आदि सभी विज्ञान सम्मत हैं। निश्चय ही इनका प्रभाव प्राणी मात्र के जीवन पर पडता है। तथा यदि हम इन प्राकृतिक ऊर्जा स्रोतों को भवन के माध्यम से अपने कल्याण के लिए इस्तेमाल करें तो हम स्वस्थ, सुखद तथा आनन्द दायक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उसके लिए

1. समरांगणसूत्रधारः षोडशोऽध्यायः श्लोक- 19-20
2. बृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ-62

हमें गृह निर्माण करते समय यह ध्यान देना चाहिए कि पूर्व में उदित होने वाले सूर्य की किरणों का भवन के प्रत्येक भाग में प्रवेश हो सके और हम ऊर्जा को प्राप्त कर सकें। क्योंकि सूर्य की प्रातः कालीन किरणों में विटामिन डी का बहुमूल्य स्रोत होता है जिसका प्रभाव हमारे शरीर पर रक्त के माध्यम से सीधा पड़ता है इसी प्रकार मध्यान्ह के पश्चात सूर्य की किरणें (रेडियोधर्मिता) से ग्रस्त होने के कारण शरीर पर विपरीत प्रभाव डालती है, इसीलिए भवन निर्माण करते समय भवन का (ओरिएंटेशन) इस प्रकार से रखा जाना चाहिए जिससे मध्यान्तर सूर्य की किरणों का प्रभाव शरीर एवं मकान पर कम से कम पड़े। दक्षिण-पश्चिम भाग के अनुपात में भवन निर्माण करते समय पूर्व एवं उत्तर के अनुपात की सतह को इसलिए नीचे रखा जाता है क्योंकि प्रातः काल के समय सूर्य की किरणों में विटामिन डी एवं विटामिन ए रहते हैं। रक्त कोशिकाओं के माध्यम से इनसे हमारा शरीर आवश्यकतानुसार विटामिन डी ग्रहण करता रहता है। यदि पूर्व का क्षेत्र पश्चिम के क्षेत्र से नीचा होगा तथा अधिक दरवाजे, खिड़कियां होंगी तो प्रातः कालीन सूर्य की किरणों का लाभ पूरे भवन को प्राप्त नहीं होगा। पूर्व एवं उत्तर क्षेत्र अधिक खुला होने से भवन में वायु बिना रुकावट के प्रवेश करती है तथा चुंबकीय किरणें जो उत्तर से दक्षिण दिशा को चलती हैं उनमें कोई रुकावट नहीं होती हैं। दक्षिण-पश्चिम की छोटी-छोटी खिड़कियों से धीरे-धीरे वायु निकलती रहे इससे वायुमंडल का प्रदूषण दूर होता रहता है। दक्षिण-पश्चिम भाग में भवन को अधिक ऊंचा, मोटी दीवार युक्त तथा सीढ़ियों का भार भी इस दिशा में रखना चाहिए। मशीनरी व भारी सामान का भण्डारण आदि बनाने का प्रमुख कारण यह है कि जब पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा दक्षिण दिशा में करती है तो वह एक विशेष कोणीय स्थिति में होती है। तथा इस क्षेत्र में अधिक भार रखने से संतुलन आ जाता है। दक्षिण पश्चिम में कम और छोटी-छोटी खिड़कियां रखने का प्रमुख कारण है कि गर्मियों में ठंडक महसूस हो सके क्योंकि भूखंड क्षेत्र के दक्षिण पश्चिम में खुली हवा तापयुक्त होकर सर्दियों में विशेष दबाव से कमरे में पहुंचकर कमरों को गर्म करती है यह हवा रोशनदान एवं छोटी खिड़कियों से भवन में गर्मियों में कम ताप से युक्त अधिक मौलीक्यूबल दबाव के कारण भवन को ठंडा रखती है और साथ ही वातावरण को शुद्ध करने में सहायता पहुंचाती है। उत्तर पूर्वी भाग ईशान कोण में आराधना स्थल या पूजा स्थल रखने की परम्परा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पूजा करते समय मनुष्य के शरीर पर अधिक वस्त्र न रहने से प्रातः कालीन सूर्य की किरणों के माध्यम से शरीर में विटामिन डी नैसर्गिक अवस्था में प्राप्त हो जाती है और उत्तरी क्षेत्र से पृथ्वी पर चुंबकीय ऊर्जा का अनुकूल प्रभाव भी पवित्र माना जाता है। अन्तरिक्ष से हमें कुछ अलौकिक शक्ति मिलती रहे इसीलिए इस क्षेत्र में देवालय बनाया जाता है।[1]

**निष्कर्ष-** मनुष्य को वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों व नियमों को बहुत ही सूक्ष्मता से अध्ययन करके अपनाना चाहिए। तथा भूखंड की स्थिति एवं कोणों की स्थिति को जानने एवं वास्तुशास्त्र के सभी पहलुओं का सुचारू रूप से विस्तृत अध्ययन करके ही भवन निर्माण करना चाहिए तभी उसका पूरा लाभ मनुष्य को मिल सकेगा तथा व्यक्ति अपने परिवार के साथ आनन्द, उमंग व शान्ति से उस घर में निवास कर पाएगा।

❖❖❖

1. वास्तु चिन्तामणि, आचार्य देवनन्दि जी महाराज /सम्पादक, नरेन्द्र कुमार बडजात्या-पृष्ठ-10

# वेध विचार

**– डॉ. निगम पाण्डेय**

गृह निर्माण सम्बन्धी सभी बातों को जानने के लिए वास्तु शास्त्र की आवश्यकता होती है। यदि वास्तु सम्मत गृह का निर्माण नहीं करते हैं तो उसमें निवास करने वाले स्वामी की हानि होती है। इसीलिए वास्तु शास्त्र के अनुसार ही गृह का निर्माण करना चाहिए। वास्तु शास्त्र के अंतर्गत भूमि शोधन से लेकर गृह प्रवेश तक के संपूर्ण क्रिया कलापों का वर्णन किया गया है। इसी के अन्तर्गत वेध विचार भी किया गया है। गृह निर्माण के पूर्व अथवा गृह निर्माण के बाद कौन-कौन से वेध होते हैं ? इसका विचार या कहें इसका वर्णन वास्तु शास्त्र में किया गया है।

**द्वार वेध**

वेध का शाब्दिक अर्थ अवरोध या रुकावट है। वह रुकावट जो द्वार को अवरुद्ध करें या रुकावट पैदा करें उसे द्वार वेध कहा जाता है। यह वेध वास्तुशास्त्र में दोष माना जाता है। जिसका फल अशुभकारी होता है। वास्तु में द्वार का जब निर्धारण करते हैं तो गृह के लंबाई के अनुसार करते हैं। वास्तु शास्त्र में कहा गया है कि गृह के अर्थात जिस भाग में द्वार खोलना हो उस भाग को 9 भागों में विभक्त करना चाहिए और 5 भाग दक्षिण तरफ छोड़ देना चाहिए 3 भाग बांए भाग में छोड़ देना चाहिए और एक भाग में ही द्वार का निर्धारण करना चाहिए।[1] परंतु उस द्वार के सम्मुख किसी भी प्रकार का अवरुद्ध नहीं होना चाहिए। अर्थात वेध नहीं होना चाहिए। वास्तु शास्त्र में कहा गया है कि मुख्य द्वार सर्वदा सीधा होना चाहिए। आगे - पीछे इसका झुकाव नहीं होना चाहिए। मुख्य द्वार के ठीक सामने मंदिर भी नहीं होना चाहिए, यह भी वेद कारक माना गया है। मुख्य द्वार के ठीक सामने अपने मकान या दूसरे के मकान की सीढ़ियाँ हो तो वह भी वेध कारक माना गया है।[2] सर्वदा मुख्य द्वार वास्तु पद के कोण में नहीं बनना चाहिए यह भी वेध कारक माना गया है। मुख्य द्वार के सामने दलदल आदि नहीं होना चाहिए। मुख्य द्वार के सामने कोई बड़ा वृक्ष नहीं होना चाहिए यह भी वेध कारक होता है। द्वार के ठीक सामने रास्ता बंद नहीं होना चाहिए यह भी वेध कारक होता है।[3]

विश्वकर्मप्रकाश में द्वार वेध के विषय में कहा गया है कि दरवाजा यदि अपने आप खुलता हो तो वह भी वेध कारक होता है। उससे उन्माद रोग होता है। यदि स्वयं बंद होता है तो कुल नाशक होता है। यदि द्वार का दरवाजा प्रमाण से अधिक हो तो अर्थात अनुपात से अधिक हो तो राजभय कराता है। दरवाजा प्रमाण से कम हो तो चोर भय तथा शारीरिक कष्ट कराता है। द्वार के ऊपर द्वार शुभ नहीं होता है। यह भी वेध कारक होता है। मोटाई से कम द्वार

---

1. बृहद्वास्तुमाला- श्लो.162
2. बृहत्संहिता वा.वि.अ.-78
3. तत्रैव - 76

भी वेध कारक होता है। अधिक मोटा दरवाजा भूख का भय कराता है। यदि दरवाजा छोटा हो तो वेध कारक होता है। मुख्य द्वार पर यदि गूलर का पेड़ हो तो वेध कारक होता है। यदि दरवाजा गृह के भीतर झुका हो तो वेध कारक होता है, जिसमें गृह पति की मृत्यु होती है। यदि द्वार का दरवाजा बाहर की ओर झुका हो तो प्रदेश में निवास करता है, और यदि दूसरी दिशा में झुका हो तो चोर से पीड़ा पहुंचती है। यह भी वेध कारक होता है। आगे भी कहा गया है कि द्वार पर वृक्षों की छाया पीछे और पास में नहीं होनी चाहिए, यह भी वेध कारक होता है। अधिक वृक्षों की छाया पहले वाली और अंतिम प्रहर को छोड़कर दूसरे और तीसरे प्रहर में दुःख देने वाली होती है।

**उन्मादः स्वयमुद्घटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।**
**मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च ॥**
**द्वार द्वारस्योपरि यत्तन्त्र शिवाय शङ्कटं यच्च।**
**आव्यातं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति ॥**
**पीडाकरमतिपीडितमन्तविनतं भवेदभावाय।**
**वाहाविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा ॥**[1]

बृहद्वास्तुमाला ग्रन्थ में भी लिखा है कि गृह द्वार यदि मार्ग से वेध होता है, तो गृहापति का नाश होता है। यदि गृह का द्वार वृक्ष से वेध होता है तो बालकों के लिए हानिकारक होता है, यदि गृह का द्वार पंक विद्ध अर्थात पाँक से वेध होता है तो शोक करता है। यदि गृह का द्वार जल निकलने वाले मार्ग से वेधित होता है तो धन का व्यय कराता है। गृह का द्वार कुए से वेधित होता है तो अपस्मार अर्थात मिर्गी रोग कराता है। यदि गृह का द्वार देवमूर्ति से वेधित होता है तो विनाश कारक होता है। गृह का द्वार यदि स्तंभ से वेधित होता है तो स्त्री को दुष्चरित बनाता है। यदि गृह का द्वार ब्राह्मण से वेधित होता है तो कुल का नाश कराता है। इस प्रकार से बृहद्वास्तुमाला में स्पष्ट रूप से गृह द्वार लक्षण तथा फल को बताया गया है।

**रथ्या विन्दं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।**
**पट्टद्वारे शोकोव्ययोऽम्बुनिः स्त्राविणि प्रोक्तः ॥**
**कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।**
**स्तम्भेन खीदोवाः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे ॥**[2]

**मर्म वेध**

अब आप मर्म वेध के बारे में जानेंगे। सबसे पहले मन में प्रश्न उठ रहा होगा कि मर्म होता क्या है ? मर्म गृह का मध्य स्थान या ब्रह्म स्थान होता है। अर्थात जब गृह निर्माण करते हैं तो पिण्ड साधन करते हैं। उस पिण्ड में वास्तु पद का निर्धारण करते हैं, जिसमें एकाशीति वास्तु पद चतुःषष्टि वास्तु पद आदि होते हैं। इन वास्तु पदों में वास्तु पुरुष के मर्म स्थान शिर, मुख, हृदय एवं स्थान हैं तथा पद विन्यास के अनुसार रोग से लेकर अनिल तक पिता

1. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय – श्लो. 79 - 81
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय – श्लो. 77 - 78

से शिखी तक वितथ से शिर्ष तक मुख्य से लेकर भ्रूश तक जयंत से लेकर भृंगराज तक और अदिति से लेकर सुग्रीव तक विस्तृत सूत्रों का जो 9 स्थानों में स्पर्श होता है[1] वह स्पर्श स्थान वास्तु पुरुष के मर्म स्थान अर्थात ब्रह्म स्थान होता है। इन नव मर्म स्थानों को ब्रह्म स्थान कहते हैं। इन स्थानों में यदि कोई निर्माण कार्य अथवा रुकावट उत्पन्न हो जाता है तो उसको मर्म वेध नाम से जानते हैं। अतः मर्म वेध न हो इसके लिए मर्म स्थानों में कोई भी निर्माण कार्य नहीं करना चाहिए। अर्थात मर्म स्थान में कोई भी भारी वस्तु अथवा रुकावट या पिलर आदि स्थान में नहीं आने चाहिए। मर्म स्थान सर्वदा खाली रहना चाहिए नहीं तो मर्म वेध उत्पन्न हो जाता है। इसी लिए मर्म स्थान में कोई निर्माण कार्य नहीं करना चाहिए।[2]

**कोण वेध**

यहाँ पर कोण वेध के बारे में जानेंगे। कोण वेध क्या होता है इसके विषय में कहा गया है कि गृह के किसी भी कोने में कोई भी रूकावट या असामान्य निर्माण कोण वेध के अन्तर्गत आता है। वास्तुशास्त्र के ग्रंथ विश्वकर्मप्रकाश में कहा गया है कि अग्नि कोण का गृह दृष्टि से विद्ध होता है। वायव्य कोण का गृह द्विगुण भूमि से विद्ध होता है। नैऋत्य कोण का दृक्पथ से तथा ईशान कोण का अपने से तिगुने ऊंचे गृह की दृष्टि से विद्ध होता है । इस प्रकार से कोण विद्ध होते हैं।

**आग्नेयं दृष्टितो विद्धं वायो द्विगुणं भूमिषु।**
**नैर्ऋत्ये दृक्पथं यावदीशाने त्रिगुणं गृहात् ॥**[3]

पूर्व दिशा में पीपल तथा राज वृक्ष होने से वेध होता है। दक्षिण में पाकड़ तथा नीम वेधकारक होता है। पश्चिम दिशा में वटवृक्ष तथा आम का वृक्ष वेध कारक होता है और उत्तर दिशा में गूलर तथा केले का वृक्ष वेध कारक होता है। अग्नि कोण में दूध वाला वृक्ष, नैऋत्य कोण में कदंब का वृक्ष, वायव्य कोण में कांटेदार वृक्ष तथा ईशान कोण में कदली वृक्ष वेध कारक होते हैं। इन वृक्षों का तद् तद् दिशाओं में लगाना नहीं चाहिए नहीं तो गृह में रहने वाले लोगों के लिए शुभकारी नहीं होता है।

**अश्वत्थश्च प्लक्षवटोदुम्बराश्च क्रमेण च।**
**पूर्वादि दिक्षु वेधः स्यात् सर्वेषां प्राक्तना विदुः ॥**
**राजवृक्षं तथा निम्बं चाग्रकं कदलीफलम्।**
**पूर्वादिक्रमयोगेन वेधयन्त्येतद् द्रुमांस्तथा ॥**
**आग्नेयादिक्रमेणेव क्षीरिणोऽथ कदम्बकाः।**
**कण्टकाः कदलीस्तम्भाः वेधन्ते च फलद्रुमाः ॥**[4]

1. विश्वकर्मप्रकाश पञ्चमोऽध्याय, श्लोक-11
2. वि.क.प्र. प.अ., श्लोक-28-29
3. बृहद्वास्तुमाला- श्लो. 154 -155
4. विश्वकर्म प्रकाश- 14, -9-10

## वृक्ष वेध

अब आपके सम्मुख वृक्ष वेध का विचार किया जाएगा। इसमें यह बताया गया है कि गृह के समीप या द्वार के सामने कौन सा वृक्ष रहेगा तो वह वेध उत्पन्न करेगा। बृहत्संहिता ग्रंथ में कहा गया है कि पाकड़ का वृक्ष दक्षिण भाग में वट वृक्ष पश्चिम भाग में गूलर वृक्ष उत्तर में और पीपल वृक्ष पूर्व दिशा में वेध कारक होता है। अर्थात अशुभ होता है । उसी प्रकार बबूल का वृक्ष खैर का वृक्ष और कांटे वाले वृक्ष घर के पास या द्वार के सम्मुख नहीं लगाना चाहिए। यह वेध कारक होते हैं। इनके लगने से शत्रु भय उत्पन्न होता है। दूध वाला वृक्ष घर के समीप होने से वेध उत्पन्न होता है। फल वाले वृक्ष गृह के समीप नहीं होने चाहिए यह भी वेध उत्पन्न करते हैं। इनके होने से संतान की हानि होती है।

**याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवःप्रदक्षिणेनैते।**
**उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः।।**[1]

वास्तुप्रदीप ग्रन्थ में भी कहा गया है कि दूध वाले वृक्ष बरगद, पीपल, लाल फूल वाले वृक्ष, कांटे वाले वृक्ष, पाकड़ गूलर यह सभी वृक्ष अग्नि कोण में सर्वदा वेध कारक होते हैं। यह पीड़ा तथा मृत्यु कारक होते हैं।

**आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।**
**फलिनः प्रजाक्षयकरा दारुण्यपि वर्जयेदेषाम् ॥**
**छिन्द्याद्यदि न तरूंस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।**
**पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ ॥**[2]

## गृह वेध

प्रिय अध्येता ! अब आप गृह वेध के बारे में जानेंगे। गृह वेध वह होता है जिसमें गृह के निर्माण के बाद उत्पन्न दोष का पाया जाना होता है। गृह निर्माण के बाद उत्पन्न दोष गृह वेध के नाम से जाने जाते हैं। यदि वेध युक्त गृह में निवास होता है तो उस में निवास करने वाले गृह के स्वामी तथा अन्य जनों के लिए हानिकारक होता है। अतः गृह वेध का विचार कर और उनका निवारण के बाद ही गृह में निवास करना चाहिए। गृह वेध के बारे में विश्वकर्मप्रकाश में 16 प्रकार के गृह वेधें के बारे में वर्णन प्राप्त होता है जिनका नाम उल्लेखित किया जा रहा है।

1. अन्धक, 2. रुधिर, 3. कुब्ज, 4. काण, 5. बधिर, 6. दिग्वक्त्र, 7. चिपिट, 8. व्यङ्गज, 9. मुरज, 10. कुटिल, 11. कुट्टक, 12. सुप्त, 13. शङ्खपाल, 14. विकट, 15. कङ्क तथा 16. कैङ्कर। ये सोलह प्रकार के गृह वेध कहलाते हैं।

**अतः परं प्रवक्ष्यामि गृहाणां दोषनिर्णयम्।**
**अन्धकं रुधिरञ्चैव कुब्जं काणं वधीरकम् ॥**
**दिग्वक्त्रं चिपिटञ्चैव व्यङ्गजं मुरजं तथा।**

1. बृहत्संहिता – वृक्षवेध - 85
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय – श्लो. 86 - 87

**कुटिलं कुट्टकञ्चैव सुप्तञ्च शङ्खपालकम् ॥**
**विकटञ्च तथा कङ्कं कैङ्करं षोडशं स्मृतम्।**[1]

विश्वकर्मप्रकाश में उल्लेखित 16 गृह वेध के लक्षण बताए गए हैं। इन लक्षणों को जानकर हम उन गृहों के वेद को बता सकते हैं। अर्थात् लक्षणों के माध्यम से ही तद् - तद् वेधों को जान सकेंगे। उपर्युक्त 16 गृह वेधों के उल्लेख प्राप्त होता है , उनका लक्षण यहाँ पर बताया जा रहा है।[2]

**लक्षण-**

- जिस घर में कोई छिद्र (झरोखा- रोशनदान खिड़की आदि) न हो, उसको अन्धक गृह अथवा अन्धक वेध कहते हैं।
- जिस गृह के कोनों में छिद्र (झरोखे) हों अथवा यहाँ-वहाँ छिद्र हों तो वह काणवेध गृह कहलाता है।
- जो गृह हीनांग हो अर्थात् जिसकी कोई दीवाल अनावश्यक ऊँची तथा दूसरी अनुपातहीन नीची हो, वह कुब्जक वेध गृह होता है।
- जिस गृह का द्वार भूमि में (नीचे) धँसा हुआ हो, उसे बधिर वेध कहते हैं
- जिस गृह के सभी दिशाओं में अनेकों छिद्र हों, उसे दिग्वक्त्र अथवा दिङ्मुख वेध गृह कहते हैं।
- जिस गृह में अनेक प्रकार की चोट लगने वाली चित्र हों अथवा कूड़ा-कर्कट हो, उस गृह को रुधिर वेध गृह कहते हैं।
- जो गृह बहुत कम ऊँचाई वाला हो, उसे चिपिट वेध कहते हैं।
- जिस गृह का स्वरूप अशुभ हो उसे व्यङ्ग वेध कहते हैं।
- जिस गृह के पार्श्व भाग अधिक ऊँचे हों उसे मुरज वेध गृह कहते हैं।
- जो गृह तल रहित (टेढ़ा-मेढ़ा) होता है, उसे कुटिल वेध गृह कहा जाता है।
- जो गृह जंघा रहित हो अर्थात् जिसका फर्श मार्ग से ऊँचा न हो तो उसे शङ्खपाल वेध गृह कहते हैं।
- जो गृह चारों दिशाओं में टेढ़ा हो अथवा जिसकी दीवारें दिशाओं के सापेक्ष (सदिक्) न हों उसको विकट वेध गृह कहा जाता है।
- जिस गृह के पार्श्व नहीं होते हैं, उस को कङ्क वेध गृह कहते हैं
- जो गृह हल के समान ऊँचा हो उसे कैङ्कर वेध गृह कहते हैं।
- जिस गृह का द्वार इतना नीचा है कि प्रवेश एवं निकलने के समय सिर फूटता हो उसको कुट्टक वेध गृह कहते हैं।
- जिस गृह की ऊँचाई कम हो तथा जो लम्बाई में अधिक हो उसके सुप्त वेध गृह कहा जाता है।

**अन्धकं छिद्रहीनञ्च विच्छिद्रं दिशिकाणकम् ।**
**हीनाङ्गं कुब्जकञ्चैव पृथ्वीद्वारं वधीरकम् ॥**

1. विश्वकर्म प्रकाश -13, 1-2
2. विश्वकर्मप्रकाशः त्रयोदशोऽध्यायः, श्लोक-3-6

**रन्ध्रं विकीर्णं दिग्वक्त्रं रुधिरञ्चाविपद्गतम् ।**
**तुङ्गहीनञ्च चिपिटं व्यङ्गञ्चानर्थ दर्शनम् ॥**
**पार्श्वोन्नतञ्च मुरजं कुटिलं तालहीनकम् ।**
**शङ्खपालं जङ्घहीनं दिग्वक्रं विकटं स्मृतम् ॥**
**पार्श्वहीनं तथा कङ्क कैङ्करञ्च हलोन्नतम् ।**
**शिरं स्फुटति यद् द्वारे कुट्टकं तं प्रकथ्यते ॥**
**निम्नं तथातिलम्बञ्च सुप्तमित्युच्यते बुधैः ।**[1]

गृह वेध के जो लक्षण बताए गए हैं, उन लक्षणों को जानकर उनका निवारण करना चाहिए। विश्वकर्मप्रकाश में 16 गृह वेध के जो लक्षण बताए गए हैं ,उनका फल बताया गया है। जिनका उल्लेख यहां पर किया जा रहा है। ये सभी गृह अधम , निन्दित या अशुभ होते हैं। अतः इन्हें त्याग कर देना चाहिये अथवा निवारण कर उसमें वास करना चाहिए। क्योंकि अन्धक गृह में निवास करने से अनेकों रोग उत्पन्न होते हैं तथा असाध्य हो जाते हैं। रुधिर गृह में अतिसार या संग्रहणी रोग का भय रहता है। कुब्जगृह में कुष्ठादि रोग होते हैं। काण गृह में अन्धता (नेत्ररोग) होते हैं। पृथ्वीद्वार में सर्वदुःख अथवा मरण होता है। दिग्वक्त्र में गर्भनाश (गर्भविकृति), चिपिट गृह में नीचों की संगति, व्यङ्ग में व्यङ्गता, कुट्टक में भूतदोष, सुप्त में गृहपति का क्षय, शंखपाल में कुरूपता तथा विकट में सन्तति का नाश होता है। कङ्क में शून्यता, कैङ्कर में स्त्री हानि तथा प्रेष्यता होती है। घर के भीतर की जो चौड़ाई होती है, प्रायः उसके अनुपात से उसकी ऊँचाई (ऊर्ध्व) होनी चाहिये। जिस गृह की ऊँचाई उसके सम्पूर्ण (क्षेत्रफल) भूमि के त्रिभाग होती है, उस घर को उत्तम कहते हैं। इससे न्यूनाधिक होना रोग को उत्पन्न करता है।

**इत्येतेऽधमाः प्रोक्ता वर्जनीया प्रयत्नतः।**
**अन्धके रोगमतुलं रुधिरेऽतिसारजं भयम् ॥**
**कुब्जे कुष्ठादिरोगश्च काणेऽन्धत्वं प्रजायते।**
**पृथ्वीद्वारं सर्वदुःखं मरणं वा प्रजायते ॥**
**दिग्वक्त्रे गर्भनाशः स्याच्चिपिटे नीचसङ्गतिः ।**
**व्यङ्गे च व्यङ्गता नैः स्वं मुरजे कुटिले क्षमः ॥**
**कुट्टके भूतदोषः स्यात् सुप्ते गृहपतेः क्षयः।**
**शङ्खपाले कुरूपं स्यात् विकटेऽपत्यनाशनम् ॥**
**कङ्के शून्यं कैङ्करे च स्त्रीहानिः प्रेष्यता भवेत्।**[2]

अब आपके सम्मुख 10 प्रकार के वाह्य वेध बताया जाएगा। इन 10 प्रकार के वाह्य वेध के लक्षणों को जानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना लक्षणों को जाने वेध को नहीं जान सकते हैं। अतः लक्षण जानना

1. विश्वकर्म प्रकाश -13, 3-6
2. विश्वकर्म प्रकाश -13, 8-11

महत्वपूर्ण हो जाता है। आइए 10 प्रकार के जो वाह्य वेद बताए गए हैं उनका लक्षण अध्ययन करें।

1. कोण, अर्धकोण वेध, 2. दृग्वेध, 3. क्षुद्रवेध, 4. छायावेध, 5. ऋजुवेध, 6. वंशवेध, 7. अग्रवेध, 8. भूमिवेध 9. संघात 10 . दन्तवेध। ये दस प्रकार के बाह्य वेध होते हैं।

**कोणदृक् क्षुद्रछायोक्षऋजुवंशाग्रभूमिकाः सङ्घातदन्तयोश्चैव वेधाश्च दशधा स्मृताः**[1]

यदि किसी गृह के कोने के ठीक सामने किसी अन्य ग्रह की भित्ति तथा गृह के अर्धभाग से मिला हुआ किसी अन्य गृह का कोना हो तो उसे कोण वेध कहते हैं। कोण वेध होने पर व्याधि होती है तथा धन का नाश एवं शत्रुओं से झगड़ा भी होता है। यदि गृह के प्रधान द्वार के सामने ही किसी अन्य गृह का मुख्य द्वार हो तो वह दृष्टि वेध होता है। यह दृष्टि वेध धननाशकारक होता है तथा निश्चित ही मृत्युतुल्य दुःख होता है। गृह के समक्ष यदि दूसरा अन्य छोटा गृह बना हो तो उसे क्षुद्र वेध कहते हैं, वह पशुओं के लिये हानिकारक होता है। यदि किसी अन्य गृह की छाया दिन के द्वितीय या तृतीय प्रहर में गृह पर पड़ती हो, तब उसे छाया वेध कहते हैं। वह भी पशुओं की हानि करनेवाला तथा रोगकारक होता है। जिस गृह में कमरों की प्रथम पंक्ति पूर्व या उत्तर दिशा में हो तथा पिछली पंक्ति दक्षिण या पश्चिम में हो तथा मध्य में वास्तु के भीतर समान भित्तियों के कक्ष निर्मित हों, वह गृह अशुभ होता है। जो गृह विषम (एक ओर दीर्घ तथा दूसरी ओर ह्रस्व हो, तो वह ऋजु वेध कहलाता है। वह दोषकारक होता है तथा उसमें महा अशान्ति होती है। यदि किसी गृह के वंश (बाँस) के आगे अन्य गृह का वंश हो तथा भित्ति के आगे अन्य भित्ति हो तो यह वंश वेध तथा अग्र वेध कहा जाता है। यह वेध वंश हानिकर होते हैं। जहाँ गृह के उक्षों का संयोग यूपाग्र में होता हो, उसे उक्ष वेध कहते हैं। इसमें विनाश तथा कलह होता है । जिस गृह के पूर्व तथा उत्तर दिशा की विपरीत अर्थात् ऊँची हो तथा गृह नीचे में स्थित हो, वह उच्च वेध (भूमिवेध) होता है। वह शुभफल नहीं देता है। क्योंकि उसमें सूर्य के प्रकाश तथा वायु का अवरोध होता है। दो गृहों के अन्तर्गत भी जो गृह होता है वह भी शुभदायक नहीं होता है। जिस गृह की ऊँचाई से आधे भाग पर अन्य गृह हो तथा उसी प्रकार गृह पाराग्र में स्थित हो और दोनों की भित्तियों का जहाँ संघात हो अथवा दोनों गृहों की भित्तियाँ एक हों तो यह संघात वेध होता है। इस प्रकार के जुड़वा गृहों के निर्माण के उपरान्त शीघ्र ही दोनों के स्वामियों का मरण होता है। तात्पर्य यह है कि दो मकानों की एक ही भित्ति होना अथवा दोनों का सटा हुआ होना बहुत अशुभ होता है। जिस गृह की भित्ति के सम्मुख किसी पर्वत से निकला हुआ खण्ड दाँत के समान आगे को हो तो उसे दन्त वेध कहते हैं। वह दन्तवेध रोग तथा शोककारक होता है।

**विविध वेध**

यहाँ पर वास्तु के विविध वेधों के बारे में जानेंगे। कहा गया है कि यदि घर के पूर्व दिशा में कोई गहरा गड्ढा हो दक्षिण में कोई मंदिर या मठ हो पश्चिम में जलाशय हो उत्तर दिशा में गहरा गड्ढा हो तो वेध कारक होता है। उसी प्रकार पूर्व दिशा में फलदार वृक्ष हो दक्षिण में दूध वाला वृक्ष हो पश्चिम में जलधार वृक्ष हो तो वेधकारक होते हैं। इस में निवास करने पर शत्रु का भय बना रहता है। दूध वाले वृक्ष धन नाश करते हैं, फलदार वृक्ष शोक उत्पन्न करते हैं। यह सब 10 दण्ड की दूरी तक ही गृह के निवासियों को पीड़ित करते हैं। वे कलह, नेत्र रोग, व्याधि ,शोक, एवं धन की हानि करते हैं। 10 दण्ड के आगे इनका वेध नहीं लगता है। गृह के गली या मार्ग के भीतर दोष नहीं होना चाहिए

1. विश्वकर्म प्रकाश -13, 20-22

अर्थात गृह अन्तिम रास्ते पर नहीं होने चाहिए नहीं तो वेध उत्पन्न होता है।[1] उसको त्याग देना चाहिए। जिस ग्रह के ईशान, अग्नि, नैऋत्य, तथा वायव्य कोण में महल, गली अथवा गृह स्थित हो तो वह भी वेध उत्पन्न करता है। इसमें निवास नहीं करनी चाहिए। नगर का भी वेध होता है । कहा गया है कि नगर का जब निर्माण करें तब वह नगर के मार्ग में श्मशान से वेधित न हो। जो घर बिजली गिरने से आहत हो गया हो वह भी वेधित होता है। उसमें निवास करने से मृत्यु होती है। यदि घर में अग्नि से काष्ट जल गया हो तो उसको घर में लगे रहने से निर्धनता तथा संतान की हानि होती है। यह भी वेधकारक होता है। इसी प्रकार से घर में खराब, जर्जर जीर्ण, अग्नि से जला, अर्थदण्ड, अंगहीन, छिद्रहीन, छिद्र युक्त ये सभी काष्ट वेधकारक होते हैं। इन लकड़ियों को घर में नहीं लगाना चाहिए या उस घर को भी त्याग देना चाहिए।[2]

कुछ महत्वपूर्ण दोषकारक भूमि है जिनका उल्लेख यहाँ पर करना अपेक्षित है। जैसे वह भूमि जो पूर्व ईशान तथा आग्नेय कोण में ऊंची और पश्चिम में नीचे हो वैसी भूमि दैत्य पृष्ठभूमि कहलाती है। दैत्य पृष्ठभूमि पर गृह निर्माण करने से गृह में धन की कमी होती है और पुत्र- पशुओं का नाश होता है।[3] इस प्रकार से दैत्य पृष्ठभूमि का त्याग कर देते हैं। नाग पृष्ठभूमि जो पश्चिम की ओर लंबी दक्षिण तथा पश्चिम में ऊंची होती है। उस भूमि में निवास करने से मन में अशान्ति बनी रहती है , और निवास करने से गृह स्वामी की मृत्यु, पुत्र की हानि, पशुओं का भय बना रहता है।[4] इसलिए नाग पृष्ठभूमि को भी निन्दित माना गया है। भूमि के क्षेत्रफल में भी वेध अथवा दोष पाया जाता है। जिनमें चक्रकार भूमि है, चक्राकार भूमि जो चक्र के आकार की हो बहुत सी भुजाएं दिखती हो और गोलाई लिए हो उसको चक्राकार भूमि कहते हैं। ऐसी भूमि गृह निर्माण के लिए अच्छी नहीं होती है। इसको दोषकारक मानते हैं । विषमाकार भूमि का आकार विषम हो अर्थात समान नहीं हो वह भी विषमाकार भूमि होती है। यह भी दोष कारक होती है। इसमें गृह निर्माण नहीं करना चाहिए। जो भूमि त्रिकोण आकार की हो वह त्रिकोणाकार भूमि कहलाती है। यह भूमि अच्छी नहीं मानी जाती है। इसमें निर्माण करने से स्वामी की हानि होती है। गाड़ी की तरह जो भूमि हो उसको सकटाकार भूमि कहते हैं। यह भी दोष कारक होती है। इसमें गृह निर्माण नहीं करना चाहिए। दण्ड के आकार की भूमि को दण्डाकार भूमि कहते हैं। यह शोक कारक होती है। इसमें भी गृह निर्माण नहीं करना चाहिए। धनुष के आकार की आकृति वाली भूमि धनुषाकार भूमि कहलाती है।[5] यह भी दोषकारक होती है अर्थात वेधकारक होती है। इसमें गृह निर्माण करना अशुभकारी होता है।

❖ ❖ ❖

1. विश्वकर्म प्रकाश - अ. 7, श्लोक 81
2. विश्वकर्मप्रकाशः 13-12, 15
3. बृ. वा. मा.-श. अ.श्लो.- 86, 87
4. तत्रैव - 88-89
5. तत्रैव - 81-92

# वास्तुशास्त्रीय नगरयोजना में अन्तरापण

**– नवीन कुमार झा**

नगर की कल्पना करते ही बाजार की आवधारणा मस्तिष्क में बनने लगती है। प्रस्तुत आलेख वास्तुशास्त्र का परिचय से प्रारम्भ होता है और नगर की अवधारणा, उत्पत्ति, एवं विकास की चर्चा करते हुए नगर में अन्तरापण की आवश्यकता कैसे बनी इसका विश्लेषण किया गया है। सर्वप्रथम देश की परिकल्पना एवं निवेश के उपरान्त ही नगर का स्थान आता है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार किसी व्यक्ति विशेषद्वारा किसी स्थान विशेष पर एक गृह की स्थापना होती हैं। फिर धीरे-धीरे उसी कुल से सम्बध रखने वाले और भी व्यक्ति उसी स्थान में रहने लगते हैं, कालान्तर में वह एक ग्राम में बदल जाता है। इस प्रकार ग्राम बढ़कर बहुग्राम, पुर एवं नगरादि के रुप में विकसित होते हैं। बहुग्राम, पुर एवं नगर में परिणत होते ही वहाँ एक हाट्ट की आवश्यकता पड़ती हैं। हाट्ट को पुर भी कहा जाता हैं। अतः गेह से ग्राम, ग्राम से बहुग्राम एवं पुर बढ़ते हुए नगर में परिणत होते हैं। नगर का बड़ा स्वरुप पत्तन एवं महानगर होतें हैं। इन सब जगहों पर बाजार की उपस्थिति रहती है अर्थात् व्यवसायिक स्थलों के बिना इन सब का परिकल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। अतः इन सब जगहों पर किन-किन स्थानों पर किन-किन व्यवसायों का स्थल होना चाहिए? इन सब का वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण सें विश्लेषण करने का लघु प्रयास किया गया हैं। नगर के किस भाग में कौन सा व्यवसाय उचित होगा और नगरयोजना में बाजार का स्थान, योगदान एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

सर्वप्रथम देश निवेश की परिकल्पना की जाती है। तदुपरान्त ही पुरनिवेश वा नगरनिवेश का स्थान आता है। कहा भी हैं –

**"देशः पुरं निवासश्च समावेश्मानानि च ।"**[1]

परन्तु देश निवेश का सम्बन्ध शास्त्र की अपेक्षा राजनीति से अधिक है। क्योंकि राज्यसत्ता के द्वारा ही देश-विशेष की सीमा उसपर प्रभुत्व तथा स्वामित्व का निर्धारण होता है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से वास्तु के क्षेत्र में देश विशेष के नियमों से अधिक पुर निवेश के नियम प्राप्त होते हैं। पुर के पर्यायवाची नगर और नगर के भेद - पत्तन, खर्वटक, खेटक, पुटभेदन, ग्राम, दुर्ग आदि भी पुर निवेश के क्षेत्र अन्तर्गत आते हैं। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार नगर का निम्न पर्याय प्राप्त होते हैं –

**नगरं मन्दिरं दुर्गं पुस्करं साम्परायिकम् । निवासः सदनं सद्म क्षयः क्षितिलयस्तथा ॥**[2]

---

1. समराङ्गणसूत्रधार १/४
2. समराङ्गणसूत्रधार १८/१

इन पर्यायों में विभिन्न प्रकार के नगर विकास के बीज छिपें हैं। मेरी समझ में ग्रन्थकार ने इन पर्यायवाची शब्दों से नगर के विभिन्न प्रकार के विकास परम्पराओं की सूचना दी है। जैसे- सदन, सद्म, क्षय और निवास भवनवाची शब्द का पर्याय हैं अर्थात् भवनसमूह साधारण ग्राम विकास की ओर इङ्गित करती है। उसी प्रकार मन्दिर से मन्दिर नगर (Temple Cities) की ओर दिशा निर्देश कर रही है। दुर्ग एवं पुष्कर से दुर्ग नगर तथा जलतटीय नगरों का बोध होता है।

उसी प्रकार शब्द कल्पद्रुम की इस पुर पर्याय से भारतीय नगर-विकास के विभिन्न स्वरुपो की विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं।

| | |
|---|---|
| १. गेहम् | ७. स्थानीयम् |
| २. हट्टादिविशिष्टस्थानम् | ८. कटकम् |
| ३. बहुग्रामीय | ९. पट्टम् |
| ४. पुरी | १०. निगम |
| ५. नगर | ११. पुरभेदनम् |
| ६. पत्तनम् | ( शब्दकल्पद्रुम भाग-३ पृ.१७२) |

इन पुर पर्यायों की समीक्षा से भारतीय आर्य नगरों की उत्पत्ति विकाश एवं इतिहास पर पूर्णरुपेण प्रकाश पड़ता है।

**गेहः-** गेह यहाँ शब्दकल्पद्रुम का पहला पर्याय है। जिसका अर्थ होता हैं गृह। यह एक कौटुम्बिक गृह पहले-पहले किसी व्यक्तिविशेष द्वारा किसी स्थान विशेष में स्थापित होता है। फिर धीरे-धीरे उसी कुल से सम्बन्ध रखने वाले वा उसी जाति के लोग भी वहीं आकर रहने लगते हैं। तब वह गेह कालान्तर में एक छोटे ग्राम में बदल जाता हैं। इस प्रकार का ग्राम जहाँ एक ही गोत्र वा कुटुम्ब के व्यक्ति रहते हो, उसे 'एकयोग' की संज्ञा मनुष्यालय चन्द्रिका में देखने को मिलता है। यथा-

**एकविप्रवरागारं तत्कुटुम्बसमन्वितम् ।**
**एकभोगं भवेद्ग्रामं तद्भृत्यायतनावृतम् ॥**[1]

इस प्रकार ग्राम बढ़कर बहुग्राम और पुर एवं नगरादि के रुप में विकसित होता गया।

**हट्टादिविशिष्टस्थानम् (अन्तरापणम्)** – हट् अर्थात् बाजार आदि का विशिष्ट स्थान जहाँ हों उस स्थान को भी पुर कहा जाता है। परन्तु एक बाजार को पुर की पदवी कैसे मिली इस पर विचार करें तो किसी विशेष भूभाग में पास ही पास चतुर्दिक छोटे-छोटे ग्राम फैले हुए हैं। ग्रामिणों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उन ग्रामों के केन्द्रस्थ में एक हट् (हटिया) की स्थापना हूई। वहीं पर सब ग्रामिण किसी दिन विशेष पर जम्मा होने लगे। प्रारम्भ में दूकानें पहले यों ही आती तथा फिर अपना विक्रय कर चली जाति रही होंगी। कालान्तर में व्यवसायियों तथा वणिंको के व्यपार में वृद्धि से वे ही दूकानें वहीं स्थापित हो गयी। क्रमशः और दूकाने बनने लगी। इस प्रकार वह नैमित्तिक हट्ट

1. मनुष्यालय चन्द्रिका ३/१९

समयान्तर में एक स्थायी हट्ट के रूप में परिवर्तित हो गया। (वास्तु विद्या पृ. ९०-९१)

"बहुग्रामीय व्यवहारस्थानम्" का तात्पर्य यहाँ कोषकार ने लेनदेन से लिया है। बाजार में लोग न केवल समान खरिदने आते थे, बल्कि वह अपने अन्नादि द्रव्य को बेचने भी आते थे। इसलिये कोषकार ने अन्तरापण (बाजार) को लेनदेन का व्यवहार स्थान कहा है। आजकल भी देहाती बाजारों में हमें यह देखने को मिलता है। प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय नगर 'सप्तग्राम' एवं नेपाल का 'सखुअवा महेन्द्रनगर' इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण भी है। सप्तग्राम बहुत समय तक एक व्यवसाय केन्द्र रहा जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी आते थे, व्यवसाय करते थे और रहने भी लगे। कालान्तर में सप्तग्राम और व्यवसाय केन्द्र मिलकर एक विशाल नगर के रुप में विकसित हुई।

नगर में अन्तरापण का महत्वः- नगर शब्द के व्युत्पत्ति नग (न गच्छतीति नगः) से सम्भवतः सम्मन्न हुआ हैं। जिस प्रकार एक नग पर्वत में पाषाण के कारण स्थायित्व एवं पुष्टि होती है। उसी प्रकार ऐंसी बसती जिसमे पक्के मकान हो तथा जिसकी दीवालें एवं छतें विशेषकर पाषाण वा तप्त इष्टिकाओं से निर्मित हो, जहाँ अच्छे बाजार हो, उसको नगर संज्ञा दी गयी है। मानसार में नगर की निम्न परिभाषा दी गयी हैं-

**जनैः परिवृत द्रव्यक्रयविक्रयकादिभिः।**
**अनेकजातिसंयुक्तं कम्मकारैः समन्वितम् ॥**
**सर्वदैवतसंयुक्तं नगर चाभिधीयते ।**[1]

मयमत में-

**दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्तं तु सालाढ्यम् ।**
**क्रयविक्रयकैर्युक्तं सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥**
**सर्वसुरालयसहितं नगरमिदं केवलं प्रोक्तम् ।**
**प्रत्यगुदग्दिशि गहन परितःसाला बहिः सपांसुचया ।।**[2]

इन दोनो परिभाषाओं में बहुत कुछ साम्य है। दोनो का अर्थ है- जहाँ पर क्रयविक्रय आदि विभिन्न व्यवहार होते हैं अर्थात् अन्तरापण (बाजार) का समुचित स्थान होता है। अनेक जातियों के लोग निवास करतें हैं। चारो दिशाओं में द्वारादि से सुसज्जित एवं नाना प्रकार के लोग रहते हैं। विभिन्न श्रेणियो के कर्मकार बसते हैं। अर्थात् जहाँ पर सब प्रकार के देवो के मन्दिर हों उसे नगर की संज्ञा दी गयी हैं। इन दोनो परिभाषाओं से ही नगरयोजना में अन्तरापण का महत्त्व स्पष्ट रुप से दिखाई पड़ति हैं। बाजार व्यवस्थापन के बिना नगर का परिकल्पना करना ही व्यर्थ है। अतः नगरनियोजन में वास्तुशास्त्रीय अन्तरापण का एक विशिष्ट महत्त्व एवं योगदान हैं।

**पत्तनम्-** 'पत्तन' में नगरनियोजन के व्यवसाय एवं वाणिज्य विकाश के बीज छिपे हैं। वाणिज्य और व्यवसाय को सुदूर अन्तर्देश तथा विदेश में फैलाने के लिए बड़ी-बड़ी सरिताओं तथा समुद्रो ने बड़ा योगदान दिया है। संसार के अनेक देशों में यह देखा गया कि समुद्र तटिय व्यवसायिक केन्द्र (Trading port) जिसे शब्दकल्पद्रुमकार ने पत्तन की संज्ञा दी है, वह कालान्तर में बड़े-बड़े व्यवसायिक महानगरों में परिणत हो गये। यह

1. मानसार अ. ९
2. मयमत १०/२०-२१

बहुत पुरानि परम्परा है, जब विभिन्न जातियाँ किसी स्थान विशेष पर वाणिज्य के लिए एकत्रित होता था, पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए विचार-विमर्श करते थे एवं अपने-अपने कच्चे-पक्के माल-समान दूर-दूर के बाजारों में व्यापार विनियोग की प्लानिङ्ग करते थे। यह योजना का स्थान प्रायः किसी समुद्रि तट या सरिता के तट पर होता था। उसी स्थान को पत्तन कहा गया, जिसका ज्वलन्त उदाहरण आधुनिक हावड़ा हाट एवं चिटगांव है। पत्तन शब्द की परिभाषा मयमतानुसार भी यही है –

**द्वीपान्तरागतवस्तुभिरभियुक्तं सर्वजनसहितम् ।**
**क्रयविक्रयकैर्युक्तं रत्नधनक्षौमगन्धवस्त्वाढ्यम् ॥**
**सागरवेलाभ्याशे तदनुगतायामि पत्तनं प्रोक्तम् ।**[1]

अर्थात् पत्तन उस नगर को कहते है जहाँ अन्य द्वीपों से आये हुये वस्तुओं से युक्त, सभी प्रकार के लोगों से युक्त, क्रय-विक्रय स्थल से युक्त, रत्न, धन, सिल्क के वस्त्रों से युक्त, तथा विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों (इत्र आदि) से युक्त, सागर तट पर स्थित हो। श्री वेंकटराम अय्यर महोदय ने अपने 'टाउन प्लानिङ्ग इन एन्शियेंट डेकन' नामक पुस्तक में 'कावेरिपु पत्तिनम्' कहकर पत्तन नामक प्रचीन नगर का वर्णन किया है। तथा-

**क्रयविक्रयसंयुक्तमब्धितीरसमाश्रितम् ।**
**देशान्तरागतजनैर्नानाजातिभिरन्वितम् ॥**
**पत्तनं तत् समाख्यातं वैश्यैरध्युषितं तु यत् ।**[2]

उपर्युक्त परिभाषा को लेकर निष्कर्ष रुप में हम कह सकते हैं कि पत्तन एक प्रकार का वृहत् वाणिज्य बन्दरगाह है जो किसी समुद्र या सागर किनारे स्थित है, जहाँ पर प्रधानरुप से वणिक् गण निवास करते हैं ।

नगरयोजना में अन्तरापण (बाजार) का निवेश –

नगर का निवेश अन्तरापण के बिना अधुरा रहेगा। अतः वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से नगर के मध्य में वणिक् वा वैश्यों का वासस्थान होना चाहिये। यथा-

**ब्राह्मणाः पूर्ववास्तव्याः क्षत्रियाश्चैव दक्षिणे ।**
**प्रशस्ताश्चोत्तरे शूद्रा वैश्या मध्ये च संकुलाः ॥**[3]

सभी को सौविध्य को ध्यान में रखते हुए नगर के मध्यभाग में ही राजभवन तथा मन्दिर होने की परिकल्पना वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से की गयी है। अपराजितपृच्छा को समर्थन करते हुए मयासुर ने भी व्यवसायिकों के लिए नगर के मध्यभाग को ही चुना और कहा है बाजार के चारो ओर रथ (बड़ी गाड़ी वा ट्रक आदि) के चलने योग्य मार्ग होने चाहिये। यथा-

**परितो रथपथयुक्तं मध्ये वणिजां गृहश्रेणी ।**

---

1. मयमत १०/२८-२९
2. मानसार अ. ९
3. अपराजितपृच्छा सूत्र ७२/४१

**तद्दक्षिणतः पार्श्वे गेहं स्यात्तन्तुवायानाम् ॥[1]**

अर्थात् मय ने बाजार के दक्षिण पार्श्व में जुलाहों के गृह बनाने का निर्देश किया है। अपराजितपृच्छानुसार राजद्वार वा बाजार के दक्षिण दिशा में लोहे के समान, विविध प्रकार के शस्त्रादि के व्यापारियों की दुकानें, व्यजन, पंखे, मोरपंख, छत्र, चामर, मख्खी-मच्छर हटाने की चँवरियाँ आदि के विक्रेताओं की स्थायी दुकानें बनी हुई शुभ होती हैं। यथा-

**आयसोपस्करं सर्वं शस्त्रादि विविधं तथा ।**
**व्यजनच्छत्रमायुरं शाश्वतं दक्षिणे शुभम् ॥[2]**

दक्षिण दिशा में काले वस्त्र का व्यवसाय भी शुभ कहा है। उसी प्रकार उत्तर भाग में कुम्हारों (वर्तन बनाने वाले वणिकों) का भवन होना चाहिये । मयमतानुसार-

**उत्तरतस्तद्वासावलिकं स्याच्चक्रिकाणां तु ।**
**कर्मोपजीविनां स्याद्वासं रथपथ्येनेकानाम् ॥[3]**

अर्थात् उत्तर भाग में ही रथपथ से जुड़े ही अन्य शिल्पियों वा कारिगरों के गृह होने चाहिये । जैसे गृह निर्माण करने वाले पेन्टर, लोहार (लोहे का काम करने वाले), मूर्ति बनाने वाले आदि। सौम्य भाग में लाल रङ्ग से कपड़ो की रङ्गाई करने वालों, मंजिठे के रङ्ग बनाने वाले, रङ्गरेजो, नारियल के भण्डारों के व्यापारी तथा संसारिक जीवन में धर्म-अर्थ-काम में आनेवाले पदार्थ उपकरणों की दूकानों की व्यवस्था भी अपराजितपृच्छा में शुभ कही गयी है। यथा-

**मञ्जीष्ठरङ्गशोभाढ्यं नारिकेलसमाकुलम् ।**
**त्रिगणोपस्कराद्यं च राजद्वारोत्ररे शुभाः ॥[4]**

पूर्व में सफेद वस्त्रों के व्यापारियों के बाजार मुहल्ले व दूकानें प्रशस्त कही है, जिसे राजभवन के आगे की ओर किया जायगा । यथा-

**पूर्वतः श्वेतवस्त्राद्यं राजवेश्माग्रकल्पितम् ।[5]**

अन्न के बाजार सभी दिशाओं में होने चाहिये। पुरवासियों के सुविधा के लिए चित्रकार, धोबी आदि के दुकान अपने-अपने मोहल्ले में ही उनके देवालयों सहित होनी चाहिये। पान वालों या पनवाड़ियों-तम्बोलियों की दुकानें व सुपाड़ी बेचने वाले की दुकानें देवताओं के आगे लगे बाजारों में होनी चाहिये। राजवल्लभमण्डन में भी विभिन्न व्यवसायियों के स्थान का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार पान, फल, हाथी के दाँत, सुगन्धित द्रव्य, पुष्प एवं मोती के हाट राजभवन एवं मन्दिर के सम्मुख होने चाहिये। यथा-

1. मयमत १०/७८
2. अपराजितपृच्छा सूत्र ७२/३६
3. मयमत १०/७९
4. अपराजितपृच्छा सूत्र ७२/३६
5. अपराजितपृच्छा सूत्र ७२/३८

**ताम्बूलं फलदन्तगन्धकुसुमं मुक्तादिकं यद्भवेत् ।**
**राजद्वारसुराग्रतो हि सुधिया कार्यं पुरे सर्वतः ॥**[1]

मयमतानुसार वास्तु के एकाशिति पदों में विन्यास कर हाट बनाने का निर्देश किया है। उन्होनें जो मार्ग मध्य के नवपदों अर्थात् ब्रह्मपदों को घेरता हो उसपर पान, फल एवं सारयुक्त सामग्रियो का हाट बनाने को कहा है। उसी मध्य भाग में जाने वाले मार्गो पर रत्न, सुवर्ण एवं वस्त्रों का हाट भी होना चाहिये । इस प्रकार मय ने बसति विन्यास (नगरादि) में चारो ओर नव प्रकार के व्यवसायों का वर्णन किया है। जो निम्न क्षेत्र दर्शन से स्पष्ट होता हैं-

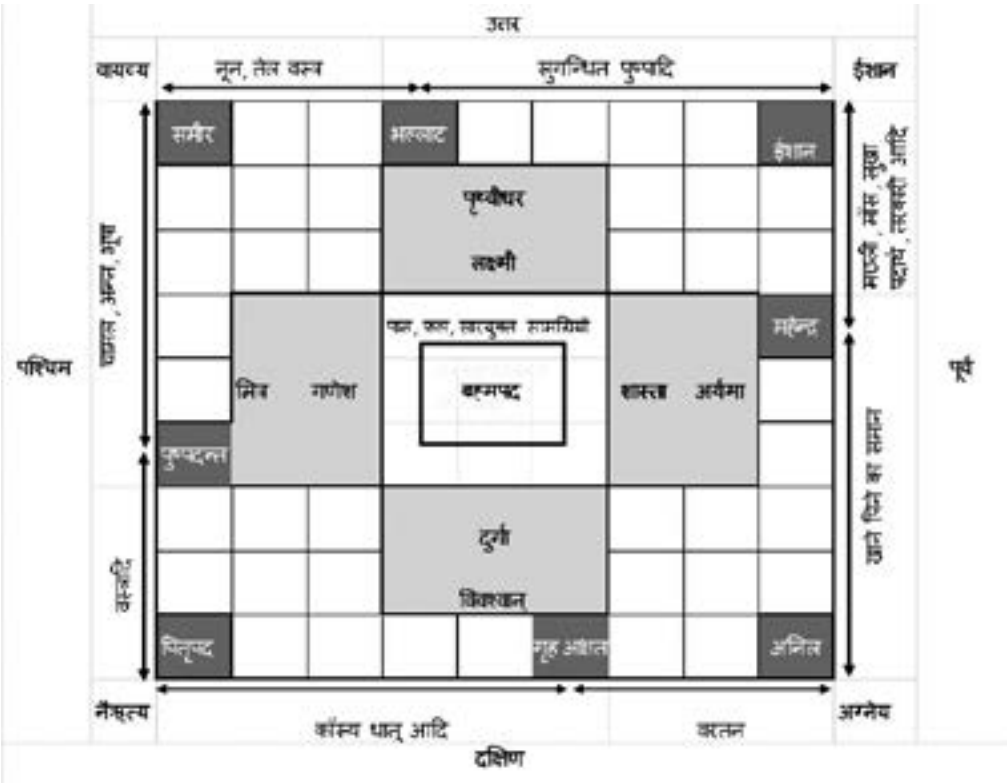


इसके अतिरिक्त माञ्जिष्ठ, काली मिरीच, पिपल, हल्दि, शहद, घी, तेल एवं औषध के विक्री स्थल सभी स्थानों पर होनी चाहिये । यथोक्तम्-

**माञ्जिष्ठं तु मरीचं पिप्पलकं चापि हारिद्रम् ।**
**मधुघृततैलादिकमथ भैषज्यं सर्वतः कार्यम् ॥**[2]

उसी प्रकार चारो कोणों में भी राजवल्लभमण्डन में वास्तुशास्त्रीय व्यवसायों का विन्यास किया गया है।

1. राजवल्लभमण्डन ४/१८
2. मयमत १०/८७

जैसे ईशान कोण में रङ्गरेज जुलाहे धोबी अग्नेय कोण में अग्निजीवी धातुशिल्पी अन्त्यज चर्मकार वरड सुराजीवी एवं वेश्याओं को नैऋत्य कोण तथा वायव्य कोण में व्याध को बसना चाहिये। यथा-

**ईशे रङ्गकराः कुविन्दरजकाः वह्नौ च तज्जीविनः ।**
**प्रोक्ता अन्त्यजचर्मकारबरड़ाः स्युः शौण्डिकाः राक्षसे ॥**
**पण्यस्त्री निर्ऋतौ च मारुतयुते कोणे न्यसेल्लुब्धकान् ।**[1]

उसी तरह राजद्वार के ईशान कोण की ओर विपणन केन्द्र में कपड़े के व्यापारियों या बजाजों की दुकानें और घोड़े के गजगाव-झूल झीण आदि वस्त्र और काठी तथा लगाम,(पट्टिनेत्रपट्टादिकं) की दूकानों के व्यापारियों की स्थिति उचित है। आग्नेय कोण की ओर छोटे वस्त्रों की व्यापारियों तथा वस्त्रों की बन्धनी के रङ्गरेज-बनारा आदि और दर्जी आदि की दुकाने होनी चाहिये ।

वास्तुशास्त्रीय बाजार विनियोग में सरसफाई एवं जल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अतः "हट्टमार्गयोः जलाश्रयं जगत्यन्ते" अर्थात् बाजार के मार्ग पर जल का अपरिहार्यता अपराजितपृच्छा ग्रन्थ में बताया गया हैं। कहा गया हैं, जहाँ निमित्त लोगो का आना-जाना लगा रहे और भीड़-भाड़ बनी रहती हो, वहाँ उपर्युक्त जलश्रोतादि के प्रबन्ध में कमी नही होनी चाहिए। इसी तरह मण्डी की व्यवस्थाओं में स्वर्णकारों सर्राफों की दुकाने तथा गन्ध-अत्तरों की दुकानें, गन्धयुक्त मसालों की दुकानें, हाथी दाँत के कारीगर, चूड़ीगारों आदि दुकानें, धान्यगृह अर्थात् सभी प्रकार के अनाज, गेहुँ, तिलहन-दलहन, जिंसो के भण्डारों के स्थानों में भी जल की व्यवस्था अनिवार्यरुप से होनी चाहिए। यथा-

**क्रयवस्तुयुतौकश्च तदग्रे विक्रयादिकम् ।**
**यतश्चागम्यते लोकैर्वर्तते जनसंकुलम् ॥**
**स्वर्णकारं सुगन्धं च गन्धिकं च तृतीयकम् ।**
**दन्तकर्म धान्यगृहमेतत्कुर्यात्तु पूर्वतः ॥**[2]

**निष्कर्षः-** एक गेह बढ़कर ग्राम बहुग्राम पुर नगर एवं पत्तनादि में व्यवहार के क्रम में परिवर्तित होता है। वही व्यवहार अर्थात् लेन-देन वा आदान-प्रदान सामान्यरुप से हाट्ट का रुप लेता है। कोषकार नें भी कहा है- "बहुग्रामीय-व्यवहार-स्थानम्" इनका भी तात्पर्य आदान-प्रदान से ही है। सामान्य हाट्ट पुर में और नगर, पत्तनादि के रुप में विकसित होता हैं। यहाँ वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से नगर के मध्य भाग में बाजार का होना उचित है क्योंकि मध्य भाग में रहने से सभी की सौविध्यता होगी। मयमतानुसार एवं अपराजितपृच्छा के अनुसार जो व्यवसाय का स्थान निर्धारण किया गया है, उस में समरुपता है। परन्तु आधुनिक युग में बाजार व्यवस्थापन का स्थान निर्धारण वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से दुष्कर है। अतः बाजार व्यवस्थापन में आधुनिकता एवं वर्तमान समस्यायों को वास्तुशास्त्रीय विधि के साथ समन्वय करने की आवश्यकता है। अस्तु।

❖ ❖ ❖

1. राजवल्लभमण्डन ४/१९
2. अपराजितपृच्छा सूत्र ७२/३२-३३

# मयमत के परिप्रेक्ष्य में भूमि-चयन एवं परीक्षण

**डॉ. रीता गुप्ता**

भूमि चयन एवं भूमि परीक्षण गृह निर्माण कार्य में महत्त्वपूर्ण विषय हैं अतः उनका उचित सम्पादन आवश्यक है । भूमि, भवन अथवा प्रासाद, यान और शयन अथवा शय्या- ये चार आश्रय-स्थान हैं।[1] इन चारों ही प्रकारों में भूमि का आद्य स्थान है, क्योंकि भूमि ही समस्त भूतों का आधार है, उसी पर समस्त जगत् की अवस्थिति सम्भव है।[2] इन समस्त प्रासादादि आश्रय-स्थानों की आश्रय-स्थली भूमि ही है अतः पुरातन काल से ही वास्तु के चतुर्विध प्रकारों में 'भूमि' को सभी ने प्रधान अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है।[3]

**भूमि के प्रकार-** भूमि का वर्ण के आधार पर विभाजन किया गया है, क्योंकि यह अप्रधान और प्रधान दो रूप वाली होती है।[4]

अतः वर्णानुसार भूमि के चार प्रकार हैं– १. ब्राह्मणोचित भूमि, २. क्षत्रियोचित भूमि, ३. वैश्योचित भूमि तथा ४. शूद्रोचित भूमि । यह विभाजन जाति आधारित न होकर कर्म आधारित है।[5]

१. **ब्राह्मणोचित भूमि-** मयमत में सर्वप्रथम ब्राह्मणों के लिए ग्राह्य भूमि के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि ब्राह्मणों के लिए चतुरस्र अथवा चौकोर भूमि श्रेष्ठ है। वह भूमि श्वेत हो, उस पर उदुम्बर अथवा गूलर के वृक्ष लगे हों तथा उत्तर दिशा में अवनत हो, तो श्रेष्ठ व स्वीकार्य होती है । उक्त भूमि कषाय और मधुर हो तो सम्यक् व सुख-प्रदायक होती है ।[6]

---

1. भूमि-प्रासाद-यानानि-शयनं च चतुर्विधम् । भूरेव मुख्यवस्तु स्यात् तत्र जातानि यानि हि ॥ (मयमत, २/२, पृ.५)
2. (अ) भूमि को पञ्चमहाभूतों में प्रथम स्थान पर परिगणित किया गया है । ऋग्वेद में कहा गया है-
   ऋतं दिवे तदवोचं पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः । पातामवद्याद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः॥
   इदं द्यावा पृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे माम् । भूतं देवानामवमे अवोभिर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥
   (ऋक् संहिता, १/१८५/१०-११) (ब) अथर्ववेद में कहा गया है-यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
   यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिवर्धयद् वर्धमाना ॥ (अथर्ववेद, १२/१/१३)
   (स) शतपथ ब्राह्मण में भूमि को प्रथमजा कहा गया है-इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा ।
   तदनयैवैनमेतत् समर्द्धयति । कृत्स्नं करोति । (शतपथ ब्राह्मण, १४/१/२/१०)
   (द) यजुर्वेद में भी भूमि को जगत् के प्रत्येक वस्तु की आधारभूता कहा गया है-भूरसि भूमिरस्य दितिरसि
   विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री । पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृं ह पृथिवीं मा हि सीः ॥ (यजुर्वेद, १३/१८)
3. प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात् । वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः ॥ (मयमत, २/३, पृ.५)
4. या सा भूमिरिति ख्याता वर्णानां च विशेषतः । द्विविधं तत् समुद्दिष्टं गौणमङ्गीत्यनुक्रमात् ॥ (वही, २/५, पृ.६)
5. समराङ्गणसूत्रधार - ७/९-१७
6. चतुरश्रं द्विजातीनां वस्तु श्वेतमनिन्दितम् । उदुम्बरद्रुमोपेतमुत्तरप्रवणं वरम् ॥
   कषायमधुरं सम्यक् कथितं तत् सुखप्रदम् । (वही, २/१०-११, पृ.७)

२. **क्षत्रियोचित भूमि**– क्षत्रियों के लिए ऐसी भूमि ग्राह्य है जिसमें लम्बाई से आठवाँ भाग चौड़ाई हो और रक्त वर्ण एवं तिक्त रस वाली हो, पूर्व दिशा में अवनत और विस्तृत तथा पीपल के वृक्षों से युक्त हो, उस भूमि पर क्षत्रियों को वास्तु-विन्यास करना चाहिए।[1]

३. **वैश्योचित भूमि**– वैश्यों के लिए ऐसी भूमि जिसमें लम्बाई से चौड़ाई का छठवाँ भाग अधिक हो, वर्ण पीला, स्वाद अम्लीय, प्लक्ष-पाकड़ (पारस पीपल) के वृक्षों से युक्त हो और पूर्व दिशा से अवनत हो तो शुभफलदायक होती है ।[2]

४. **शूद्रोचित भूमि**– चौथे या शूद्र वर्ण के लिए भूमि की लम्बाई का चौड़ाई से चार भाग अधिक हो, पूर्व में अवनत, वर्ण श्याम, कटु रस वाली तथा न्यग्रोध (बरगद) के वृक्षों से युक्त हो, तो उस भूमि पर धन-धान्य की निरन्तर वृद्धि होती रहती है ।[3]

अपराजितपृच्छा[4] तथा शिल्पशास्त्र[5] में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार वर्णानुसार 'भूमि' के उक्त चार प्रकार हैं और व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार ही शुभ भूमि का चयन करना चाहिए । यहाँ यह स्मरणीय है कि देवता, विप्रों तथा क्षत्रियों के लिए उक्त सभी प्रकार की भूमि शुभ होती है, किन्तु अन्य दो वर्णों के लिए उपर्युक्त कथनानुसार ही भूमि का चयन करना उचित है ।[6]

**शुभ एवं अशुभ भूमि के लक्षण**– गृह निर्माण कार्य केएि शुभ एवं अशुभ भूमि का ज्ञान होना आवश्यक है जिससे गृह निर्माण कार्य में कोई त्रुटि न रहे ।

**शुभ भूमि के लक्षण**– देवालय, प्रासाद और ब्राह्मणादि वर्णों के लिए ऐसी भूमि ग्राह्य है जो आकार में चौकोर और आयताकार हो । भूमि निन्दित आकृति वाली (कटी-फटी, सदोष) नहीं होनी चाहिए तथा पश्चिम व दक्षिण दिशा से उन्नत होनी चाहिए ।[7]

जिस भूमि को ठोकने पर अश्व, हाथी, मुरली, वीणा, पानी और ढोल जैसी ध्वनि निष्पन्न होती है तथा

---

1. व्यासाष्टांशाधिकायामं रक्तं तिक्तरसान्वितम् ॥
   प्राङ्निम्नं तत् प्रविस्तीर्णमश्वत्थद्रमसंयुतम् । प्रशस्तं भूभृतां वस्तु सर्वसम्पत्करं सदा ॥ (वही, २/११-१२, पृ.७-८)
2. षडंशेनाधिकायामं पीतमम्लरसान्वितम् । प्लक्षद्रुमयुतं पूर्वावनतं शुभदं विशाम् ॥ (वही, २/१३, पृ.८)
3. चतुरंशाधिकायामं वस्तु प्राक्प्रवणान्वितम् । कृष्णं तत् कटुकरसं न्यग्रोधद्रुमसंयुतम् ।
   प्रशस्तं शूद्रजातीनां धन-धान्यसमृद्धिदम् । (वही, २/१४-१५, पृ.८)
4. श्वेता च ब्राह्मणी भूमि रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता । पीतवर्णा भवेद्वैश्या शूद्री तु कृष्णवर्णिनी ॥
   घृतगन्धा भवेद्विप्री राज्ञी रक्तानुगन्धिनी । क्षारगन्धा भवेद्वैश्या शूद्री विष्ठानुगन्धिनी ॥
   ब्राह्मणी मधुरास्वादां कषाया क्षत्रिया तथा । क्षारास्वादा भवेद्वैश्या शूद्री स्यात्कटुका तथा ॥
   एवं परीक्षयेद् भूमिं वर्णैर्गन्धैश्च स्वादतः । (अपराजितपृच्छा, ५१/१-३)
5. ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा भूमिश्चतुर्विधा । शुक्ला रक्ता तथा पीता कृष्णा वर्णैरिति क्रमात् । (शिल्पशास्त्र,१/५)
6. एवं प्रोक्तो वस्तुभेदोद्विजानां भूपानां वै वैश्यकानां परेषाम् ।
   योग्यं सर्वं भूसुराणां सुराणां भूपानां तच्छेषयोरुक्तनीत्या ॥ (मयमत, २/१५, पृ.८-९)
7. देवानां तु द्विजातीनां चतुरश्रायताः श्रुताः । वस्त्वाकृतिरनिन्द्या सावाक्प्रत्यग्दिक्समुन्नता ॥ (वही, ३/१, पृ.१०)

जिससे पुन्नाग, चमेली के पुष्प, कमल, धान, पाटल और पशुधन की महक आती है, जो सम या इकसार है, वह श्रेष्ठ है । उर्वरा भूमि, एक वर्ण वाली, घनी, स्निग्ध और मुलायम भूमि सर्वप्रकारेण आवास योग्य होती है। ऐसी भूमि-जिस पर बिल्व, नीम, निर्गुण्ड़ी, पिण्ड़ित, सप्तपर्णक या छतिवन और सहकार या आम्र के वृक्ष हों; श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, कपोत वर्ण वाली हो; तिक्त, कटु, कषाय, लवणीय तथा अम्लीय स्वाद से युक्त हो एवं मधुर सहित उक्त छहों रस वाली धरा सर्व-सम्पत्तिकारक होती है।[1]

इसके अतिरिक्त भूमि यदि प्रदक्षिण क्रम (पूर्व से दक्षिण) से प्रवाहित जलस्रोत से घिरी हो तथा उक्त भूमि की मिट्टी हाथ में उठाने या देखने पर मनोरम लगे तो ऐसी भूमि निर्माण कार्य के लिए ग्राह्य होती है।[2]

**अशुभ या त्याज्य भूमि के लक्षण-** मयमत में त्याज्य भूमि के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस भूमि पर कपाल, रोड़ी-कचरा, कृमि, वल्मीक, शल्य या अस्थि विद्यमान हो, तो वह भूमि वर्जित है । पोली अथवा छिद्रित, महीन-श्वेत रेत वाली भूमि अनुचित है । भूमि कोयला, पेड़ों के ठूँठ, नुकीली वस्तु, काँटे आदि से रहित होनी चाहिए । तथा कीचड़, कङ्कड़, कूप, भूषा, लोष्ट या जली हुई धरा, रेती, भस्म आदि से युक्त भूमि आवास के संबंध में त्याज्य है। दही, मक्खन, मधु, तैलीय, रक्त, लहसुन, शव, मछली और मृत पक्षियों की गन्ध से युक्त भूमि निन्दित होती है। सभागृह, चैत्यालय, नृपनिवास एवं देवालयों के समीप वाली भूमि, काँटेदार वृक्षों से युक्त, वृत्ताकार, त्रिकोणीय, विषमकोणीय, वज्राकार, कच्छपाकार में उन्नत भूमि, जिस पर चाण्ड़ालों (दाह-संस्कार इत्यादि कर्म करने वालों का) का निवास हो अथवा चर्मकारों (चमड़े का व्यापार करने वालों के) के घरों के आश्रय वाली, तथा एक, दो, तीन या चारों ओर से जो भूमि मार्गों पर पड़ने वाली हो, जो बीच में से अवनत हो, पणवाकार, पक्षी, बंदर, सर्प, सूप, ऊखल, सूकर, शंङ्कु, बिलाव, गिरगिट, छिपकली, टङ्क अथवा टाङ्की के आकार वाली, मुरज या ढोलक जैसी, मत्स्य, शङ्ख जैसी आभा से युक्त, जिसके चारों ओर विशालकाय वृक्ष हों अथवा साल के वृक्ष हों, देवप्रासादों के चैत्यवृक्षों से युक्त भूमि, जिसमें सर्प की बाम्बियाँ हों, जहाँ दुष्टजन या वर्णसङ्कर निवास करते हों, श्मशान भूमि, आश्रम वाली भूमि, वन प्रदेश, ऊषर, कृमिदार भूमि आवास योग्य नहीं है ।[3]

इस प्रकार अशुभ लक्षणों से युक्त भूमि आवास के संबंध में त्याज्य है क्योंकि उक्त प्रकार की दूषित भूमि पर यदि मोह के कारण आवास बन भी जाये तो वह दुर्भाग्य का सूचक होता है । अतः शुभ लक्षणों से युक्त भूमि पर ही निर्माण-कार्य किया जाना चाहिए।[4]

**भूमि-परीक्षण की विधियाँ-** किसी भी स्थान की भूमि वहाँ उपलब्ध मिट्टी के वर्ण, गन्ध, रस, आकार,

---

1. हयेभवेणुवीणाब्धिदुन्दुभिध्वनिसंयुता । पुन्नागजातिपुष्पाब्जधान्यपाटलगन्धकैः ॥
   पशुगन्धसमा श्रेष्ठा सर्वबीजप्ररोहिणी । एकवर्णा घना स्निग्धा सुखसंस्पर्शनान्विता ॥
   बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः । सहकारश्च षड्वृक्षेरारूढा या समस्थला.....(वही, ३/२-६, पृ.११)
2. प्रदक्षिणोदकवती वर्णगन्धरसैः शुभा ॥ पुष्पाञ्जामात्रे तु दृष्टतोया मनोरमा । (वही, ३/६-७, पृ.११-१२)
3. निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीकवर्जिता..... अङ्गारैर्वृक्षमूलैश्च शूलैश्चापि पृथग्विधै ॥
   पङ्कसङ्ककूपैश्च दारुभिर्लोष्टकैरपि । शर्कराभिरयुक्ता या भस्माद्यैस्तु तुषैरपि ॥
   ...दध्याज्यमधुगन्धा च तैलासृग्गन्धिका च या..... (वही, ३/७-१७, पृ.१२-१३)
4. यत् कर्म विहीतं मोहादेवं भूते तु वस्तुनि । तन्महादोषहेतुः स्यात् सर्वथा तद् विवर्जयेत् ॥ (वही, ३/१९, पृ.१४)

दिशा, शब्द, स्पर्श आदि की दृष्टि से विचारणीय होती है।[1] मानसार[2] में भी इसी प्रकार का निर्देश है । मयमत में भूमि-परीक्षण की विविध विधियाँ वर्णित हैं-

१. **वपन विधि से भू-परीक्षण-** वपन विधि से भू-परीक्षण के अन्तर्गत स्थपति भूमि चयन के पश्चात् विहित भूमि की जुताई करे तथा गाय के खाद से युक्त करते हुए वहाँ सर्व प्रकार के बीज बोएँ और उनके अङ्कुरण से लेकर फल के पकने तक ध्यान रखे । इस अवधि में वहीं पर सवत्स गो के साथ निवास करे जिससे उक्त भूमि गोमय से पवित्र होगी और बछड़े वाली धेनु के भ्रमण करने से पूजा योग्य होगी । इस भूमि पर गो-परिवार का नाद होने से, चलने-फिरने और श्वास-प्रश्वास से भूमि का कलुष दूर होगा । जब गो अपने वत्स को दुलार करेंगी, तो बछड़े के मुख से निकला फेन गिरकर भूमि का संशुद्धीकरण करेगा । इस प्रकार भूमि गोमूत्र से सिञ्चित होगी, गोबर आदि से विलेपित होगी, गायों के भूसे को चबाने, जुगाली क्रिया से गिरी लार से भूमि की पवित्रता और उसकी उर्वरता बढ़ेगी । इस भूमि पर गो-गन्ध के परिव्याप्त रहने के साथ ही इसका पवित्र जल से अभिसिञ्चन भी करना चाहिए, जिससे भूमि की शुभता बढेगी।[3]

२. **खातविधि से भू-परीक्षण-** खातविधि से भू-परीक्षण हेतु वास्तुस्थल के मध्य में भूमितल की खुदाई करें तथा खात के लिए भूमि के मध्य में चक्रानुसार चौकोर भाग करें । यह भूमि की भुजा व दिशा के समानान्तर होना चाहिए। खात के लिए गड्ढे का आकार एक अरत्नि (गृहस्वामी, स्थपति का एक हस्त प्रमाण) रखना चाहिए तथा गड्ढा न सँकडा होना चाहिए और न अधिक गहरा । खातकर्म में दिशादि का उचित ज्ञान होना आवश्यक है ।[4]

इसके पश्चात् रात्रि होने पर चंदन, अक्षत सहित विभिन्न रत्नादि के जल से गड्ढे को आपूरित करें तथा गृहपति गड्ढे के निकट पूर्वाभिमुख स्थित होकर पूर्ण पवित्रता एवं व्रतोपवास रखते हुए मन्त्रोच्चार करे।[5] क्योंकि भारतीय परम्परा में प्रत्येक कार्य विधिपूर्वक करने का निर्देश है । जो कार्य विधिपूर्वक न हो, जिसमें अन्नादि का दान न हो, मन्त्रोच्चार विहीन अर्पण और श्रद्धारहित यज्ञ हो, वह तामसिक ही होता है, इसी तथ्य का उल्लेख गीता में भी किया गया है ।[6]

तत्पश्चात् रात्रि व्यतीत होने पर, सूर्योदय के समय स्थपति को गड्ढे का परीक्षण करना चाहिए । यदि भूमि पर किञ्चित् जल शेष रहा हो तो यह मानना चाहिए कि यह भूमि सर्व सम्पत्तिदायक, प्रशस्त तथा ग्रहण करने योग्य

---

1. वर्णगन्धरसाकारदिक्शब्दस्पर्शनैरपि । परीक्ष्यैवं यथायोग्यं गृहीतावधिनिश्चिता ॥ (वही, २/४, पृ.५)
2. आकारवर्णगन्धान् च रूपशब्दरसस्पृशः । एतान् परीक्ष्य क्रमशः सा भूमिर्माननिश्चया ॥ (मानसार, ३/८)
3. कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत् । दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
   सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत् । यतो गोभिः परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥
   संहृष्टवृषनादैश्च निर्धौतकलुषीकृतम् । वत्सवक्त्रच्युतैः फेनैः संस्कृतं प्रस्नवैरपि ॥
   स्नातं गोमूत्रसेकैश्च.....(मयमत, ४/४-८, पृ.१६-१७)
4. वस्तुमध्ये ततस्तस्मिन् खानयेद् वसुधातलम् ॥
   अरत्निमात्रगम्भीरं चतुरश्रसमन्वितम् । दिग्भागस्थमसम्भ्रान्तमसङ्क्षिप्तसमुच्छ्रयम् ॥ (वही, ४/१०-११, पृ.१८)
5. अर्चयित्वा यथान्यायं तं कूपमभिवन्द्य च ॥ चन्दनाक्षतमिश्रेण सर्वरत्नोदकेन च ॥
   पयसा तु ततः प्राज्ञो निशादौ परिपूरयेत् । तस्य कूपस्य चाभ्याशे शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
   भूमौ दर्भावकीर्णायां संविशेत् प्राक्शिरा बुधः । (वही, ४/१२-१४, पृ.१८-१९)
6. विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता, १७/१२)

है । यदि गड्ढा गीला या कीचड़ से युक्त हो तो भवन निर्माण कार्य नहीं करना चाहिए । इसके अतिरिक्त यदि पूर्ण रुप से जल सूख जाए तो वहाँ धन-धान्य का क्षय जानना चाहिए ।[1]

३. **अन्य परीक्षण विधि-** इस विधि के अनुसार उक्त गड्ढे से निकाली गई मिट्टी को पुनः उसी में भर दें, यदि सम्पूर्ण मिट्टी उसमें आ जाये तो भूमि 'मध्यम' फलदायक होती है, यदि मिट्टी गड्ढे को भरने के पश्चात् शेष रहती है तो भूमि 'उत्तम' होती है और यदि मिट्टी कम पड़ जाए अर्थात् गड्ढा पूरा न भर पाए तो वह भूमि 'हीन' अथवा 'अधम' होती है ।[2]

इस प्रकार ये इन्द्रिय-परीक्षण विधियाँ हैं । पाँचों ही इन्द्रियाँ देखकर, सूँघकर, छूकर, चखकर, सुनकर कोई निर्णय देती है । वैज्ञानिक विचार से ये विधियाँ घनत्वाधारित, आर्द्रताधारित, सजीवताधारित, विकिरणाधारित और वायुसञ्चरणाधारित पद्धतियों को भी दर्शाती है ।

बृहत्संहिता[3], मत्स्यपुराण[4], मनुष्यालयचन्द्रिका[5] आदि ग्रन्थों में भी ये ही विधियाँ वर्णित हैं ।

इस प्रकार उक्त विधियों से भूमि का परीक्षणादि करने के पश्चात् ही वास्तु के विविध कार्यों का संपादन करना चाहिए। ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन, खर्वट, खेट इत्यादि के निर्माण कार्य के पूर्व भी इसी प्रकार से भूमि-परीक्षण और विधान के साथ भूमि का चयन करना चाहिए ।[6]

अतः प्रस्तुत शोधपत्र में वास्तुशास्त्रानुसार भूमि चयन एवं भूमि परीक्षण के विविध अङ्गों यथा-भूमि के प्रकार, शुभ एवं अशुभ भूमि के लक्षणों तथा भूमि चयन की विविध विधियों को प्रस्तुत किया गया है; जिससे मानव प्रकृति के अनुकूल भवन निर्माण कार्य सम्पन्न कर सके ।

❖ ❖ ❖

---

1. अह्न आदौ परीक्षेत तं कूपं स्थपतिर्बुधः । सावशेषं जलं दृष्ट्वा तद् ग्राह्यं सर्वसम्पदे ॥
   क्लिन्ने वस्तुविनाशाय शुष्के धान्यधनक्षयः । (मयमत, ४/१६-१७, पृ.१९)
2. पूरिते तन्मृदा खाते समता मध्यमा मता ॥ उत्तमा भूर्मृदाधिक्या हीना हीना मृदा मही । (वही, ४/१७-१८, पृ.२०)
3. गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम् । यद्यूनमनिष्टं तत्समे समं धन्यमधिकं यत ॥
   श्वभ्रमथावाऽम्बुपूर्ण पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम् । तद्धन्यं यच्च भवेत्पलान्यपामाढकं चतुःषष्टि ॥
   आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रमस्थे दीपवर्तिरभ्यधिकम् । ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य ॥
   श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रल्मायतेऽनुवर्णसमम् । तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते ॥ (बृहत्संहिता, ५३/९२-९५)
4. अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वानुप्ति च सर्व्वशः । घृतं वरशरावस्थङ्कृत्वा वतिचतुष्टयम् ॥
   ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थम्पूर्वन्तत् सर्व्वदिक्षुखम् । दीपान्पूर्वादि सङ्गृह्य वर्णानामनुपूर्वशः ॥
   वास्तुसामृहिको नाम दीप्यते सर्वस्तु यः । शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च ॥ (मत्स्यपुराण, २५३/१३-१६)
5. क्ष्मां खात्वामघटं निधाय भृतधान्यं वर्धमानं मुखे कृत्वासिच्य घृतं निशासु सितरक्तापीतकृष्णा दशाः ।
   विप्रादिक्रमतः प्रदीप्य विधिवन्नीते मुहूर्ते ज्वलेद् वर्त्तिर्यस्य धरास्य तासु सकलास्विद्धासु सर्वोचिता ॥
   भूगर्ते जलपूरितेऽत्र विधिवद्.....(मनुष्यालयचन्द्रिका, १/३२-३३)
6. एवं यथोक्तविधिना विविधं विदित्वा ग्रामाग्रहारपुरपत्तनखर्वटानि ।
   स्थानीयखेटनिगमानि तथेतराणिः यः संविविक्षुरवनीग्रहणं विदध्यात् ॥ (मयमत, ४/१९-२०, पृ.२०)

# वैदिक साहित्य में वास्तु विमर्श

**– डॉ. कान्ता धनखड़**

**– डॉ. उमाशंकर**

आत्मरक्षा एवं सुख प्राप्ति का भाव सभी प्राणियों में नैसर्गिक रूप से ही प्राप्त है और उक्त दोनों भावों की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन निवास स्थान है। अतः इस भूमण्डल पर सम्यक् रूप से अनुकूलन के साथ निवास बनाने की विद्या को वास्तुविद्या कहते हैं। वेद की यज्ञवेदियों से उद्भूत वास्तु विद्या वैदिक काल से लेकर अद्यपर्यन्त भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। प्राचीन मनीषियों ने इस विद्या को अत्यन्त पूज्य, उपास्य एवं अनुकरणीय स्वीकार करते हुए इसे शास्त्रीय रूप दिया तथा शिल्पियों एवं स्थपतियों ने इसे साकार रूप प्रदान किया।

'वास्तु' शब्द निवासार्थक वस् धातु से तुण् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है।[1] जिसका अर्थ है- भवन, भूखण्ड अथवा गृह बनाने का स्थान।[2] अन्य शब्दों में, महर्षि याष्क द्वारा प्रतिपादित **'वस्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः'** इस निर्वचन के अनुसार 'वास्तु' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है– जिसमें प्राणी रहते हैं या जो स्थान निवासयोग्य हो, वह वास्तु कहलाता है। ऋग्वेद में न केवल आवासीय व्यवस्था के लिए 'वास्तु' शब्द का प्रयोग किया गया है[3], अपितु ग्राम, पुर, गृहम्, गयः, दुरोणम्, दुर्यः, दमः, वसतिः, ओकः, योनिः, धामन्, निवेशनम्, वेश्मन्, वर्तिः, शरणम्, शर्मन्, सदनम्, गुहा, क्षयः, स्वसराणि, छाया एवं अन्य गृहवाची पद भी प्रयुक्त हुए हैं। गृह के स्वरूप, प्रकार, निर्माण पद्धति एवं उद्देश्य पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रकाश डालने वाले ये शब्द इस प्रमाण के सूचक हैं कि वैदिक ऋषियों ने आवास संरचना पर कितना सूक्ष्म चिन्तन किया होगा। महर्षि यास्क रचित निघण्टु में गृह के बाईस पर्याय बताए गए हैं।[4]

'समराङ्गणसूत्रधार' नामक वास्तु ग्रन्थ में कहा गया है कि ''यह पृथ्वी मुख्य वास्तु है, उस पर जो उत्पन्न होते हैं, उनके निवास हेतु जो प्रासादादि निर्मित किए जाते हैं, वे भी (गौण) वास्तु कहे जाते हैं''।[5] अतः इस वास्तुविद्या को ही वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा स्थापत्यवेद भी कहते हैं।

भारतीय वास्तुशास्त्र की एक सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक परम्परा रही है। वर्तमान समाज में इस शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा होती है, परन्तु सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में लोग तद्विषयक कुछ भ्रामक धारणाएँ बना लेते हैं।

---

1. भट्टाचार्य, तारानाथ-शब्दस्तोम महानिधिः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1967, पृष्ठ 392
2. (क) सिंह, अमर-अमरकोश, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1995, काण्ड-2, वल्ली-3, पृष्ठ 63
   (ख) आप्टे, वामन शिवराम-संस्कृत हिन्दी कोष, दिल्ली, 1966, पृष्ठ 923
   (ग) Acharya, P.K.- Dictionary of Indian Architecture, MRML Publication, Delhi, 1993, pp. 548
3. वास्तोष्पत्ते प्रति जानीह्यस्मान्। ऋ.सं., 7/54/01
4. यास्क, निघण्टु, 3/6-7, पृष्ठ 53
5. भूरेव मुख्यं वास्तु तत्र जातानि यानिहि। प्रासादादीनि वस्तूनि वस्तुत्वात् वास्तुसंश्रयात्॥ - समराङ्गणसूत्रधार

अतः प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के निराकरण हेतु वास्तुशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान एवं परम्परा पर किञ्चित् दृष्टिपात यहाँ अपेक्षित है-

**वेदों में वास्तुशास्त्र–**

वैदिक साहित्य में अर्चा वास्तु अर्थात् यज्ञशाला, वेदी आदि से सम्बद्ध तथा लौकिक वास्तु अर्थात् गृह, पुर, प्रासाद आदि से सम्बद्ध अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा– **ऋग्वेद** में गृह को 'वेश्म' की संज्ञा दी गई है, साथ ही यह भी वर्णित है कि गृह की प्राप्ति मनुष्य के पुण्यकर्मों के फलस्वरूप होती है।[1] वास्तु के अधिपति देवता 'वास्तोष्पति' का उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, जहाँ गृहरक्षक देवता को ही वास्तोष्पति माना है।[2] वैदिक ऋषि ने वास्तोष्पति से स्वास्थ्यप्रद एवं उन्नतिशील गृह हेतु कामना की है।[3] इसी सन्दर्भ में ऋषि वसिष्ठ की एक सुन्दर, विशाल एवं स्थायी आवास की इच्छा को अभिव्यक्त करने वाले उल्लेख भी ऋग्वेद में वर्णित है, जिनमें कहा गया है कि "मैं मिट्टी के घर में नहीं, अपितु बड़े परिमाण और सहस्र द्वारों वाले घर में रहना चाहता हूँ।"[4] यहाँ 'मृन्मयं गृहम्' और 'सहस्रद्वारं गृहम्' तथा अन्यत्र भी 'सहस्रस्थूणम्' एवं 'त्रिधातु' विशेषणों से तत्कालीन भवनों की भव्यता तथा विशालता ग्राह्य है[5], इसके साथ ही ये वैदिककालीन वास्तुविद्या के आधार स्तम्भ भी है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में 'क्षेत्रपति' नामक देवता से गृह को अन्न भण्डार से युक्त बनाने की प्रार्थना की गई है।[6]

**ऋग्वेद** में रूप निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। ऋषि त्वष्टा को रूप-निर्माता कहा गया है। ऋग्वेद में अश्वमयी व आयसी दुर्गों के निर्माण में पत्थर तथा धातु के प्रयोग की जानकारी भी वर्णित है। ऋग्वेद एवं निघण्टु में आच्छादन से युक्त घर के लिए क्रमशः छर्दिस्[7] और छदिस्[8] शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा भवन के आधारस्वरूप स्तम्भों के लिए वेदों में स्थूणा और उपमित् शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[9] इसके अतिरिक्त ऋग्वेदीय-7/55 संख्या वाले सूक्त की समीक्षा करने पर उसमें अनिद्रा रोग से पीड़ित किसी व्यक्ति के भव्य प्रासाद का चित्र उपस्थित होता है। सूक्त के षष्ठ मन्त्र में उस भवन को 'हर्म्य' कहा गया है।[10] इसी सूक्त के एक मन्त्र से यह स्पष्टतः प्रतिपादित होता है कि वह

---

1. भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्। ऋग्वेद, 10/107/10
2. वास्तोष्पति गृहस्य पालयितृ देव। ऋ- 7/54/41
3. (i) वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवे भवा नः।
   यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ऋग्वेद, 7/54/1
   (ii) ऋ.–7/54/2-3
   (iii) अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः ॥- ऋ- 7/55/1
4. ऋ.-7/16/8, 7/66/5, 7/88/5, 7/89/1
5. ऋ.- 2/41/5, 5/62/6, 7/88/5, 7/101/2
6. (i) क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्वा स नो मृकातीदृशे ॥ ऋ-, 4/57/1
   (ii) ऋ.- 4/57/2,3
7. ऋ.- 6/15/3, 6/46/9, 6/67/2
8. यास्क, निघण्टु - 3/4
9. ऋ.- 2/41/5, 4/5/1, 1/59/1, 5/62/6, अथर्व- 3/12/6, 9/3/1
10. यथेदं हर्म्यं तथा। ऋ. – 7/55/6

व्यक्ति प्रारम्भ में घर में प्रवेश करने से पूर्व वास्तुदेवता 'वास्तोष्पति' को मन्त्र के माध्यम से प्रसन्न करता है। ऋग्वेद की ही एक ऋचा में वर्णित पुत्र-पौत्रों तथा सन्तान से सम्पन्न गृह की स्पृहा[1] स्पष्ट रूप से घर की सुख एवं समृद्धि को इंगित करती है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल में भी उक्त भाव को ही ऋषि ने व्यक्त किया है–

**इहैव स्तं मा वि योष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**
**क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।।** ऋ-, 10/85/42

भवन निर्माण के समय उचित एवं अनुचित दिशाओं के निर्धारण से भवन पर वायु, प्रकाश एवं मंगल-अमंगल विषयक प्रभावों की चर्चा **यजुर्वेद** के पञ्चदशोऽध्याय में विशेष रूप से उपलब्ध होती है।[2] **यजुर्वेद** में सूर्य के प्रकाश को प्राण शक्ति से युक्त, विस्तृत, ऊर्ध्व (पूर्व) दिशा रूप में सभी शक्तियों का पालक कहा गया है इसलिए भवन निर्माण के अन्तर्गत पूर्व दिशा अधिक खुली व साफ-सुथरी होने का विधान किया गया है[3] तथा दक्षिण दिशा को सकारात्मक ऊर्जा की प्रवाहिका बताया गया है।[4]

**अथर्ववेद** में वास्तुदेवता 'वास्तोष्पति' को 'गृहाः' के साथ सात मन्त्रों वाला सम्पूर्ण सूक्त ही समर्पित है।[5] **अथर्ववेद** के अनुसार गृह या शाला की परिकल्पना सर्वप्रथम देवों ने की, इसी कारण गृह को 'देव-निर्मित'[6] तथा 'प्रजापति द्वारा रचित'[7] बताया गया है। गृहस्थी द्वारा शाला को सम्बोधित करते हुए धनधान्य से सम्पन्न होकर भी किसी का अहित या हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है कि–

**ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।**
**विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥** अथर्व- 9/3/16

एक अन्य स्थान पर विवेकपूर्वक निर्मित किए जा रहे भवन के साथ उसकी सुदृढ़ नींव की आकांक्षा को 'ध्रुवा' विशेषण से अभिव्यक्त किया गया है क्योंकि तभी वह क्षेम का वहन करने वाली होती है।[8] इसी संदर्भ में ही **अथर्ववेद** में यह वर्णित है कि भवन के स्तम्भ इतने बलवान् हों, जैसे हथिनी के पाँव होते हैं क्योंकि इन्हीं पर घर का छप्पर टिका रहता है।[9] सभी गांठों एवं स्तम्भों के जोड़ मजबूत किए जाने चाहिए।[10] शाला या घर को 'बृहच्छन्दाः' अर्थात् बड़ी छतवाली कहा गया है।[11] उक्त विशेषण का तात्पर्यार्थ यह ग्राह्य है कि निवास स्थान संकुचित न होकर

1. ऋ- 7/1/11, 7/37/6
2. यजुर्वेद संहिता –15/15
3. यजुर्वेद भाषाभाष्ये – 15/14
4. वही- 15/16
5. अथर्व- 7/60
6. देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे। अथर्व-, 3/12/5
7. प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः। अथर्व, 9/3/11
8. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठामि। अथर्व– 3/12/1
9. मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती। अर्थव.–9/3/17
10. (i) ग्रन्थीश्चकार ते दृढान्। अथर्व– 9/3/3 (ii) उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत। अथर्व- 9/3/1
11. बृहच्छन्दाः पूतिधान्या। अथर्व- 3/12/3

बड़ी छतवाला अर्थात् विस्तृत होना चाहिए।

गृह-निर्माण के सम्बन्ध में ही अथर्ववेद में अग्निशाला या उपासना-स्थान, हविर्धान, पत्नीसदन, देवसदन आदि को घर का मुख्य अंग बताया गया है।[1] घर की सम्पन्नता के संकेतस्वरूप[2] अथर्ववेदीय सूक्त के एक मन्त्रांश **'गृहान् उप प्रसीदामि'** अर्थात् 'मैं अपने घर को प्रसन्नता का रमणीय स्थान बनाऊँगा' में वैदिक ऋषि ने यह द्योतित किया है कि वेद की दृष्टि में घर प्रसन्नता[3] एवं सौभाग्य[4] का स्थान है।

**अथर्ववेद** में वास्तुविद्या का पूर्ण एवं समुचित विस्तार हुआ है, इसमें स्तम्भ रचना विधि, स्तम्भों पर आश्रित तथा परस्पर प्रतिस्थापित शहतीरों से उनको जोड़ने तथा उन पर छत बनाने व उन पर घास फूस डालकर उनको ढकने का वर्णन है, उसमें भी भवन की संगोष्ठी शाला, यज्ञशाला, अन्नगृह, पशुशाला, अन्तःपुर, अतिथिगृह जैसे घर के महत्त्वपूर्ण भागों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अतः यह स्पष्टतः विदित है कि अथर्ववेद[5] में वास्तुशास्त्रीय निर्माण विधि का सैद्धान्तिक उल्लेख प्राप्त होता है।

उपर्युक्त वर्णित वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त **यजुर्वेद** में अनेकत्र, **शतपथ ब्राह्मण** (1/7/3/7), **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (1/7/8/15 एवं 3/7/9/7) तथा **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र** (13/20) में वास्तुशास्त्र का बहुलतया उल्लेख मिलता है।

**निष्कर्ष–**

इस प्रकार वैदिक साहित्य का वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि तत्कालीन वास्तुविज्ञान अपने प्रारम्भिक चरण में था, तथापि निःसन्देह इसमें ही कालान्तर में विकसित हुए वास्तुविद्या के बीज सन्निहित हैं। वैदिक साहित्य में वर्णित गृह की परिकल्पना केवल सांसारिक दृष्टि तक सीमित न होकर घर के सदस्यों के आन्तरिक सुख, सौहार्द, प्रसन्नता तथा समृद्धि पर भी केन्द्रित रही है। गृह या शालानिर्माण की विधियों से लेकर आसपास के वातावरण तक घर के निवासियों की सुरक्षा, सुविधा एवं उनके स्वास्थ्य पर अत्यधिक बल दिया गया है।चूंकि भारतीय प्राचीन वास्तुविद्या में कला एवं विज्ञान दोनों महत्वपूर्ण विधाओं का सम्मिश्रण है और दोनों ही विधाएँ वेदों से उद्भूत होने के कारण अध्यात्म एवं दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधारित है। अतः ये ही वो मूलभूत तत्त्व है जो वास्तुशास्त्र हेतु वर्तमान में भी उतने ही प्रासंगिक हैं। उक्त समस्त विवेचन से यह भी सिद्ध होता है कि वास्तुशास्त्र का उद्भव वैदिक काल में भलीभाँति हो चुका था, साथ ही इस शास्त्र की शाश्वत परम्परा अपने वैज्ञानिक एवं विकसित रूप में वर्तमान तक अनवरत चली आ रही है।

❖ ❖ ❖

1. हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।सदो देवानामसि देवि शाले ।। अथर्व- 9/3/7
2. अथर्व–3/12
3. अथर्व–3/12/9, 9/3/23
4. महते सौभगाय उच्छ्रयस्व । अथर्व– 3/12/2
5. अथर्ववेद – 3/12/02

# भास के नाटकों में वास्तु तत्त्व

**– डॉ. राजश्री दाश**

संस्कृत साहित्य शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग नाट्य है, और उस की महत्ता एवं रसमयता को उजागर कर देने वाला विषय संस्कृत नाट्य साहित्य ही है। महाकवि भास ने अपने विभिन्न नाट्यों की कथा भले ही ऐतिहासिक ली किन्तु सभी कथाओं में उन्होंने मौलिक कल्पना शक्ति एवं अद्भुत नाट्यकुशलता का परिचय पदे पदे दिया है। जैसे अभिषेक नाटक एवं प्रतिमानाटक का उद्गम रामायण से है, किन्तु भास ने रामायण से कथानक का ढाँचा मात्र ग्रहण करके उसमें अपनी कल्पना के द्वारा पात्रों का चरित्र विविध रूपों से सुसज्जित किया है। मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, कर्णभार, उरुभङ्ग, दूतघटोत्कच तथा पञ्चरात्र की कथा मूलतः महाभारत से ग्रहण की गई है। कवि ने नाटकीय रचना के अनुकूल तथा उसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन किए हैं। बालचरित कृष्णकथा पर आधारित एक कथानक नाटक है। इसमें लोकपरम्परा से प्राप्त कृष्णकथा को ग्रहण किया गया है। अविमारक, चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्त की कथा कविकल्पना प्रसूत है। नाटकों की शैली, पद्धति, संवाद, नाट्य कौशल आदि के आधार पर भास के तेरह नाट्यों का एक विशिष्ट रचनाक्रम स्वीकार किया गया है। पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, कृष्णकथा, आख्यायिका, लोककल्पना आदि प्रत्येक क्षेत्र से कवि ने कथासार को ग्रहण करके उसको नाट्योपयोगी बना दिया है।

वास्तुशास्त्र की परम्परा सृष्ट्यारम्भ काल से एतावत् पर्यन्त अनवरततया चली आ रही है। इस शास्त्र की आवश्यकता केवल मनुष्य के लिए नहीं है अपितु पृथिवी पर जन्म लेने वाले सभी प्राणियों के निमित्त होता है। जैसे भोजन, जल पूर्ति होने के उपरान्त श्रम निवारण के लिए, सुरक्षा अर्थात् बाह्य प्रकोपों से बचने के लिए सुख शान्ति पूर्वक जीवन यापन करने के लिए, सन्तान के पालन पोषण निमित्त आवास की आवश्यकता होती है। इसीलिए वे सब प्राणी निज सामर्थ्य के अनुसार आरम्भ में गृह निर्माण करते हैं। अतः पृथिवी पर सम्यकतया अनुकूलता के साथ निवास निर्माण करने वाले शास्त्र का नाम वास्तुशास्त्र है।

वास्तुशास्त्र भारतीय संस्कृति का आधाररूप एक विशिष्ट शास्त्र है। प्राचीन काल से इस शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है, विशिष्ट शिल्पियों एवं स्थपतियों के कला कौशल से परिपूर्ण सामान्य जनों के आवास से लेकर राजभवन, देवालय, पुर- निवेश, नगर-रचना, चित्रकला, जलाशय, शयन, आसन आदि क्षेत्र में शास्त्र की विशेषता परिलक्षित होती है। भासनाटक चक्र में वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत मन्त्रशाला, सभागृह, कन्यान्तपुर, चतुःशाल, नृपभवन, प्रासाद, हर्म्य, अलिन्द, परगृह, वासगृह, अश्वशाला, गजशाला, नृपगृह, शस्त्रशाला, अग्निगृह, आयुधगार, भवन, लाक्षागृह, गर्भगृह, प्रतिमागृह, नरेन्द्रभवन, सङ्गीतशाला, जतुगृह, पक्षद्वार (पार्श्वद्वारा), राजमार्ग आदि वास्तु सम्बन्धीय अनेक विषय वर्णन हुआ है । जीवन में गृह निर्माण एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । गृह निर्माण करने से गृहकर्ता को पुरुषार्थचतुष्टय से धर्म-अर्थ-काम अर्थात् पुरुषार्थ त्रय की सिद्धि स्वतः प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार

देवशिल्पी विश्वकर्मा जी ने कहा है।

**"स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्" ।**[1]

**दूतवाक्य नाटक**

वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में दूतवाक्य नाटक में महाकवि भास ने सूत्रधार द्वारा दुर्योधन की आज्ञा से उनके सेवक पाण्डवों का समूल विनाश करने के लिए एक मन्त्रशाला या सभागृह का निर्माण करने के लिए आज्ञा दे रहें हैं । जैसे-

**उत्पन्ने धार्तराष्ट्राणां विरोधे पाण्डवैः सह ।**
**मन्त्रशालां रचयति भृत्यो दुर्योधनाज्ञया ।।**[2]

इस प्रकार सभागृह निर्माण हो जाने पर अग्रिम पंक्ति में दुर्योधन सभी को अभिवादन करके सभागृह में जाने के लिए अनुरोध करता है । जैसे-

**तदागम्यतां मन्त्रशालामेव प्रविशामः । आचार्य अभिवादये प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम् । पितामह! अभिवादये । प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम् । मातुल ! अभिवादये प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम् । आर्यौ वैकर्णवर्षदेवौ ! प्रविशतां भवन्तौ ।**[3]

वासुदेव कहते हैं कि यह दुर्योधन का शिविर है । यहाँ, स्वतन्त्ररूप से महाराजाओं का निवास स्थान इन्द्रलोक की भाँति बना हुआ है। अस्त्रागार खूब बडा है और अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से पूर्ण है। अश्वशाला में उत्तमोत्तम घोडे हिनहिना रहे हैं और मत्त गजराज चिग्घाडते हैं । दुर्योधन का यह विस्तृत ऐश्वर्य अपने परिवार को कष्ट देने और अनादर करने के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। जैसे कहा गया है -

**आवासाः पार्थिवानां सुरपुरसदृशाः स्वच्छन्दविहिता**
**विस्तीर्णाः शस्त्रशाला बहुविधकरणैः शस्त्रैरुपचिता ।**
**हेषन्ते मन्दुरास्थास्तुरगवरघटा बृंहन्ति करिण**
**ऐश्वर्यं स्फीतमेतत् स्वजनपरिभवादासन्नविलयम् ॥**[4]

**दूतघटोत्कच नाटक**

इस प्रकार दूतघटोत्कच नाटक में भी लाक्षा गृह का प्रसङ्ग आया है जिस में घटोत्कच कहता है कि निशाचर भी लाक्षागृह में सोये हुए भाइयों को नहीं जलावेंगे ।

**घटोत्कचः – न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातृन् दहन्ति निशाचराः ।**[5]

---

1. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1/5
2. दूतवाक्यम् 1/2
3. दूतवाक्यम् प्रथमोऽङ्कः पृ 5
4. दूतवाक्यम् 1/15
5. दूतघटोत्कचम् 1/47

**अविमारक नाटक**

अविमारक नाटक के द्वितीयोऽङ्क में अविमारक कहता है कि मैं अकेला ही कुन्तिभोज के कन्यान्तःपुर में प्रवेश कर सकता हूं क्योंकि कुन्तिभोज की सेना साधारण है, अतः वैभवयुक्त राजगृह में प्रवेश करना सरल है, हम भी हाथों में शस्त्र धारण करने वाले हैं। जैसे – **अविमारक – तस्मादेकेनैव मया प्रवेष्टव्यं कुन्तिभोजस्य कन्यापुरम्। न ते वयं शङ्कनीयाः। पश्यतु भवान्, मितगुणामिह कुन्तिभोजसैन्यं नृपभवनं विभवैः सुखं प्रवेष्टुम्। वयमपि च भुजायुधप्रधानाः किमिह सखे ! भवतापि शङ्कनीयाः।**[1]

अविमारक नाटक का तृतीयोऽङ्क में मागधिका कुरङ्गी कहती है मैंने कन्यापुर के भृत्य से भेंट की थी। **मागधिका -दृष्टो मया कन्यापुरचेटः।**[2] कुरङ्गी का वचन है कन्यापुर का भृत्य मेरा शुकपञ्जर नहीं बना रहा है। **कुरङ्गी - कन्यापुरचेटो मम शुकपञ्जरं न करोतीति।**[3] फिर से वही नलिनिका कहती है राजपुरुषो! अमात्य चले गये हैं, कोई अमात्य का भृत्य कन्यान्तःपुर की रक्षा करने नहीं आया। **नलिनिका – चिरं जीव। राजपुरुषाः! अमात्यः प्रस्थित इति कश्चिदमात्यभृत्यः कन्यापुररक्षणार्थं नाभ्यागतः।**[4] यही मार्ग तो उसने बताया था, यही मन्दाकिनी है, यही दारु पर्वतक है, यही उपस्थान का सभा और यह ही कन्यान्तःपुर का प्रासाद है। जैसे- **अविमारकः – यास्यामि। एष तयोक्तो मार्गः । इयं मन्दाकिनी । असौ दारुपर्वतकः। इयमुपस्थानसभा। अये अयं कन्यान्तःपुरप्रासादः ।**[5] अविमारक नाटक के पञ्चमोऽङ्क में नलिनिका कुरङ्गी से कहती है कि राजकुमारी सन्ताप न करें, चलिये कन्यापुर के प्रासाद पर चलकर आँखों का अनुरञ्जन करें। **नलिनिका- भर्तुदारिके ! अलं सन्तापेन । कन्यापुरप्रासादमारुह्य दृष्टिविलोभनं करिष्यावः।**[6]

अविमारक नाटक का तृतीयोऽङ्क में कुरङ्गी मागधिका से कहती है जब हम प्रासाद पर चढें तब हमे प्रासाद का वर्णन मिलता है। **तेन हि प्रासादमारोहामः।**[7] मागधिका कुरङ्गी से कहती है राजपुरुष अमात्य है। **एषः प्रासादः।**[8] प्रासाद का वर्णन भी कवि ने किया किया है । अविमारक का वचन है कि अहो, अर्धरात्री का समय कितना भयङ्कर है। इस समय सारी जनता गर्भस्थ शिशु के तरह निद्रा से मुग्ध होते हैं, प्रासाद पर सभी लोक सुख से सो रहे हैं मानो प्रासाद ध्यानमग्न हो। अन्धकार में डूवे वृक्षों का ज्ञान स्पर्श हेतु अनुमान मात्र से होता है, इस जगत् का रूप छिप गया है मानो वह अन्तर्धान प्राप्त हो रहा हो । जैसे-

**गर्भस्था इव मोहमभ्युपगताः सर्वाः प्रजा निद्रया**
**प्रासादाः सुखसुप्तनीरवजना ध्यानं प्रविष्टा इव ।**

1. अविमारकम् द्वितीयोऽङ्कः पृ 55
2. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 59
3. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 59
4. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 67
5. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 82
6. अविमारकनाटकम् पृ 129
7. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 60
8. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 61

**प्रग्रस्ता इव सञ्चितेन तमसा स्पर्शानुमेया नगा**
**अन्तर्धानमिवोपयाति सकलं प्रच्छन्नरूपं जगत् ॥**[1]

इस प्रकार अविमारक कहते है कि आज ही काल रात्रि है, मार्गस्थित नदियों में अन्धकार प्रवाहित हो रहा है, मकान नदी-तट के समान प्रतीत हो रहे हैं, दश दिशायें अन्धकार में लीन हो रही हैं, और अन्धकार इतना गाढा है जैसे इसे नाव से पार करना पडेगा ।

**तिमिरमिव वहन्ति मार्गनद्यः पुलिननिभाः प्रतिभान्ति हर्म्यमालाः ।**
**तमसि दश दिशो निमग्नरूपाः प्लवतरणीय इवायमन्धकारः ।**[2]

मकान ऊँचा है, खिडकियाँ बन्द हैं, प्रतिध्वनि के साथ वीणा का शब्द सुनाई पड रहा है ।

**उच्चं हर्म्यं सन्निरुद्धाश्च जालास्तन्त्रीनादः श्रूयते सानुनादम् ॥**[3]

अरे यह चाँदनी है । नहीं यह चाँदनी नहीं है । यह तो दोनों पङ्क्त्यों में वर्तमान भवनों के खिडकियों से निकली दीपों की प्रभा है। **यथा- अये ज्योस्त्ना । नैषा ज्योत्स्ना, उभयपङ्क्तिगतानां प्रासादानां गवाक्षान्तरगता दीपप्रभैषा ।**[4] मागधिका कहती हैं चलो चतुःशाला में चलकर बैठें । **हला एहि चतुःशाले उपविशामः।**[5] दृढतापूर्वक परिकर बंधने से प्रसन्न, दूसरे के घर की बातों के सुनने में दृष्टि ले गये हुए, शीघ्र चलता हुआ भी दीपक को देखता हुआ अपने पैर की ध्वनि से भी डरता है। जैसे-

**दृढपरिकरबन्धहृष्टचित्तः परगृहवादनिविष्टदृष्टिचेष्टः।**
**द्रुतगतिरपि दीपिकावलोकी भवति च पादनिपातनादभीरु ॥**[6]

राजकुल की समृद्धि धन्य है । अनेक भागों में विभक्त, और विशाल होने के कारण परिमित सा ज्ञात होता है, क्रमशः उन्नत होने का कारण घना सा ज्ञात होता है । प्रासाद समूहों से युक्त यह नृप भवन धरातल से मानों आकाश में जाना चाह रहा हो । यथा –

**विपुलमपि मितोपमं विभागान्निबिडमिवाभ्युदितं क्रमोच्छ्रयेण ।**
**नृपभवनमिदं सहर्म्यमालं जिगमिषतीव नमो वसुन्धरायाः ॥**[7]

अविमारक कहता है यहाँ नहीं ठहरना चाहिये, अटारियों, गलियों, चौराहों से ही विघ्न हैं, अस्तु इसी रस्सी के सहारे नीचे उतरुँगा अब इस रस्सी को कहाँ छिपाऊँ ? इस हस्तिशाला में गांठ खोल कर रख देता हूँ । अरे यह युवती के गीत से युक्त वीणा का नाद है- दूसरी और जाऊँगा । अहो यहाँ हाथियों के मद-जल से उत्पन्न गन्ध फैल

1. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः 3/3
2. अविमारकम् 3/4
3. अविमारकम् 3/5
4. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 75
5. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः पृ 67
6. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः 3/9
7. अविमारकम् तृतीयोऽङ्कः 3/13

रहा है थोडा ठहर कर जाऊँगा, यह दीपों का प्रभा है यहाँ बहुत से रक्षक हैं, बडी रात गये यह राजभवन शान्त होता है, जिस समय कमल समूह मुद्रित हो जाते हैं । जैसे-

**अविमारकः - इह तु न स्थातव्यम्। अट्टालप्रतोलीन्द्रपथेभ्यः सर्वविघ्ना भवन्ति। भवतु अनयैव रज्ज्वावतरिष्यामि । क्व नु खल्विदानीं रज्जुं प्रच्छादयामि। भवतु दृष्टम् । अस्यां हस्तिशालायां पाशं क्षिप्त्वा क्षिपामि।**

**अये तन्त्रीनादो युवतिकलगीतध्वनियुतः**
**अये गन्धामोदो गजवरमदोद्बोधितपटुः**
**प्रभैषा दीपानामिह तु वितता रक्षिपुरुषाः**
**चिराद् रात्रौ शान्तं सह कमलषण्डैर्नृपगृहम् ॥**[1]

अविमारक कहता है यह नगर है । विदूषक कहता है तब तक नगर की शोभा देखता हूं । इस प्रकार अविमारक कहता है – यही राजकुल हैं । यही वह राजभवन है जहाँ मैंने रात में डरते डरते प्रवेश किया था, आज उसी राजभवन में दिन में ही माया के प्रभाव से वैसा प्रवेश कर रहा हूँ जैसे सज्जनों के समाज में कोई चतुर व्यक्ति निर्भय से प्रवेश कर सकता है ।

**अविमारकः – एतन्नगरम् ।**
**विदूषकः – पश्यामि तावन्नगरस्य शोभाम्**
**अविमारकः – इदं राजकुलम्**

**एतन्नरेन्द्रभवनं निशि जातशङ्को यत् साहसं समुलपभ्य तथा प्रविष्टः।**
**भूयस्तदेव दिवसे सुसहायमायो वृन्दं सतामिव पटुः प्रविशाम्यशङ्कः।।**[2]

विदूषक अविमारक से कहते हैं इसीलिये ही तों मैं इस नगर में किसी से अधिक परिचय नहीं करता । **विदूषकः – अहमपि तद् ज्ञात्वै तस्मिन्नगरे केनापि विस्रम्भं न करोमि ।**[3] अविमारक कहते हैं उदासीन होना उचित नहीं हैं । बहुत लोगों के बीच में रहने के कारण मैं प्रियतमा को नहीं समझा सका । इस समय वह प्रासाद पर गयी है वहीं पर उसे समझा दूँगा । विदूषक कहते है चलो प्रासाद पर चलें यह अविमारक और विदूषक का कथपोकथन है ।

**अविमारकः – तदिदानीं प्रासादगतामपि तत्रैव तां बोधयिष्यावः ।**
**विदूषकः – सुष्ठु भवान् भणति। प्रासादमारोहावः ।** [4]

नलिनिका कहती है इस आदर वचन से मुझे यहाँ से जाने का सङ्केत कर रहे हैं इसको लेकर चतुःशाल में जाती हूँ । चतुःशाल में चलकर सखियों के साथ सारा वृत्तान्त सुनूँगी। **नलिनिका – भवतु, इमं गृहीत्वा चतुःशालं**

1. अविमारकनाटकम् 3/14
2. अविमारकम् 4/22
3. अविमारकम् पञ्चमोऽङ्कः, पृ. 133
4. अविमारकम् पञ्चमोऽङ्कः, पृ. 133

**प्रविश्य गोष्ठीजनेन सह वृत्तान्तं श्रृणोमि ।**[1]

**प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक**

प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक के तृतीयोऽङ्क में उन्मत्तक विदूषक से कहते हैं कि विशेष सामग्रीयों चना, नारियल से बने हुए, राजगृह से खरीदे हुए और समय पाकर सूखे हुए ये मोदक मेरी रक्षा के लिए पर्य्याप्त है। उन्मत्तकः -

**नेपथ्यविशेषमण्डिताः प्रीतिमुपादातुमुपस्थिताः । राजगृहे दत्तमूल्याः कालवशेन मुहूर्त्तदुर्बलाः ।।**[2]

प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक के तृतीयोऽङ्क में रूमण्वान् यौगन्धरायण से कहता है अब इस अग्निगृह से परस्पर पृथक् पृथक् होकर हम लोगों की चार रास्तों से चलना चाहिये । **रूमण्वान् – तेन हि चतुर्द्वारमग्निगृहं भिद्यतां न सङ्घातः ।**[3] फिर यह तो चौराहे बाले गली में आ गया । **एष एष तो चतुष्पथवीथिकायाम् ।**[4] भट यौगन्धरायण से कहता है कि आर्य अमात्य ने कहा है कि आप शस्त्रागार में ठहरे । **भटः – आर्य ! अमात्य आह- आयुधागारे तिष्ठतु किलार्यः।**[5] आयुधागार का वर्णन प्रतिज्ञायौगन्धरायणनाटक में दिखा जाता है। भट कहता है कि यही आयुधागार है । आर्य इसी के भीतर चलें । **भटः इयमायुधागारम् । प्रविशत्वार्यः।**[6] भट भरतरोहक से कहते हैं आर्य यौगन्धरायण शास्त्रागार में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । **भटः – आर्य यौगन्धरायण आर्यं प्रतिपालयन् आयुधागारे तिष्ठति ।**[7] भरतरोहक का कहना है कि बाजपक्षी के पङ्खों से कुचली गई कुररी पक्षी के समान यह सकरुण ध्वनि राजप्रासाद के अग्रभाग से सहसा क्यों होने लगी । जैसे- भरतरोहकः –

**अये, को नु खल्वेष सहसा प्रासादाग्राद् विनिःसृतः श्येनपक्षाभिमृष्टानां कुररीणामिव ध्वनिः ।।**[8]

**स्वप्नवासवदत्त नाटक**

स्वप्नवासवदत्त नाटक के तृतीयोऽङ्क में विवाहोत्सव के हर्षोल्लास से परिपूर्ण अन्तःपुर की चौशाला में पद्मावती को छोड कर यहाँ अन्तःपुर की वाटिका में आई हूँ कि , किसी प्रकार दुर्भाग्य से उत्पन्न हुये इस दुःख से मन को बहलाऊँ ऐसा वासवदता का कथन है । **वासवदत्ता – विवाहामोदसंकुले अन्तःपुर चतुःशाले परित्यज्य पद्मावतीमिहागतास्मि प्रमदवनम् । यावदिदानीं भागधेयनिवृत्तं दुःखं विनोदयामि ।**[9] दासी वासवदत्ता से कहती है आर्या जल्दी करें जल्दी। ये दामाद सौभाग्यवती स्त्रीयों के साथ चतुःशाला के भीतर ले जाये जा रहे हैं

1. अविमारकम् पञ्चमोऽङ्कः, पृ. 144
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् 3/1
3. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 102
4. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 103
5. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् चतुर्थोऽङ्कः पृ. 124
6. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् चतुर्थोऽङ्कः पृ. 125
7. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् चतुर्थोऽङ्कः पृ. 127
8. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् 4/23
9. स्वप्नवासवदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 71

। **चेटी – त्वरतां त्वरतामार्या। एष जामाता अविधवाभिरभ्यन्तरचतुःशालं प्रवेश्यते ।**[1] स्वप्नवासवदत्तनाटक का पञ्चमोऽङ्क में विदूषक राजा से कहता है चतुःशाल में चले । **विदूषकः – मेदानीं भवीनमर्थं चिन्तयित्वा ! एत्वेतु भवान् चतुःशालं प्रविशामः।**[2] स्वप्नवासवदत्त नाटक का षष्ठोङ्क में प्रतीहारी काञ्चुकीय से कहता है – आर्य ! सुनें ! आज महारानी के सूर्यामुख नामक महल में पहुँच कर किसी ने वीणा बजाई । **प्रतीहारी – श्रृणोत्वार्यः ! अद्यः भर्तुः सूर्यामुखप्रासादगतेन केनापि वीणा वादिता।**[3]

**चारुदत्त नाटक**

इस प्रकार चारुदत्त नाटक में नायक रदनिका को कहता वे क्यों इतने पर भी अन्तःपुर में नहीं जा रही हो। **नायकः – रदनिके प्रविश्य तामभ्यन्तर चतुःशालम् ।**[4]

पूर्ववत् इस चारुदत्त नाटक में गणिका कहती है हाय ! चारुदत्त के भवन का द्वार देख रही हूँ गणिका – **अहो भित्तिपरिणामसूचितं पक्षद्वारम् !**[5]

विदूषक कहता है आर्य रदनिके पार्शद्वार खोलो । फिर से विदूषक कहता है – मैं ज्यों ही दीपक लेकर आ रहा था उसी समय पक्षद्वार से झोंको की वायु जो सँकरे राजमार्ग से जुट एक हो कर रही थी उसी ने मेरे हाथ में स्थित दीपक को बुझा दिया ।

**विदूषकः - भो रदनिके अपावृणु पक्षद्वारम् ।**

**विदूषकः – अपावृत्तपक्षद्वारपिण्डीकृतप्रविष्टेन राजमार्गसंकीर्णेन वातेन सहसा निर्गच्छतो मम हस्ते निर्वापितो दीपः ।**[6]

विदूषक कहता है सचमुच सचमें मेरा थोडा अपराध है । रदनिके ! आगे चलो । उसी चौराहे पर प्रतीक्षा करना । तब तक मैं भी दीपक लेकर आ रहा हूँ । **विदूषकः – (निष्क्रान्तः) । अल्पं खलु मेऽवराद्धम् । रदनिके ! गच्छ, चतुष्पथे मां प्रतिपालय । यावदहमप्यभ्यन्तरचतुश्शालाद् दीपं गृहीत्वाऽऽ गच्छामि ।**[7] नायक विदूषक से कहता है अर्धरात्र में समस्त राजमार्ग अन्धकार से परिपूर्ण हो रही हैं । **नायकः – सखे ! उपारूढोर्धरात्रः । स्थिरतिमिरा राजमार्गाः ।**[8] विदूषक नायक से कहता है आप ठीक कह रहे हैं । इस समय तिरोहित होने वाले चन्द्रमा के द्वारा अवकाश प्राप्त कर लेने से यह अन्धकार मानों प्रासाद से उत्तर रहा हो । **विदूषकः – सुष्ठु भवान् भणति । अन्तर्दधानचन्द्रलब्धावकाशोऽवतरतीव प्रासादादन्धकारः ।**[9] विदूषक कहता है किस लिये

1. स्वप्नवासवदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 78
2. स्वप्नवासवदत्तम् पञ्चमोऽङ्कः पृ. 163
3. स्वप्नवासवदत्तम् पृ. 169
4. चारुदत्तम् प्रथमोऽङ्कः पृ. 41
5. चारुदत्तम् प्रथमोऽङ्कः पृ. 30
6. चारुदत्तम् प्रथमोऽङ्कः पृ. 29,30
7. चारुदत्तम् प्रथमोऽङ्कः पृ. 30
8. चारुदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 72
9 चारुदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 72

यह अलंकार अभ्यन्तर प्रकोष्ठ में नहीं रखा जाता। **विदूषकः – किन्निमित्तमयमलंकारोऽभ्यन्तरचतुःशालं न प्रवेश्यते।**[1] सज्जलक कहता है अच्छा तो वृक्षवाटिका वाले पक्षद्वार में सुरंग बनाकर इस भवन में प्रवेश किया हूँ। अब इसके बाद चतुःशाला में प्रवेश करता हूँ। **सज्जलकः – भोः ! वृक्षवाटिकापक्षद्वारे सन्धिं छित्वा प्रविष्टोऽस्मि। यावदिदानीं चतुःशालामुपसर्पामि ।**[2]

**प्रतिमानाटक**

प्रतिमा नाटक प्रथमाङ्क में नरेन्द्रभवन का वर्णन देखने के लिए मिलता है। सूत्रधार कहता है कि अच्छा तो, अब बात समझ में आई ठीक उसी तरह जैसे राजमहल में शुभ्रवसना द्वारपालिका प्रसन्नता के साथ शीघ्रतापूर्वक घूमा करती है।

**सूत्रधारः – भवतु, विज्ञातम्। मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव।**[3]

**प्रतीहारी कहता है कि** – आर्य संभवक, तुम देख क्या रहे हो, जाओ और शीघ्र ही महामान्य राजपुरोहित को महाराज की और से यथाशीघ्र ससन्मान बुला लाओ अरी सारसिके, ओ सारसिके, तु भी जल्दी कर, संगीतशाला चली जा और वहाँ जाकर अभिनेताओं को सूचित करो कि वे आज एक सामयिक अभिनय दिखाने का तैयार रहें।

**प्रतीहारी – आर्य ! सम्भवक ! सम्भवक ! गच्छ त्वमपि महाराजवचनेनार्यपुरोहितं यथोपचारेण त्वरय सारसिके ! सारसिके! सङ्गीतशालां गत्वा नाटकीयेभ्यो विज्ञापय- कालसंवादिना नाटकेन सज्जा भवितेति ।**[4]

सुधाकर कहता है कि देख लीजिए- प्रतिमागृह के अपरिमार्जन से पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे, वे हटा दिये गये हैं, दीवालें पुतवा दी गयी है, उन पर पांचों अंगुलियों का आकार बना दिया गया है दरवाजे पुष्पमालाओं से सजा दिये गये हैं, सजावट के लिए चारों और रेत विछा दी गयी है।

**सुधाकरः – पश्यतु भर्ता अपनीतकपोतसन्दानकं तावद् गर्भगृहम् । सौधवर्णकदत्तचन्दनपञ्चाङ्गुला भित्तयः । अवसक्तमाल्यदामशोभीनि द्वाराणि । प्रकीर्णा बालुकाः।**[5]

देवकुलक का कहना है कि अरे यह कौन ? इन मूर्तियों के सदृश रूपवाला, पूजा की समाप्ति हो जाने के बाद मेरे भोजन के समय ही प्रतिमागृह के अन्दर घुस आया है ?

**देवकुलकः– भोः !नैत्यिकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि को नु खल्वयमासां प्रतिमानामल्पान्तरा-कृतिरिव प्रतिमागृहं प्रविष्टः ?**[6]

प्रतिमानाटक के चतुर्थोङ्क में विजया का वचन है कि सखि नन्दिनिका, कहो कहो, सुना है कौशल्यादिक

1. चारुदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 75
2. चारुदत्तम् तृतीयोऽङ्कः पृ. 77
3. प्रतिमानाटकम् 1/2
4. प्रतिमानाटकम् पृ. 15
5. प्रतिमानाटकम् पृ. 86
6. प्रतिमानाटकम् पृ. 96

सारा घर के लोग आज प्रतिमाघर को देखने गये थे। क्या वहाँ उन लोगों ने कुमार भरत को भी देखा है ? मैं मन्दभागिनी तो दरवाजे पर ही खडी रह गयी ।

**विजया – हला नन्दनिके ! भण भण । अद्य कौशल्यापुरोगैः सर्वैरन्तःपुरैः प्रतिमागेहं द्रष्टुं गतैस्तत्र किल भर्तुदारको भरतो दृष्टः ? अहं च मन्दभागा द्वारे स्थिता ।**[1]

सुमन्त्र का वचन इहाँ दिखाई दे रहा है कि कुमार, उधर मत जाइये, यह देवियों का अन्तःपुर है । जैसे- **कुमार ! न खलु न खलु गन्तव्यम् । देवीनां चतुशशालमिदम् ।**[2]

इस प्रकार भास नाटक चक्र के प्राय प्रत्येक नाटक में वास्तु शास्त्र के अन्तर्गत मन्त्रशाला, नृपगृहम्, चतुःशाला, हर्म्य, प्रासादादि वास्तु शास्त्र से सम्बन्धीय अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण विषय महाकवि भास ने अत्यन्त रमणीय नाटकीय अनुरूप काव्य छन्द अलंकार से युक्त सुसज्जित करके निर्माण किया है। जिसको अध्ययन करने पर न केवल नाट्य रस की अनुभूति होगी है अपि तु प्राचीन वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत स्थापत्य कला-कौशल का मूर्तरूप देखने को मिलता है। अतः भारतीय वास्तुशास्त्र मानव के लिए ऐसा शान्तिमय वातावरण निर्माण करता है जिसमें निवास करने वाला प्रत्येक मनुष्य नाट्य रस की अनुभूति साथ साथ अलौकिक शान्ति का भी प्राप्त कर सकता है और सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

❖ ❖ ❖

1. प्रतिमानाटकम् पृ. 121
2. प्रतिमानाटकम् पृ. 187

# गृहनिर्माण हेतु खात परीक्षण

**– डॉ. रतनकुमारपाण्डेयः**

आकाश में विद्यमान ग्रह,नक्षत्रादि अर्थात् जयोतिर्मय पिण्डों की गति स्थिति एवं उनके प्रभावादि का ज्ञान जिस शास्त्र से किया जाता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं।मूख्यतः ज्योतिषशास्त्र के तीन स्कन्ध सिद्धान्त-संहिता-होरा,इन तीन स्कन्धों की परिभाषा ज्योतिष दैवज्ञों ने स्वरचित ग्रन्थों स्पष्ट रुप से उल्लेख किया हैं। जैसे-

**सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम् ।**
**वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योर्तिःशास्त्रमनुत्तमम् ।।**[1]

आचार्य वराहमिहिर ने वृहत्संहिता में तीनों स्कन्धों का उल्लेख करते हुये लिखा है (ज्योतिश्शास्त्रमनेक-भेदविषयं स्कन्धत्रयोधिष्ठतम्) कुछ आचार्यों का मत है कि कथित तीन स्कन्धों के अतिरिक्त केरलि एवं शकुन की भी ज्योतिष स्कन्धों नें गणना की जाती है । उनके मतानुसार ज्योतिष शास्त्र के पंच स्कन्ध है।यथा-

**पंचस्कन्धमिदं शास्त्रं होरागणितसंहिता ।**
**केरलिः शकुनं चेति ज्योतिषशास्त्रमुदीरितम् ।।**[2]

ज्योतिषशास्त्र की बहुत सी शाखायें मिलती हैं। इन शाखाओं में जैसे कि सामुद्रिकशास्त्र,अंकशास्त्र, स्वरशास्त्र, का सम्बन्ध वास्तुशास्त्र के साथ है।ज्योतिषशास्त्र के जो तीन स्कन्ध कथित हैं,उन स्कन्धों में से जो संहिता स्कन्ध है, उस स्कन्ध अन्तर्गत वास्तुशास्त्र की गणना की जाती है।वास्तुशास्त्र का वर्णन संहिता स्कन्ध के विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जिन विविध विषयों का वर्णन संहिता में किया गया है उन विषयों में से वास्तु शास्त्र भी एक है। वास्तु पद का शाब्दिक अर्थ निवास योग्य भूमि अर्थात् मानव के निवास योग्य भूमि एवं भवन को वास्तु कहते हैं।जिस शास्त्र के द्वारा भूमि एवं भवन में निवास करने वाले लोगों को अधिक सुविधा और सुरक्षा के नियमों,सिद्धीन्तों तथा प्रविधियों का प्रतिपादन किया जाता है उसे वास्तु कहते है ।वास्तु शब्द वस् धातु ( वसेन्तुन्) इस सूत्र से तुन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न होता है। परन्तु अमरकोश मे भवन के लिये नियत भूमि को ही वास्तु माना गया है। गृह निर्माण के लिए खात परीक्षण भी वास्तु शास्त्र का मूख्य भाग है। खात का परीक्षण भूमि शोघन के लिये किया जाता है। कौन सी भूमि वास योग्य एवं त्याज्य योग्य है ?इसके लिये भूमि का परीक्षण अति आवश्यक है । विश्वकर्मप्रकाश ग्रन्थ में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । यथा-

**खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत् तन्मृदा,**

---

1. ज्योतिषशास्त्रेतिहास पृ. 4
2. ज्योतिषशास्त्रेतिहास पृ.सं. 6

**हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्धने ।।**[1]

खात (गड्ढा,खुदी हुयी भूमि,खाई)का प्रयोग भूमि शोधन के लिए किया जाता है।जिस भूमि पर निवास करना है वह भूमि भूस्वामी अथवा प्रधान पत्नी के लिये शुभकारक है की नहीं,इसके लिये वास्तुकारों ने खात परीक्षण सर्वप्रथम कहा हैं।भूमि परीक्षण के समय बस्वामी को स्वहस्त के नाप से एक हाथ लम्बा चौडा,गहरा गड्ढा खोदकर पुनःउस खात में प्राप्त मिट्टी को डालतो है यदि अल्प हो जाती है तो उसका फल अशुभ,गडढे के समान मिट्टी हो तो समान फल एवं यदि मिट्टी अधिक मात्रा में हो तो उसका फल शुभ जानना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत हैं कि भूमि स्वामी के हस्त प्रमाण तुल्य लम्बा,चौडा एवं गहरा खात खोदकर उसको जल से भर लें,तत्पश्चात् शत कदम दूर जाकर उस भूमि के पास पुनः लौट आयें ,तत्पश्चात् परीक्षण करें यदि गर्त जल से पूर्ण हो तो श्रेष्ठ,चौथाई जल सूख जाय तो मध्यम तथा आधे से कम जल खात में हो तो अधम जानें ।यथा

**तत्कृत्वा जलपूर्णमाऽऽशतपदं गत्वा परीक्ष्य पुनः।**
**पादोनाऽर्द्धविहीनकेऽथनिभृते मध्याधमेष्टाम्बुभि।।**
**निखनेद्धस्तमात्रेण पुनस्तेनैव पूरयेत् ।**
**पांशुनाधिकमध्योनश्रेष्ठमध्याधमाः क्रमात् ।।**[2]

वास्तुरत्नावलि नामक ग्रन्थ में भी भूमि शोधन के लिये खात परीक्षण विधि कही गयी है।गृहपति के हस्त प्रमाण तुल्य गहरी खात खोदकर उस खात को जल से भर दें, कुछ काल बाद जाकर परीक्षण करें,यदि खात में जल भरा हो तो उत्तम, सद्य सूख जाय तो अनिष्ट और जल भरते समय स्थिर रहे तो घर की स्थिरता जाननी चाहिये। आचार्य नारायण भट्ट ने खात परीक्षण का उल्लेख करते हुए लिखते है कि सूर्यास्त समय में एक हाथ लम्बा, चौडा और गहरा खात खोदकर उसको पानी से भर दें यदि प्रातःकाल तक उस खात में जल रह जाय तो शुभ, नहीं रहे तो मध्यम दरारें पडी हो तो अशुभ होता है।यथा

**श्वभ्रं हस्तमितं खनेदिह जलं पूर्णं निशास्ये न्यसेत् ।**
**प्रातर्दृष्टजलं स्थलं सदजलं मध्यं त्वसत्स्फाटितम् ।।**[3]

खात परीक्षण करने के बाद वास्तुविदों ने खात के मध्य में प्राप्त होने वाले पाषाणादि पदार्थों के शुभाशुभ फलों का विवेचन इस प्रकार से किया है । यथा

**खन्यमाने यदा भूमौ पाषाणं प्राप्यते यदा ।**
**धनायुश्चिरता वै स्यादिष्टकासु धनागमः।**
**कपालाङ्गारकेशादौ व्याधिना पीडितो भवेत् ।।**[4]

1. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं. 25
2. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं. 25
3. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं. 26
4. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं. 26

खात खोदने पर यदि खात के मध्य में पाषाण मिले तो धन एवं आयु की वृद्धि होती है,यदि ईट मिले तो धनागम होता है । कपाल,हड्डी, कोयला, केशादि मिलें तो रोग पीडा जाननी चाहिये । कुछ आचार्यों का मत है कि खात में यदि पत्थर प्राप्त हो तो स्वर्ण लाभ,इष्टिका मिलने से समृद्धि,द्रव्य मिले तो सुख और ताम्रादि धातु मिले तो सभी प्रकार की वृद्धि होती है ।यथा

**खाते यदाश्मा लभते हिरण्यं तथेष्टकायां च समृद्धिरत्र ।**
**द्रव्यं च रम्याणि सुखानि धत्ते ताम्रादिधातुर्यदि तत्र वृद्धिः।।**[1]

खातारम्भ किस दिशा में करने से शुभ फलदायी होता है ?इसके विषय में आचार्य रामदैवज्ञ ने मुहूर्त्तचिन्तामणि ग्रन्थ के वास्तु प्रकरण में स्पष्ट रूप से किया है ।यथा-

**देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः ।**
**मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्ठविदिक्शुभो भवेत् ।।**[2]

शिलान्यास हेतु खात खोदने के समय सूर्य की स्थिति का ध्यान रखना चाहिये ।कथन यह है कि राशि विशेष में सूर्य की स्थिति एवं दिशा वश राहु मुख होता है । गृह निर्माण में सिंहादि तीन राशियों (सिंह-कन्या-तुला) में सूर्य स्थित होने पर राहु का मुख ईशान कोण और पुच्छ की स्थिति पश्चिमदक्षिण कोण में होती है। इस स्थिति में खात का आरम्भ आग्नेय कोण में करना शुभ होता है । जब सूर्य वृश्चिक ,धनु एवं मकर राशि में स्थित हो तो राहु का मुख वायव्य कोण और पुच्छ आग्नेय विदिशा में होती है ।अतः खातारम्भ का उपयुक्त स्थान ईशान कोण है। कुम्भादि तीन राशियों में (कुम्भ,मीन और मेष) सूर्य स्थित हो तो राहु का मुख दक्षिणपश्चिम दिशा में एवं पुच्छ की स्थिति ईशान कोण में कही गयी है ।ऐसी स्थिति दिखें तो खातारम्भ वायव्य कोण में करनी चाहिये ।वृषादि (वृष-मिथुन-कर्क)तीन राशियों में सूर्य गया हो तो राहु मुख आग्नेय कोण में और पुच्छ की स्थिति वायव्य कोण में समझनी चाहिये ।आतःखात खनन हेतु उपयुक्त स्थान पश्चिमदक्षिण कोण है ।आचार्य विश्वकर्मा का मत है कि काल सर्प राहु रूप वास्तु ईशान कोण से वामावर्त विदिशाओं में परिभ्रमण करता है ।इसका मुख ,मध्य (उदर) एवं पुच्छ को छोडकर चतुर्थ दिशा में खातारम्भ करना उत्तम होता है ।यथा-

**ईशानतः सर्पति कालसर्पो विहाय सृष्टिं गणयेत् विदिक्षु ।**
**शेषस्य वास्तोर्मुखमध्यपुच्छं त्रयं परित्यज्य खनेच्चतुर्थम् ।।**[3]

यज्ञ वेदी निर्माण में खात का आरम्भ किस दिशा से करना चाहिये ?इसका उल्लेख ज्योतिष चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है, वृषादि तीन राशियों में सूर्य स्थित हो तो आग्नेय कोण में ,सिंहादि तीन राशियों में सूर्य हो तो ईशान कोण में ,वृश्चिकादि तीन राशियों में सूर्य हो तो वायव्य कोण में तथा कुम्भादि तीन राशियों में सूर्य हो तो खात का प्रारम्भ पश्चिमदक्षिण मध्य से करना चाहिये ।यथा-

1. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं. 27 वा. प्र.पी धा .टी.पृ. सं. 572
2. वृहद्वास्तुमाला पृ. सं.24
3. मुहूर्त्तचिन्तामणि पृ.सं.

**वृषार्कादित्रिकं वेद्या सिंहादिं गणयेद् गृहे ।**
**सिंहत्रयेऽर्के चाग्नेयामीशाने वृश्चिकत्रयम् ।**
**कुम्भत्रये तु वायव्यां नैरीत्यां वृषभत्रये ।।**[1]

प्रत्येक भूखण्ड पर सर्पाकार राहु अपने शरीर को फैलाये हुये विद्यमान है । सूर्य के राशिचार के द्वारा ही नागाकार राहु की स्थिति में परिवर्तन होता है । अतःगृहारम्भ में नागाकार राहु की स्थिति ज्ञातकर खात खनन के समय इसके (राहु) शरीर के अंगों (मुख,मध्य एवं पुच्छ) पर प्रहार करने से बचना चाहिये । क्योंकि यदि नागाकार राहु के शरीर पर प्रहार करते हैं तो गृहस्वामी को अनेक प्रकार के अशुभफलों का सामना करना पडता है ।जैसे नागाकार राहु के शीर्ष पर प्रहार होने से मातृ पितृ क्षय ,पुच्छ पर प्रहार होने से अनेक प्रकार के रोग,पीठ पर प्रहार होने से हानि एवं भय तथा कुक्षि पर प्रहार करने से पुत्र-धान्यादि का लाभ होता है ।यथा-

**शीर्षे मातृपितृक्षयः प्रथमतो खाते रुजः पुच्छके ।**
**पृष्ठे हानिर्भय च कुक्षि खनने स्यात् पुत्रधान्यादिकम् ।।**[2]

भूखण्ड के उसी भाग पर खात खनन करना चाहिये जिस भाग पर सर्पाकार राहु की कुक्षि स्थित हो, गृहारम्भ निर्माण में जब सूर्य वृषादि तीन राशियों में स्थित हो तो राहु का मुख आग्नेय कोण में, पीठ ईशान कोण एवं पुच्छ की स्थिति वायव्य कोण में तथा कुक्षि का स्थान पश्चिमदक्षिण के मध्य में होता है। दक्षिणपश्चिम के मध्य में खात खोदने से शुभफलदायक होता है । यदि भास्कर सिंहादि तीन राशियों में गयें हो तो राहु का मुख ईशान कोण में, पीठ वायव्य कोण में, पुच्छ की स्थिति पश्चिमदक्षिण के मध्य में एवं कुक्षि की स्थिति आग्नेय कोण में होती है। कुक्षि यदि आग्नेय कोण में स्थित है तो आग्नेय कोण से ही खात खनन करना चाहिये। वृश्चिकादि तीन राशियों में जब सूर्य स्थित हो तो राहु का मुख वायव्य कोण में, पीठ पश्चिमदक्षिण के मध्य में, पुच्छ आग्नेय कोण और कुक्षि की स्थिति ईशान कोण में होती है ।ऐसी स्थिति मिले तो खात का खनन ईशान कोण से करना शुभदायक होता है। जब सूर्य का राशिचार कुम्भादि तीन राशियों में हो तो राहु का मुख पश्चिमदक्षिण के मध्य में, पीठ आग्नेय कोण में, पुच्छ ईशान कोण में एवं कुक्षि की स्थिति वायव्य कोण में होती है । कुक्षि की स्थिति वायव्य कोण में होने से वायव्य कोण से ही खात खनन करना शुभ होता है। खात खोदने के उपरान्त ही शिलान्यास पूजन विधि की जाती है। खात हेतु मुहूर्त्त का वास्तुकारों ने वास्तु ग्रन्थों में बहुत स्थानों पर उल्लेख किया हैं । शुभमुहूर्त्त में ही खात खोदना चाहिये। इसके लिए सुप्रसिद्ध दैवज्ञ से परामर्श लेकर,उसके द्वारा बताये गये शुभमुहूर्त्त में ही खात का आरम्भ करना चाहिये। खात का आरम्भ गृह निर्माण में कही गयी पंचाङ्ग शुद्धि मुहूर्त्त में करना शुभ होता है ।सामान्य रूप से खात का प्रारम्भ भद्रा रहित, गुरू-शुक्रास्त काल,संक्रान्ति काल, विष्कुम्भादि योगों से रहित काल, पापग्रहयुति एवं क्रूरग्रहवेधादि दोषों से वर्जितकाल में करना शुभ होता है। गृहारम्भ के विषय में सर्वप्रथम निर्देश मिलता है कि विष्णुप्रबोधनी एकादशी के पश्चाद् एवं हरिशयनी एकादशी के पूर्व सर्वदा गृहारम्भ करना चाहिये। खात का आरम्भ भी देव प्रबोधनी एकादशी

1. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं.24
2. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं.27

से ही करना शुभ कहा गया है।खातारम्भ के लिये पंचांग शुद्धि अर्थात मास,पक्ष,तिथि,वार,नक्षत्रादि का वर्णन मुहूर्त्त सम्बन्धि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलता है।आचार्य नारद ने कहा है कि मार्गशीर्ष,फाल्गुन,वैशाख,माघ,श्रावण एवं कार्तिक मास में गृहारम्भ कराने से गृहस्वामी को पुत्र लाभ और आरोग्यता प्राप्त होती है।यथा-

**सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः ।**
**मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यफलप्रदाः ॥**[1]

खातारम्भ नारद द्वारा कथित मासों में करना शुभ होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि कार्तिक मास, चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ, एवं आश्विन मास में गृहारम्भ अथवा खातारम्भ करना शुभदायक नहीं है। आचार्य रामदैवज्ञ ने सूर्य संक्रान्ति वशाद् मासों की गणना करते हुये लिखा है कि फाल्गुन,श्रावण,पौष,वैशाख एवं मार्गशीर्ष मास में गृहारम्भ व खातारम्भ शुभद होता है। खातारम्भ व गृहारम्भ किस पक्ष में करने शुभ होता है इसकी चर्चा प्रसंग वशाद् वास्तुरत्नावली ग्रन्थ में की गयी है। यथा-

**शुक्लपक्षे भवेत् सौख्यं कृष्णे तस्करतो भयम् ।**
**तस्माद्विचार्य कर्तव्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ।।**[2]

अर्थात् शुक्ल पक्ष में गृहारम्भ व खातारम्भ करने से सुख की प्राप्ति और कृष्ण पक्ष में करने से चोरी का भय होता है।गुरु एवं शुक्र की उदित अवस्था होने पर शुक्ल पक्ष के दिन में खातारम्भ व गृहारम्भ करना चाहिये। निषिद्ध तिथियों (वर्जित) खातारम्भ व गृहारम्भ करने से होने वाले अशुभ फळों की चर्चा करते हुये वृहद्वास्तुमाला के आचार्य लिखते है कि यदि प्रतिपदा तिथि में दरिद्रता, चतुर्थी में धन क्षय,अष्टमी में उच्चाटन,नवमी तिथि में शस्त्रादि से घात, अमावस्या में राज भय तथा चतुर्दशी तिथि में खातारम्भ व गृहारम्भ करने से स्त्री की हानि होती है। आचार्य भृगु के मतानुसार रिक्ता तिथि (4,9,14)अष्टमी,अमावस्या तिथियों तथा रवि,चन्द्र एवं मंगल वार को त्याग देना चाहिये ।खातारम्भ नक्षत्र शुद्धि के विषय में आचार्य माडव्य का कथन है कि अधोमुख संज्ञक नक्षत्र में ही खातारम्भ करना चाहिये । यथा-

**अधोमुखैर्भैर्विदधीत खातं शिलां तथैवोर्ध्वमुखैश्च पट्टम् ।**[3]

तीनों पूर्वा (पूर्वाषाढ,पूर्वाफाल्गुनी,पूर्वाभाद्रपद) आश्लेषा,भरणी,कृत्तिका,मूल ,मघा और विशाखा ये नव नक्षत्र अधोमुख संज्ञक कहे गये है ।

**पूर्वात्रयं सार्पयमाग्निधिष्ण्यमधोमुखं मूलमघाविशाखाः ।**[4]

पूर्वोक्त तिथियों को छोडकर शेष अन्य तिथियों में जैसे द्वितीया, तृतीया, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, दशमी,

1. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं.76
2. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं.81
3. मुहूर्त्तचिन्तामणि वा.प्र.पी.धा.टी.पृ.सं.573
4. मुहूर्त्तचिन्तामणि वा.प्र.पी.धा.टी.पृ.सं.574

एकादशी, द्वादशी और त्रयोदशी तिथि में खातारम्भ व गृहाम्भ करना अधिक श्रेयष्कर होता है। सप्तविंशति योगों में से विष्कुम्भ और व्यतीपात योग को त्याग कर अन्य योगों में खातारम्भ करना श्रेष्ठ होता है।आचार्य रामदैवज्ञ ने पंचांग शुद्धि एवं लग्न शुद्धि के विषय में कहा है कि रविवार और भौमवार को छोडकर ,रिक्ता तिथि,अमावस्या और सप्तमी तिथियों का परित्याग कर ,चर लग्न को (1,4,7,10) छोडकर शेष लग्नों में अर्थात् स्थिर लग्न (2,5,8,11) द्विस्वभाव लग्न (3,6,9,12) में शुभ, पंचक नक्षत्रों को छोडकर (धनिष्ठा से रेवती तक ), अष्टम और द्वादश शुद्धि युक्त लग्न में, शुभग्रह केन्द्र और त्रिकोण स्थान में स्थित हों ,तथआ त्रिषडाय (3,6,11) में पाप ग्रह युक्त हो तो खातारम्भ व गृहारम्भ करना सर्वोत्तम होता है । यथा-

**भौमार्करिक्तामाद्यूने चरोनाङ्गे विपंचके ।**
**व्यष्टान्त्यस्थैः शुभैर्गेहारम्भस्त्र्यायारिगैःखलैः।।**[1]

उपरोक्त सभी विधियों के द्वारा खात परीक्षण करने के बाद ही प्रशस्त भूमि पर निर्माणादि कार्य प्रारम्भ करना चाहिये तभी भूस्वामी को सुख –समृद्धि की प्राप्ति होती है ।

❖ ❖ ❖

1. वृहद्वास्तुमाला पृ.सं.85

# Harmony of Modern Science and Ancient Wisdom: Dr. Tony Nader's Contributions to Indian Traditional Knowledge

**– Dr. Rajesh Naithani**

**– Prof. Devi Prasad Tripathi**

Dr. Tony Nader a scientist, University President, researcher, and administrator is globally recognized for his unique efforts in integrating the fields of neurophysiology and Vedic technology, particularly for leading the Transcendental Meditation (TM) movement with inspiring and remarkable leadership worldwide. Transcendental Meditation (TM), introduced by Maharishi Mahesh Yogi, is a simple yet profound technique that is practiced for 15-20 minutes twice daily, sitting comfortably with the eyes closed. It requires no particular belief system, lifestyle changes, or dietary adjustments, making it accessible to people of all ages, educational backgrounds, and cultures. This paper sheds light on Dr. Nader's enormous, multifaceted contributions, highlighting his distinctive initiatives in bridging modern scientific research with ancient Vedic knowledge and advancing global well-being through TM which was introduced to him by his teacher Maharshi Mahesh Yogi. He has been instrumental in utilizing TM to achieve world peace and prosperity. His unprecedented and skillful research underscores the fundamental principles of happiness, health, and fulfillment, offering an effortless path to achieving these goals. Exemplary, groundbreaking research by Dr Nader and his colleagues on the primacy of consciousness is based on philosophical reasoning and supportive science. Dr. Nader has been instrumental in substantiating India's[1] traditional knowledge of Vedic science and technology with scientific evidence and promoting world peace and prosperity through his extraordinary endeavors to bring world peace and prosperity.

**Keywords:** Consciousness, Transcendental Meditation, Indian traditional knowledge, World peace,

## Introduction

Indian traditional knowledge is ancient knowledge in India. It includes traditional sciences such as physics understanding the mysteries of the universe, human interaction

1. Dr. Tony Nader talks on consciousness at Stanford University meditationlifestyle.com

with the environment, philosophical perspectives on life, conservation and protection of the environment, development of arts and aesthetic sensitivity, and integration of justice and human virtues (1,2). In the Indian tradition, meditation is one of the five principles of yoga, which involves the sustained observation and focus of the mind to experience the soul. This practice enhances purpose, willpower, clarity, concentration, and inner peace (3). It is also one of the eight limbs of yoga, which leads to samadhi or enlightenment. Various studies have clearly shown that meditation contributes to our physical and mental health, lowering blood pressure, relieving stress and pain, and achieving the healing-promoting alpha state, which helps reduce anxiety and depression (4). According to religious scholar and publicist Kenneth Boa's book "Cults, World Religions, and the Occult", the Transcendental Meditation technique's roots in "Vedantic Hinduism" have been repeatedly confirmed by Maharishi Mahesh Yogi's writings such as "Science of Being and the Art of Living" and his commentary on the Bhagavad Gita. Boa writes that Maharishi Mahesh Yogi explained that Transcendental Meditation was given to humans by the Hindu god Krishna about 5,000 years ago and that it was lost and restored repeatedly by the Buddha, Adi Shankara, and Brahmananda Saraswati(5). Religious studies author Carl Olson writes that the Maharishi himself discovered Transcendental Meditation. According to religious scholar Cynthia Humes, the Maharishi said that Transcendental Meditation was “his own guru's meditation practice” and that he was preserving teachings inspired by /his guru Brahmananda Saraswati” (Guru Dev). Guru Dev Brahmananda Saraswati was the Shankaracharya of the Badrika Ashrama[1] , one of the highest and most prestigious titles in the Indian Sanatan Dharma(6). Another scholar states that the Transcendental Meditation technique was derived from an older Hindu technique. Author Patricia Drake writes “When Gurudev was about to die, he tasked Maharishi to teach a simple way to meditate to the general public, including the Western world. (7)” Maharishi Mahesh Yogi introduced a simple and easy technique known as Transcendental Meditation, which allows people to achieve a deep meditative state without much effort. The technique provides a state of transcendence of thoughts and a deep sense of peace, which improves mental and physical health. Although the descriptions of these states are similar, there are very few studies that systematically study these transcendental states during meditation. Transcendental Meditation (TM), promoted worldwide by Maharishi Mahesh Yogi, focuses attention on subtler thoughts, ultimately reaching the source of thought (8,9). Author John White states, "Gurudev taught Maharishi both the technique and the philosophy, resulting in the current phenomenon known as Transcendental Meditation. (10)"

1. cardinal pīthams established by the Ādi Śaṅkara to preserve and propagate Hinduism and Advaita Vedānta, the doctrine of non-dualism Jyotir Math - Wikipedia

## Early Life and Education

Dr. Tony Nader is a respected neuroscientist, researcher, author, and global leader in the Transcendental Meditation (TM) movement. Born and raised in Lebanon, he was very inquisitive. From a young age, he sought answers to questions about existence within the spiritual and philosophical frameworks. Following his early education, Dr. Nader got interested internal medicine and psychiatry to his academic path. He began practicing Transcendental Meditation (TM) during this period, which profoundly shaped his future. Dr. Nader received his M.D. from the American University of Beirut, specializing in internal medicine and psychiatry in depth. In 1975, during his premedical studies, he began practicing Transcendental Meditation while seeking to unlock the full potential of the human mind.. Dr. Nader's academic journey includes training at Harvard University and earning a PhD in neuroscience from the Massachusetts Institute of Technology (MIT). He is an internationally recognized expert on the science of consciousness and human development. His latest book, Consciousness Is All There Is, is forthcoming. Additionally, his work One Unbounded Ocean of Consciousness is a bestseller.[1]

As the global leader of Transcendental Meditation organizations, Dr. Nader is credited with successfully carrying the great legacy of Maharishi Mahesh Yogi to the world. Dr. Nader's extraordinary commitment to TM has been greatly strengthened by his transformational experiences with the practice. During his medical studies, TM revealed to him a transcendental reality beyond sensory perception - a more intangible but more complete and more peaceful state of being that has the potential to transform the entire world.

Over time his dedication deepened with his participation in the TM Siddhi program, including its meditation-based advanced flying technique. Meeting Maharishi Mahesh Yogi at a health conference in Switzerland in the 1980s was a pivotal and transformative moment in Dr. Nader's life that changed the course of his life. Dr. Nader has done a great job of scientifically analyzing Maharishi's belief that everyone can attain higher consciousness and successfully communicating it to the world community. As a true disciple of the Indian tradition, he credits all his successes to his revered Gurudev and considers TM meditation to be an extremely important medium for world peace and harmony.

Maharishi's teachings provided a systematic framework for full human development through progressive levels of awakening, each marked by unique physiological indicators. Scientific evidence supports the benefits of daily TM practice, including stress reduction, improved sleep, enhanced learning ability, and overall well-

1. Hindi version of this book was launched under the title "Chetna ka ek Antheen Mahasagar"

being. TM practice leads to transcendental consciousness, characterized by a specific neurological pattern of brain wave coherence and integration. This state forms the basis for further consciousness development aimed at integrating this expanded, blissful state into all aspects of life, facilitating enlightened living. The presented case study examines the journey of Dr. Tony Nader, his role in integrating scientific research with ancient wisdom, and the global impact of the Transcendental Meditation movement he led. His work demonstrates the profound connection between inner growth and scientific exploration, offering a path to peace and harmony in the modern world. Early Life and Education of Dr. Tony Nader An expert in Vedic wisdom and its integration with modern science[1], Dr. Tony Nader has pioneered evidence-based approaches to bring happiness and prosperity to the world. His journey began with a profound desire to understand the essence of life – who we are, why we are here, and what we can achieve. Believing that the physical, mental, and spiritual aspects of life are fundamental to true knowledge, personal growth, and fulfillment, he dedicated his life to their comprehensive development. Dr. Nader received his early education in a French Jesuit school, where he completed his primary and secondary education. Immersed in the history, geography, and philosophy of France even before his native Lebanon, his upbringing nurtured his existential curiosity. Reflecting on his early experiences with TM, Dr. Nader said, "As soon as I began to meditate, I experienced a reality that is transcendental, that is beyond the sensory level, that is inner, that is more abstract but more fulfilling, more peaceful, more blissful." Eager to explore more of the unknown aspects of medicine and human consciousness, Dr. Nader continued his education at Harvard Medical School, one of the most prestigious institutions in the world. At the institution, renowned for its rigorous academic programs, top-notch research, and outstanding faculty, Dr. Nader learned the nuances of neuroscience.

Harvard's global reputation for excellence in research and teaching provided an ideal environment to pursue Dr. Nader's internal medicine, psychiatry, and neuroscience studies. Despite the extensive knowledge and experience gained at Harvard, the traditional medical approach left many questions unanswered for Dr. Nader. He was in search of something which modern science could not provide him. This realization led him to focus more on research, culminating in a PhD in brain and cognitive sciences from the Massachusetts Institute of Technology (MIT). MIT, another prestigious institution, is renowned for its emphasis on science, technology, engineering, and mathematics (STEM). It consistently ranks among the top universities globally, attracting talented students and researchers committed to groundbreaking research, academic excellence, and innovation. At MIT, Dr. Nader was a visiting physician and assistant director of

1. Tony Nader, medical doctor, neuroscientist, and international scholar with mastery in both modern science and timeless Vedic wisdom. www.drtonynader.com

the MIT Clinical Research Center. He also served as a clinical and research fellow at Massachusetts General Hospital, a major teaching hospital affiliated with Harvard Medical School. MIT's collaborative and interdisciplinary approach[1] was very beneficial as it provided Dr. Nader with numerous opportunities for significant discoveries and innovations. The Institute's strong focus on research, innovation, and entrepreneurship, combined with its extensive alumni network, further enriched his academic and professional journey. Throughout his academic and professional journey, Dr. Nader remained committed to exploring the interconnectedness of the physical, mental, and spiritual dimensions of life. His work exemplifies the harmonious integration of cutting-edge scientific research with ancient Vedic wisdom, providing insights that transcend traditional boundaries and promote a holistic approach to human development. By bridging the gap between Vedic wisdom and modern science, Dr. Nader was successful in creating pathways to improved well-being, peace, and satisfaction for individuals and communities worldwide. Exploring Consciousness and Neuroscience Dr. Nader's practice of Transcendental Meditation sparked a deep interest in the scientific basis of consciousness. With a background in neuroscience, he added a new dimension to the study of consciousness and scientific research on Transcendental Meditation and its effects. Based on his experiences and deep insights into Transcendental Meditation, Dr. Nader recognized that Maharishi had revolutionized the nature of meditation. Traditionally, meditation was considered difficult and required a separation from practical life. Maharishi revealed that the human mind is naturally drawn to greater happiness and that the natural and spontaneous experience of inner consciousness is the key to enjoying life and achieving progress. Dr. Tony Nader, a neuroscientist and expert in Vedic wisdom, blends scientific research with ancient wisdom to provide insights into the ordinary activities of life. According to Dr. Nader, true happiness comes from within rather than from external sources. Through practices such as Transcendental Meditation (TM), individuals can reach a deep state of inner peace and bliss unaffected by external circumstances. This inner happiness is stable and lasting, unlike the fleeting pleasures derived from external achievements or possessions. The idea is to reach the ultimate stage where you get far away from worldly pleasures and strive for internal happiness Through his writings, lectures, and workshops Dr. Nader emphasizes that love is a natural expression of our inner self. By experiencing our inner fullness and connection through meditation, we naturally radiate love and compassion toward others. This love grows as we deepen our connection to ourselves, promoting healthier and more meaningful relationships. According to Dr. Nader, effectively expanding our knowledge involves integrating intellectual understanding with experiential insight.

1. The collaborative nature of research at MIT not only accelerates the pace of innovation but also allows for a holistic understanding of complex problems /www.inspiritai.com/blogs/ai-blog/what-is-mit-known-for

Vedic science encourages the pursuit of knowledge through direct experience, where meditation plays a key role in enhancing cognitive abilities and intuition. This approach leads to a more profound and holistic understanding of the world around us. This unique knowledge has the power to transform not only our surroundings but the entire world. Dr. Nader explains that true power comes from alignment with natural law and inner wisdom. By developing self-awareness and inner stability, we can harness the power to positively influence our lives and achieve our goals with greater ease and effectiveness. This inner strength allows us to face life's challenges with resilience and clarity, rather than being bogged down by external changes. By correctly interpreting understanding and applying these principles, derived from Vedic wisdom and supported by scientific research, Dr. Nadar offers a complete holistic approach to achieving a more satisfying and balanced life. He advocates that through inner growth and self-awareness, one can achieve lasting happiness, love, wisdom, intelligence, and power, ultimately reaching our full potential. You are in a position to turn your Sankalpa into Siddhi. All our traditional texts from Vedas, Upnishad to Gita emphasize the importance of Sankalpa. Strength lies in the power of your Sankalpa (intention). If your Sankalpa is strong you can achieve everything. Sankalpa has a strong and pure intention. It is strongly connected with our consciousness and making a wish for something that you long for in your mind realizing the fact that we are a part of the divine.[1]

Whatever we accomplish in life is a result of your Sankalpa. If you think of going to the temple or writing a book, it's all due to Sankalpa. The biggest reason for our failure is that we have made Sankalpa from our weak minds. We can make our minds strong through practices like TM which will not only change us but have the power to transform the whole world. .Unfortunately we are not using the immense mind power that has been provided to us by the all-mighty. Our traditional knowledge says that mind power is the greatest gift by nature to mankind.

The meditation process expands the conscious mind and connects it with creative intelligence. During Transcendental Meditation, practitioners sit comfortably with closed eyes, receive personal instruction, and experience a state of profound peace and awareness in which there are no thoughts but consciousness. In the realm of human experience, various factors shape individual and collective behavior, as well as influence social dynamics, health outcomes, and the broader environment. Across cultures and throughout history, transcendental states achieved through meditation have been described. Methods for achieving transcendental states such as Transcendental Meditation vary, but those who experience them describe a uniform, unmanifested state of unitary consciousness (11-14). Transcendental Meditation is characterized by its

1. Sankalpa is a deep, heartfelt commitment to achieving one's highest aspirations
   5 Easy Steps to Create a Meaningful Sankalpa (wefreespirits.com)

simplicity and effectiveness, making it accessible to people of various backgrounds. Transcendental states are challenging to study because they differ from the content of typical subjective experience. Various states are experienced as a continuum of awareness despite the absence of sensory or cognitive perception. Furthermore, transcendental experiences differ from typical experiences that are marked by content, such as external objects, internal thoughts, emotions, sensations, and the experiencer's perspective. In transcendental meditation, experiences are brought to subtle states, whereby they are "awake in full awareness of oneself without any experience of an object". Hence, it is difficult to assess when participants are experiencing transcendental states, as by definition there is no personal experiencer side that can evaluate or indicate the onset of the experience. The lack of clear or consistent operational definitions for the clinical benefits experienced and the underlying mechanisms make it challenging to study (15).

Building a bridge between ancient wisdom and modern science is the most important step in establishing the superiority of the Indian knowledge tradition.[1] Vedic science and modern science represent two different but complementary approaches to understanding the nature of reality. Vedic science, rooted in ancient Indian wisdom traditions, places special focus on exploring the inner dimensions of consciousness and life. It is founded on the bedrock of the teachings of the Vedas, which offer profound insights into the interconnectedness of all life and the underlying unity of existence. Techniques such as Transcendental Meditation (TM) are central to Vedic science, which paves the way for individuals to experience higher states of consciousness, reduce stress, and promote inner peace. This approach to knowledge is holistic, integrating mind, body, and spirit, and aims to achieve personal and social harmony. Modern science, on the other hand, relies on empirical methods and experimental evidence to explore and understand the physical world. It highlights observation, experimentation, and the formulation of theories to explain natural phenomena. Modern science has made remarkable progress in various fields such as physics, biology, and technology, not only transforming our understanding of the universe but also improving the quality of life through technological innovations. Despite their differences, Vedic science and modern science complement each other. By integrating the introspective and holistic insights of Vedic science with the empirical rigor of modern science, we can gain a more comprehensive understanding of life and address complex global challenges in innovative ways. This synthesis has tremendous potential to enhance human well-being and promote sustainable development. While Dr. Nadar's exploration of consciousness and neuroscience is based on a solid theoretical understanding of the nature of life as

1. Integrating the Indigenous knowledge into modern science and addressing the gaps in the traditional knowledge for science-policy assessments should be set as a high priority. www.sciencedirect.com/science/article/abs/pii/S0016328722001835

described by Maharishi Mahesh Yogi, it also stands the test of modern science and is further supported by experimental evidence published in prestigious journals. Studies have shown that groups practicing Transcendental Meditation (TM) and the TM-Sidhi program have shown a remarkable reduction in crime, hospitalizations, and conflict. Maharishi identified the basis of war and terrorism as 'tension in the collective consciousness', which is the opposite of harmony. He said that when tension is allowed to build up in society, it reaches a point where people want to harm each other and violence erupts everywhere. The solution lies in creating a violence-neutralizing effect beyond the limits of historical imperatives. A dedicated group of scientists representing various disciplines gathered from around the world have worked hard to describe this mechanism and there are more than 20 studies demonstrating the efficacy of this approach. Rapidly changing environment and rapidly changing economic, political, and cultural changes on a global scale are affecting the world of indigenous people and their livelihoods. Integrating traditional knowledge systems (TKS) and reconnecting with self, community, and society with modern approaches is not an easy task. India's New Education Policy -2020 has a special focus on traditional knowledge because when we weave together the two threads of traditional knowledge and modern science, we ultimately create a stronger and more resilient fabric. All forms of living things provide important knowledge about the interconnectedness of life whose amazing potential is also understood by today's science. Indigenous knowledge provides an alternative or complementary approach to Western mainstream scientific methods. A systematic and scientific understanding of TKS requires an interdisciplinary approach. This approach can address the livelihood security of people with limited financial means, protect biodiversity, and open up new paradigms of science and technology (S&T) thinking and practice, thus achieving the United Nations Sustainable Development Goals (SDGs). A lot of attention is given to various approaches that connect traditional knowledge with modern science. We can achieve all seventeen Sustainable Development Goals from the invaluable heritage of traditional knowledge. Integrating indigenous knowledge into modern science and addressing gaps in traditional knowledge for science-policy assessments should be set as a high priority and Dr. Tony Nader is doing exactly that. The transcendental realm of pure consciousness, which supports the reduction of individual stress and the development of higher levels of consciousness, also works at the societal level when large groups gather and practice these techniques. These studies have demonstrated that the reduction of social stress through the collective practice of TM and TM-Sidhi techniques is reliable and verifiable. The solution to social issues goes beyond mere dialogue, but also supports them by promoting a state of harmony and peace within the collective consciousness. India’s Vision for Global Harmony: A Confluence of Tradition and Innovation Dr. Tony Nader envisions a world where ancient Vedic wisdom and modern scientific advances converge

to create global peace and security. He sees India as a central player in this transformational journey, using its profound practices such as Transcendental Meditation (TM) and TM-Sidhi programs to lead a global movement for peacebuilding. Studies from the world's prestigious universities provide compelling evidence of TM's positive impact on social harmony, leading to a significant reduction in terrorism, violent deaths, and conflict. Dr. Nadar emphasizes the Maharishi Effect, which holds that a critical mass of individuals practicing TM and TM-Sidhi can create a positive, consistent effect throughout society. This effect has been demonstrated in numerous studies, including a significant reduction in violent crime during a national demonstration project in Washington DC in 1993. The integration of Vedic wisdom with modern scientific research highlights India's unique role in promoting both inner and outer peace. Central to Dr. Nader's mission is the Global Union of Scientists for Peace (GUSP), which advocates for the application of India's Vedic technology to reduce global anxiety and conflict. Dr. Nader and his colleagues across universities around the world are presenting scientific evidence to the world that shows that TM practice promotes inner peace, social cohesion, and empathy on a global scale. Scientific studies published in leading peer-reviewed journals confirm the positive impact of TM on stress reduction, improved mental health, and increased social connectedness, demonstrating significant reductions in social tension, crime, and violence through the Maharishi Effect. Dr. Nader's vision culminated in a historic gathering near Hyderabad where 10,000 experts from over a hundred countries gathered to practice TM and TM-Sidhi programs. Dr. Nader and his colleagues aim to create a powerful convergence of collective consciousness that creates a coherent effect of peace throughout the troubled world. Dr. Nader believes that by embracing India's eternal wisdom and integrating it with modern scientific advancements, we can create a world where mental health and peace are tangible realities. A Vision for Global Change In a fast-paced world defined by technological advancements and constant stresses, the importance of holistic practices like yoga and meditation cannot be underestimated. Beyond their historical roots, these practices have become integral parts of global health, bridging the gap between physical education and traditional sports. This section explores the profound impact of yoga and meditation globally, explaining how they transcend cultural boundaries, enhance physical health, and promote a harmonious balance between mind, body, and spirit. Meditation: A Global Phenomenon The ancient practices of yoga and meditation, originating from India, have transcended geographical and cultural boundaries to gain global recognition. With India's relentless efforts under Prime Minister Modi, people across the world who were looking for a holistic approach to health are now understanding the importance of yoga and meditation. TM has become more popular than ever before. People have begun to understand that these practices offer a unique blend of physical activity, mental relaxation, and spiritual connection that not only resonates with individuals from all

walks of life but is also being widely disseminated. Traditional approaches to physical education often focus solely on physical fitness and athleticism, but today yoga and meditation have been adopted by the world as a surefire way to heal both body and mind. In recent years, the integration of yoga and meditation into physical education programs has completely changed the way we view health. Meditation and yoga, with their various asanas and postures, contribute to flexibility, strength, and balance. Meditation complements these physical benefits by improving focus, reducing stress, and promoting emotional well-being. Research has shown that incorporating yoga and meditation into physical education classes not only improves the physical health of students but also increases their mental resilience. Today, there is a need for us to stay healthy both in body and mind. This holistic approach addresses the growing concern over rising stress levels among students and equips them with tools to manage their emotions, thereby improving overall academic performance. Cultural Adaptation and Global Harmony The ability of yoga and meditation to adapt to different cultural situations while maintaining their core principles is an amazing aspect of their global influence. These customs blend with regional customs as they travel around the world, resulting in a harmonious fusion of traditional wisdom and contemporary insights. Millions of TM practitioners strongly believe that meditation creates a sense of connection and interconnectedness. This awareness and sense of common experience transcends national boundaries, linguistic barriers, and social-rural differences.

Transcends cultural divides. The pursuit of well-being and self-discovery unites people of all origins, bridges cultural divides, and advances an inclusive society. Dr. Tony Nader's Vision: Ushering in an Era of Peace and Prosperity Dr. Tony Nader's vision for Transcendental Meditation (TM) goes beyond individual well-being; it aims to create a global wave of peace and prosperity. Central to his vision is the establishment of a permanent group of 10,000 TM practitioners to achieve global peace and prosperity. This group has already made a significant difference, demonstrating how collective meditation can reduce social tensions and increase harmony. Efforts are ongoing to ensure that these benefits are sustained, illustrating the power of meditation to bring lasting positive change to society. Dr. Nader’s commitment to exploring consciousness and neuroscience, combined with his practical approach to solving global challenges, establishes him as a leading figure in the pursuit of a more peaceful, enlightened, and harmonious world. His work emphasizes that the practice of TM is not just an individual journey, but a collective effort that can uplift communities and nations.

**The Economic Impact of Meditation**

Beyond simply improving one’s well-being, meditation has a major impact on the economy. The wellness sector has experienced rapid expansion, including yoga studios, meditation retreats, and related merchandise. Dr. Nader highlights that TM has

improved local economies, facilitated the creation of numerous job opportunities, and promoted sustainable development. Transcendental meditation (TM) has positively affected the immune system and genetics, while mindfulness has demonstrated an improved anti-inflammatory response and healthy aging through appropriate telomerase regulation. Additionally, both practices have shown fruitful benefits for physical and mental health. In monetary terms, meditation significantly contributes by helping us mitigate various health issues, leading to reduced healthcare costs.International tourism has seen significant growth as the demand for yoga and meditation experiences grows (17-18). Travelers seek destinations that offer authentic and immersive wellness experiences, benefit local communities, and promote cultural exchange. This trend highlights how the principles of meditation can enhance economic growth while increasing global understanding and collaboration. While pursuing education and research, Dr. Nader conducted important clinical research at MIT. His research included neurochemistry, neuroendocrinology, and the relationship between diet, age, behavior, mood, and hormonal activity. At the same time, Dr. Nader began working on Maharishi's Science of Consciousness, integrating modern research with wisdom from the ancient Vedic tradition. This field, known as Maharishi Vedic Science, deepens our understanding of the scientific significance of the Vedas. Dr. Nader's scholarship has shown precise connections between Vedic literature and aspects of human physiology, anatomy, cell biology, and DNA.

**Leadership and Global Influence**

Dr. Tony Nader exemplifies Vedic leadership. This holistic approach integrates the totality of knowledge and the laws of nature to guide error-free action and promote a sustainable, joyful world. Deep-rooted in full self-knowledge and the development of consciousness, Vedic leadership enables leaders to make wise decisions in perfect harmony with the natural order. Central to this philosophy is the Vedic principle of Vasudhaiva Kutumbakam (Entire World is a family), which emphasizes harmony and unity within the global community. Recognized for his profound contributions, Dr. Nader was conferred the title of Maharaja Adhiraja Rajaram (MARR) by Maharishi Mahesh Yogi. As the first sovereign ruler of the Global Country of World Peace (GCWP), he dedicates himself to promoting world peace and personal enlightenment through Transcendental Meditation (TM) and its advanced programs in more than 100 countries.[1] Under his able guidance, the Global Country of World Peace operates

1. Starting on 29 December and running for two weeks, 10,000 advanced experts in the Transcendental Meditation (TM) and TM-Sidhi programs from 119 countries are gathering at Kanha Shanti Vanam outside Hyderabad to demonstrate what the scientists called “the proven consciousness-based approach to creating world peace 10,000 To Create World Peace Assembling In Hyderabad (bwwellbeingworld.com)

as a non-profit, non-political, and non-religious organization emphasizing the universal reach and transformational power of TM. Dr. Nader's leadership transcends organizational boundaries, integrating the science of consciousness with modern research to expand our understanding of human potential. The best part about him is that he is globally accepted by all the leading spiritual organizations of the world and many of them collectively work with him to establish world peace and prosperity. His vision underlines that every individual can achieve perfection and live their fullest life through these teachings, making a profound personal and societal impact in the 21st century and beyond. His life's work serves as a beacon of hope and inspiration for global harmony and personal enlightenment.

## Conclusion

To summarize under the able and research-based stewardship of Dr Tony Nader, Transcendental Meditation (TM) has demonstrated significant benefits across various health domains. The best part is that he has built a huge network of great scholars from Banaras Hindu University to some of the leading schools in the USA and Europe. TM is particularly effective in reducing chronic stress, anxiety, and insomnia, offering a natural state of rest that is deeper and more revitalizing than ordinary relaxation. It also aids in managing conditions like autism, diabetes, and neurological disorders by enhancing focus, creativity, and overall well-being. Additionally, TM helps lower blood pressure, protect against heart disease, and alleviate symptoms of PTSD and substance use disorders, while providing profound spiritual benefits.[1] Tony Nader's practical and scientific approach underscores the holistic advantages of TM, making it a powerful tool for mental and physical health improvement. Over the past six decades, TM has been adopted by over six million people worldwide, underscoring its universal appeal and efficacy. The teaching of TM involves a structured seven-step curriculum administered by qualified instructors who undergo rigorous and systematic training. This ensures consistent and high-quality instruction globally, the integrity of the practice, and the sustainability of the practice for practitioners.

It maintains its transformative potential. The scientific study of Transcendental Meditation spans over seven hundred studies conducted at 250 independent universities and research institutes in more than thirty-three countries. These studies have been carefully cataloged and analyzed, yielding compelling evidence of TM's benefits across various dimensions of human health and behavior. Published in leading peer-reviewed journals, research highlights improvements in mental health, clarity, stress reduction, physical health, and social well-being. TM’s strong scientific validation underscores its status as not just a meditation practice, but a specific and comprehensive tool for

1. “Meditation is a journey to the self. Knowing the self is the destination of the journey.” https://www.indiatm.org/post/maharishi-mahesh-yogis-teachings

improving overall quality of life (18-25). Its simplicity, coupled with profound effects documented through rigorous research, makes TM a vital practice in global efforts toward individual and collective well-being.

"When you transcend all superficial levels of thought and limited experience, a completely different level of reality opens up to you. This changes everything for you. You are still aware of your superficial self, but you find that you have much more peace, truth, depth, and understanding." - Dr. Tony Nader

## References


1. Indigenous knowledge. http://www.worldbank.org/afr/ ik/what.htm.
2. Berkes, F. Traditional ecological knowledge in perspective. In Traditional Ecological Knowledge: Concepts and Cases, edited by J.T. Inglis. International Program on Traditional Ecological Knowledge and International Development Research Centre, Ottawa, 1993. pp. 1-9.
3. Shapiro, D.H. (1982) The American Journal of Psychology, 139(3), 267–274
4. Shapiro, Shauna, Jajri, Hurriya, Sousa, Sarah (2016) Meditation and Positive Psychology
5. Boa, Kenneth (1990). Cults, World Religions, and the Occult. Wheaton, Illinois: Victor Bucks.
6. Olson, Carl (2007) Rutgers University Press, The Many Colors of Hinduism, p. 338
7. Humes, Cynthia (2005) State University of New York Press, Gurus in America, p. 57 Lewis, James (2001) Prometheus Books, Odd Gods, 99 230-233 .
8. Maharishi. (1969). Maharishi Mahesh Yogi on the Bhagavad Gita. New York: Penguin.
9. Maharishi. (1994). Celebrating wholeness in education. Vlodrop: Maharishi Vedic University Press
10. Drake, Patricia Hemingway (1975) David McKay Company, Transcendental Meditation Primer, p. XVII 7.Gaylord C, Orme-Johnson D, Travis F: Int J Neurosci. 1989, 46(1–2):77-86.
11. Alexander C, Langer E, Newman R, Chandler H, Davis J: J Pers Soc Psychol. 1989, 57 (6): 950-964
12. Williams K, Kolar M, Reiger B: Am J Health Promot. 2001, 15 (6): 422-432. Brooks J, Scarano T: Journal of Behavior and Development. 1986, 64: 212-215
13. Alexander C, Geldarlos P, Rainforth M: Journal of Social Behavior and Personality. 1991, 6 (5): 189-247.
14. Orme-Johnson, D. W., & Barnes, V. A. (2014). Journal of Alternative and Complementary Medicine, 20(5), 330-341

15. Kanter, P. H., & Ernst, E. (2003). Cognitive Brain Research, 17(3), 411-417.
16. Orme-Johnson DW, Barnes VA. Altern Complement Med. 2014;20(5):330-341.
17. Gard T, Hölzel BK, Lazar SW. Ann N Y Acad Sci. 2014;1307:89–103.
18. Alexander R, Aragón OR, Bookwala J, et al. Neurosci Biobehav Rev. 2021;121:220–249.
19. Stress, the brain and student life: A researcher's thoughts (part-1) | Transcendental Meditation® Blog (tm.org)
20. Transcendental Meditation: Benefits, how-to, resources and more (healthline.com)
21. Varma N, Rastogi S, Chia YC, Siddiqui S, Turana Y, Cheng HM, Sogunuru GP, Tay JC, Teo BW, Wang TD, Tsoi KKF, Kario K. J Clin Hypertens (Greenwich). 2021 Jul;23(7):1275-1283.
22. Araujo RV, Fernandes AFC, Neri IS, Andrade EMLR, Nogueira LT, Azevedo FHC. Rev Esc Enfirm U.S.P. 2019 Dec;2;53:e03529.
23. Haider T., Dai C.L., Sharma M. Adv Mind Body Med. 2021 Winter; 35(1):16-24.
23. Grisinski J., Schwartz R.P., Fishman M.J., Nordeck C.D., Grant J., Niditch S., Rothenberg S., O'Grady K.E. J. Subst Abuse Treat. 2018 Apr; 87:23-30.
25. Movahed AH, Sabouhi F, Mohammadpourhodaki R, Mahdavi S, Goudarzian S, Amarian M, Mohtashami M, Kheri M, Imeni M. Examining the effects of transcendental meditation on the spiritual well-being of adults with type 2 diabetes: A clinical trial study.

❖ ❖ ❖

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

( केन्द्रीयविश्वविद्यालयः )

नवदेहली-110016